मृच्छकटिक

शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन

डॉ० रामयान द्विवेदी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशकीय

पाँचवी शती के अन्त और छठी शती के प्रारम्भ में जब गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था और हर्ष का उदय हो रहा था, मृच्छकटिक की रचना हुई। गुप्त युग इतिहास का स्वर्ण युग था। उस समय सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में समृद्धिपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। कला, साहित्य और संस्कृति सभी का विकास हो रहा था, तभी गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ और हर्ष युग का उदय हुआ। दो साम्राज्यों के संधिकाल में शूद्रक ने मृच्छकटिक ऐसे पूर्ण एवं समृद्ध नाटक की रचना की जिसमें उस युग का समाज, राजनीति और साहित्य भलीभाँति प्रतिबिम्बित होता है।

पूर्वप्रचलित शास्त्रीय मान्यताओं के विपरीत नाटककार ने इस नाटक में चोरी, द्यूत आदि यथार्थवादी दृश्यों का समावेश कर नई परम्परा आरम्भ की।

आज की परिस्थितियों में यह नाटक उस युग के समान ही प्रासंगिक है। ब्राह्मण चारुदत्त द्वारा गणिका (वेश्या-बेटी) वसन्तसेना को गृहिणी के रूप में अपना कर सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध चुनौती देना तथा शकार द्वारा राजनीतिक षड्यन्त्र से वसन्तसेना और चारुदत्त के प्रेम-सम्बन्ध में अवरोध उत्पन्न करना, राजनीतिक कुचक्र एवं गम्भीर दूषित क्रिया के अनुपम उदाहरण हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर आधारित यह नाटक त्याग के प्रति आकर्षण और भोगासक्ति में विरक्ति प्रकट करते हुए अज्ञान के अन्धकार को दूर कर ज्ञान के प्रकाश की ओर प्रवृत्त करता है।

लेखक ने इस समृद्ध नाटक के शास्त्रीय, सामाजिक तथा राजनीतिक पक्षों का विस्तृत अध्ययन कर नाटक तथा नाट्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण कृति प्रस्तुत की है।

दिवंगता अर्धांगिनी

साध्वी श्रीमती शकुन्तलादेवी की

मधुर स्मृति के साथ

जीवनसंगिनी श्रीमती उर्मिला देवी को

सप्रेम समर्पित

जिनसे पारिवारिक विषम परिस्थितियों में भी
ग्रंथपूर्ति हेतु सतत प्रेरणा मिलती रही ।

— [illegible]

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि,
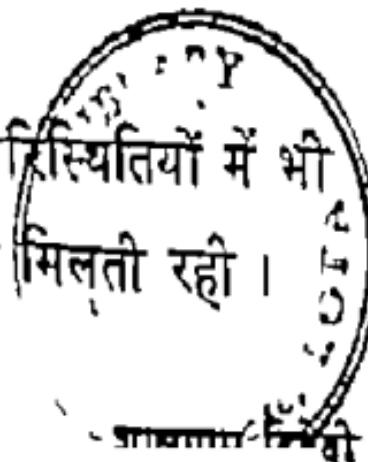
मतानि तान्येव तु शोधितानि ।

पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु

मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

आचार्य अभिनव गुप्त

पुरोवाक्

बचपन की याद आज भी प्रिय लगती है। तब कहानी सुनने में कितना आनन्द आता था। फिर माता-पिता से अभिनययुक्त कहानियाँ सुनने में तो विशेष रुचि होती थी। अध्ययन काल में यही रुचि अभिरुचि में परिणत हो गयी। परिणामतः इस बढ़ती हुई अभिरुचि ने मुझे धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं अभिनय-सम्बन्धी साहित्य पढ़ने की ओर प्रवृत्त किया। इसी से अध्ययन काल में आचार्य और एम० ए० की परीक्षाओं के समय संस्कृत नाट्य-साहित्य के अध्ययन की ओर इच्छा बढ़ती गई। इस सन्दर्भ में मृच्छकटिक के कला दृष्टि-सौन्दर्य की अनुभूति से प्रभावित होकर मैंने इसका जिज्ञासापूर्ण अनुशीलन किया और फिर वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक प्रणाली से अनुसन्धान कर इसके आलोचनात्मक अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुआ। मृच्छकटिक का शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से विवेचन तथा शूद्रक के समय का निर्धारण प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता है।

इस दिशा में आदरणीय डा० राममूर्ति शर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से प्राप्त प्रेरणा के परिणामस्वरूप उनके निर्देशन में अपने विचारों को साकार करने में मुझे सफलता मिली। एतदर्थ मैं उनसे उपकृत हूँ, अपने पूर्ववर्ती भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का भी कृतज्ञ हूँ जिनकी कृतियों से कुछ संकेत प्राप्त हुए।

अपने विभागीय अधिकारियों का मैं हृदय से आभारी हूँ जिनका शुभाशीर्वाद सर्वदा मेरे लिए सम्बल रहा। डा० गोविन्दचरण त्रिगुणायत, श्री गयाचरण दीन, स्व० श्री ब्रह्मानन्द साहित्याचार्य तथा डाक्टर बी० पी० बाजपेयी के प्रोत्साहन के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। साथ ही डा० रामसागर त्रिपाठी डा० श्रीनिवास मिश्र, डा० रघुवीर शास्त्री एवं श्री रामाधार त्रिपाठी 'प्रवासी' के सहयोग के लिए भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इस दिशा में सुश्री श्रीमती अमृता पाठक प्रवक्ता, संस्कृत-हिन्दी, राजकीय बालिका इण्टर कालेज का योगदान अत्यन्त सराहनीय है जिन्होंने टङ्कण की सुविधा हेतु प्रतिलिपि तैयार की।

अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ पुस्तकालय, दिल्ली, केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग पुस्तकालय, जनपथ, नई दिल्ली एवं के० बी० के० कालेज पुस्तकालय,

मुरादाबाद के सहयोगियों का भी मैं अनुगृहीत हूँ जिन्होंने सम्बन्धित पुस्तकों के अध्ययन की सुविधा प्रदान की। पुस्तक के सुविख्यात प्रकाशक संस्कृत विद्यानुरागी श्री पुरुषोत्तमदास मोदी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिनकी कृपा से पुस्तक यथा समय प्रकाशित हो सकी।

इस सम्बन्ध में राज्य सरकार उत्तर प्रदेश को भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिसने पुस्तक का मूल्यांकन उच्चकोटि की पुस्तक प्रकाशन योजना के अन्तर्गत करते हुए इसके प्रकाशनार्थ पाँच हजार रुपये की धनराशि अनुदान के रूप में स्वीकृत की।

अन्त में सम्बन्धित अधिकारियों के सहयोग के लिए धन्यवाद देते हुए आशा करता हूँ कि यह कृति सहृदय साहित्य प्रेमियों के रसास्वादन में वृद्धि करेगी।

अलीगढ़   शालग्राम द्विवेदी

भूमिका

संस्कृत भाषा का नाट्य-साहित्य भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि है। भारतीय लोकमानस, लोकधर्म लोकवार्ता एवं जातीय प्राण का जितना भव्य अनुपमेय प्रतिबिम्ब संस्कृत नाटकों में परिव्याप्त है उतना साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं। भारतीय जन-जीवन की अपरिमित जीवनशक्ति, साहस, सांस्कृतिक एवं सामाजिक मान्यताएं विश्वास, परम्पराएँ, संस्कार, अनुराग, राग-द्वेष, आचार-विचार, प्रथाएँ, वेशभूषा, गीत-गाथाएँ, गुण-दोष आदि संस्कृत रूपक साहित्य में जितने सत्य, शिव और सुन्दर रूप में अवतीर्ण हुए हैं उतने अन्यत्र नहीं। अतः इसे संस्कृत नाटककारों के नाट्यशिल्प का अनुपम चमत्कार ही कहना चाहिए। विश्व साहित्य में संस्कृत नाटकों को जो गौरव प्राप्त हुआ है उसका श्रेय महाकवि कालिदास, भवभूति तथा शूद्रक जैसे क्रान्तदर्शी नाटककारों को ही है जिनकी अमर रचनाएँ अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित तथा मृच्छकटिक आज भी अद्वितीय हैं। फिर भी अपने कथ्य, कथाशिल्प, चरित्रचित्रण, रसपरिपाक तथा अपने युग के सामाजिक और राज-नैतिक जीवन की विषमताओं पर तीक्ष्ण प्रहार करने वाले यथार्थपरक सविचारात्मक चित्रण के कारण शूद्रक का मृच्छकटिक प्रकरण संस्कृत नाट्य-साहित्य की क्रान्तिकारी रचना है। परम्परागत सभी पिटी-पिटी मर्यादाओं और व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करते हुए रचनाकार ने इसे नूतन नाट्य रूप प्रदान किया है। जनपदकल्याण की यह सुन्दर कथा संस्कृत नाट्य तथा रंगमंच का गौरव है। इसे कोरी अभिजात प्रेरणा से प्रसूत दरबारी मनोरंजन की परि-निष्ठित कृति कहना वस्तुतः कला का अपमान ही होगा।

वास्तव में मृच्छकटिककार ने अपने युग में विद्यमान यथास्थिति से, चाहे वह नाट्यशास्त्रीय, सामाजिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कहीं भी क्यों न हो, आदर्श के नाम पर पूर्ण समझौता नहीं किया है। परिणाम-स्वरूप यथार्थवाद की स्थापना का प्रबल आग्रह और अनुरोध मृच्छकटिक की अपनी विशेषता है। नाट्यशास्त्रीय और रंगमंचीय परम्पराओं के बन्धनों में अपने नाटक को जकड़ देना नाटककार शूद्रक को अभिप्रेत नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने उदार, मानवीय, प्रगतिपरक तथा साहसपूर्ण दृष्टिकोण के अनुरूप

उसे नूतन प्रवृत्तियों और मौलिक उद्भावनाओं से अनुप्राणित किया है। इसके युक्तियुक्त विवेचन का प्रयत्न करते हुए इस नाटक की रमणीयता का उन्मीलन करने का डा० शालग्राम द्विवेदी ने सफल प्रयास किया है।

शूद्रक का प्रमुख लक्ष्य समाज की विविध मानसिक विकृतियों का निराकरण करना है। दारिद्र्य या अभावग्रस्त जीवन में करुणा की अभिव्यक्ति, सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों को चारित्रिक दृष्टि से ऊपर उठाना, प्रेम सम्बन्धों में धनी और निर्धन के बीच की खाई को पाटना, वर्ण व्यवस्था के कठोर बन्धनों को शिथिल करके सामाजिक एकता की स्थापना करना, राजनीतिक क्षेत्र में अत्याचार और अनाचार के आगे आत्म-समर्पण न करके पौरुष और बुद्धिबल से सफलता के लिए संघर्ष करना और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति होने तक बढ़ते जाना आदि उदार उद्देश्यों के विषय में विविध समस्याओं और समाधानों का प्रामाणिक विश्लेषण प्रस्तुत अध्ययन में यथास्थान किया गया है।

यद्यपि नाटककार ने सम्भवतः आत्मप्रख्यापन के दोष का संवरण करते हुए अपना पूर्ण परिचय नहीं दिया है फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में उसके स्थिति-काल तथा चरित्र आदि के विषय में प्राप्य अन्तःसाक्ष्यों और बहिःसाक्ष्यों के आधार पर मौलिक विवेचन किया गया है। साथ ही मृच्छकटिक के कथानक के रहस्यपूर्ण पक्षों का सांस्कृतिक विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। उदाहरण के लिए 'मिट्टी की गाड़ी' (मृत् + शकटिक) के नाम से शरीर या भौतिक जीवन की ओर संकेत है। मिट्टी का पुतला मानव स्वर्णिम आशाओं से इसमें उलझता हुआ दिखाया गया है। ममतामयी नायिका के स्वर्णाभूषणों के त्याग से मिट्टी की गाड़ी स्वर्णमयी बन जाती है। इस प्रकार त्याग में ही अनुराग तथा अनासक्ति में ही आसक्ति मृच्छकटिककार का यथार्थ सन्देश है। इस प्रकार नाटक की शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधारा के अवगाहन से प्राप्त मौलिक चिन्तन-रत्नों की प्रस्तुति इस अध्ययन की वास्तविक उपलब्धियाँ हैं।

मृच्छकटिक के मौलिक विवेचन द्वारा संस्कृत रूपकों में उसके वैशिष्ट्य का वैज्ञानिक अनुशीलन इस अध्ययन का मूल उद्देश्य रहा है।

अन्त में यह कहते हुए मुझे प्रसन्नता है कि मेरी देखरेख में साहित्यशास्त्र मर्मज्ञ विद्वान् डा० द्विवेदी द्वारा सम्पादित प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में 'मृच्छकटिक : शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन' सामान्य जिज्ञासुओं एवं

अध्येताओं के लिए एक उपयोगी उपहार सिद्ध होगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह ग्रन्थ साहित्य जगत् में सर्वथा समादृत होगा। आशा है, भविष्य में विद्या साधना के तपस्वी डा० द्विवेदी इस प्रकार के अन्य ग्रन्थरत्न भी प्रस्तुत करते रहेंगे।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़

राममूर्ति शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्., शास्त्री

सम्मतियाँ

शूद्रक रचित 'मृच्छकटिक' संस्कृत साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। उस युग का भारतीय समाज इस प्रकरण के पृष्ठों में इतने वैभव से उद्घाटित होता है कि देखनेवाले को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। इसके पात्र समाज के निम्नस्तर जीवन्त व्यक्ति हैं जिनके स्वरूप को देखकर आलोचक विस्मृत हो उठता है।

इस प्रसिद्ध प्रकरण की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा डा० शालग्राम द्विवेदी ने की है। समीक्षा एकांगी न होकर सर्वांगीण है। 'मृच्छकटिक' की यह समीक्षा बहुत ही उपादेय तथा आदरणीय है। विभिन्न दृष्टियों से ऐसे ग्रन्थ की यथार्थ में उपयोगिता है।

भूतपूर्व निदेशक, बलदेव उपाध्याय
शोध-संस्थान,
संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी

'मृच्छकटिक' संस्कृत नाट्यसाहित्य में शूद्रक की अपूर्व देन है इसका सृजन सौन्दर्य एवं कला वैशिष्ट्य वस्तुतः प्रभावशाली है। डा० शालग्राम द्विवेदी के शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन से इसका स्वरूप और भी निखरा है।

राज्यतन्त्र के विरोध, अधिकारियों की मनमानी, सामाजिक विषमता, ऊँच-नीच के भेदभाव, धनी-निर्धन की खाई तथा प्रणयबन्धन के अवरोध ने जिस भाँति तात्कालिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति को जन्म दिया; इसके निदर्शन के साथ इसमें पूर्व प्रचलित शास्त्रीय परम्परा का नया रूप भी प्रस्तुत है। यथार्थवाद की स्थापना का प्रबल आग्रह एवं अनुरोध इसकी विशेषता है।

वर्तमान सन्दर्भ में भी ग्रन्थ लोकोपादेयता और प्रासंगिकता है। डा० द्विवेदी

इस अभिनन्दनीय कृति के लिए बधाई के पात्र हैं। आशा है साहित्य-जगत में इस ग्रन्थ का स्वागत तो होगा ही साथ ही संस्कृत वाङ्मय में इस प्रकार के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ प्रेरणास्रोत भी बनेगा।

कुलपति,   हरवंशलाल शर्मा
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी

मृच्छकटिक पर आधारित 'मृच्छकटिक सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन' शोध-प्रबन्ध अपनी विधा में एक सुन्दर कृति है। डा० रामाश्रम द्विवेदी ने इसमें मृच्छकटिक प्रकरण का गम्भीर आलोचनात्मक विवेचन किया है। निःसन्देह मृच्छकटिक अपने समय की अनुपम रचना है। संस्कृत नाटकों में यह प्रथम रूपक है जिसमें तत्कालीन प्राचीन राज्यतन्त्र परम्परा के विरुद्ध प्रजातन्त्र के अंकुर परिलक्षित होते हैं।

इस महत्व अध्ययन में लेखक ने प्रकरण के अन्तर्गत सामाजिक उत्थान के साथ ही राजनीतिक विषम परिस्थितियों के बीच जातिगत ऊँच-नीच के भेद-भाव को समाप्त कर आदर्श प्रेम परिणय की ओर अधिक उभारने का प्रयत्न किया है। वर्तमान परिस्थितियों में यह सर्वथा सामयिक विचारधारा के अनुरूप है। भारतीय विचार से भी यह अध्ययन वैशिष्ट्य का द्योतक है। मृच्छकटिक की इन सभी विशेषताओं को लेकर डा० द्विवेदी का यह विद्वतापूर्ण प्रयास सराहनीय है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,   राममुरेश त्रिपाठी
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

मृच्छकटिक एक परिचय

द्वितीय अध्याय

मृच्छकटिक का शास्त्रीय विवेचन

तृतीय अध्याय

मृच्छकटिक : सामाजिक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

मृच्छकटिक काल का सामाजिक जीवन

पञ्चम अध्याय

मृच्छकटिक की विशिष्ट सामाजिक उपलब्धियाँ

षष्ठ अध्याय

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ

सप्तम अध्याय

शूद्रक एवं मृच्छकटिक

संक्षिप्त समीक्षा

परिशिष्ट १

मृच्छकटिक की भाषा

परिशिष्ट २

परिशिष्ट ३

प्रथम अध्याय

मृच्छकटिक : एक परिचय

मृच्छकटिक से पूर्व भारतीय नाट्य साहित्य

मानव स्वभाव अनुकरणशील है। अनुकरण की यह प्रवृत्ति न केवल मानव में वरन् अन्य जीवों में भी पाई जाती है। इसका एकमात्र उद्देश्य आनन्द प्राप्ति एवं मनोरंजन है। धनञ्जय की नाट्य तथा रूपक की परिभाषाएं 'अवस्थानुकृति-र्नाट्यम्' एवं 'रूपकं तत्समारोपाद्' की परिपोषक हैं। इस भाँति नाटक का एक मात्र लक्ष्य मानव तथा अन्य जीवों की प्रकृति का चित्रण है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि नाटक के तत्त्वों में दो तत्त्व विशेषरूप से प्रमुख हैं—एक संवाद तथा दूसरा अभिनय। संवाद वाले तत्त्व को हम भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में देख सकते हैं। इस भाँति नाटक के बीज वेदों में प्राप्त हैं। ऋग्वेद में लगभग १५ सूक्त ऐसे हैं जिनमें संवाद का तत्त्व पाया जाता है। इनमें निम्न विशेष हैं :—

इन्द्रमरुत् संवाद	१।१६५, १।१७०
विश्वामित्रनदी संवाद	३।३३
पुरूरवाउर्वशी संवाद	१०।९५
यमयमी संवाद	१०।१०

दूसरे संवाद भी उल्लेखनीय हैं जैसे इन्द्र इन्द्राणी तथा वृषाकपि का संवाद १०।८६, अगस्त्य तथा उनकी पत्नी लोपामुद्रा का संवाद १।१७९।

इन संवादों के आधार पर मैक्समूलर ने यह मत प्रकाशित किया था कि इन सूक्तों का पाठ यज्ञ के समय इस ढंग से किया जाता रहा होगा कि अलग-अलग ऋत्विक अलग-अलग पात्र (मरुत या इन्द्र) वाले मन्त्रों (संवादों) का पाठन करते होंगे। प्रोफेसर सिल्वा लेवी ने भी इस मत की पुष्टि की है तथा ऋग्वेद काल में अभिनय की स्थिति मानी है। उनका मत है कि उस काल में देवताओं के रूप में यज्ञादि के समय नाट्याभिनय अवश्य होता होगा।[1]

---

१. दशरूपक धनञ्जय, डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृष्ठ ३, वि० सं०, १९९२ ई०।

ब्रह्माजी के कथनानुसार इन्द्र के ध्वजोत्सव में नाट्यवेद सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ। इस अभिनय में देवों की विजय तथा दैत्यों की पराजय हुई। अतः इन दैत्यों द्वारा विघ्न उपस्थित किये गये जिनसे बचे रहने के लिए इन्द्र ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह की रचना का आदेश दिया। ब्रह्मा ने ऐसी स्थिति में दैत्यों को शान्त करने के लिए कहा कि नाट्यवेद देव और दैत्य दोनों के लिए है और इसमें धर्म, क्रीडा, हास्य और युद्ध आदि सभी विषय ग्राह्य हैं।[1]

वैदिकोत्तर काल में नाट्यशास्त्र एवं नाटकों का विकास-क्रम निरन्तर चलता रहा। रामायण में नट, नाटक, नर्तक, रंग तथा कुशीलव शब्दों का प्रयोग और महाभारत में नट, रंगशाला आदि का प्रयोग इसके साक्षी हैं। धार्मिक उत्सवों पर भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण की सुन्दर लीलाएँ आज भी देखने को मिलती हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी अमृतमन्थन, त्रिपुरदाह, और प्रलम्बवध आदि नाटकों का उल्लेख है। बौद्धों ने भी नाटकों का आश्रय अपने धर्मप्रचार के निमित्त लिया।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में शिलालिन् और कृशाश्व नामक दो नटसूत्र-प्रणेताओं का उल्लेख है। संस्कृत नाटकों का विकास इस प्रकार उस समय तक होना निश्चित है पर आज उस युग के नाटक उपलब्ध नहीं हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने १५० ई० पूर्व के कंसवध और बलिबन्ध नामक दो नाटकों की चर्चा की है। नागपुर की पहाड़ियों में प्राप्त नाट्यशाला को देखते हुए यह निश्चित है कि २०० ई० पूर्व में नाटक रंगमंच पर अभिनीत होने लगे थे।

पर इनसे भी पूर्व भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। जिनकी चर्चा सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में की गई है।[2]

---

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ (१।११४)

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ (१।११५)

अहो नाट्यमिदं सम्यक् त्वया सृष्टं महामते ।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धिविवर्धनम् ॥ (४-१२)

नाट्यशास्त्र : भरत मुनि

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ हर्षचरित : बाणभट्ट

भास के नाटकों में स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण एवं प्रतिमा नाटक विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके पश्चात् महाकवि कालिदास हमारे सामने आते हैं। जिन्हें संस्कृत कवियों में अभिज्ञानशाकुन्तल के कारण सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है। विक्रमोर्वशीयम् इनकी एक प्रशस्त कृति है। इसमें राजा पुरूरवा तथा उर्वशी नामक अप्सरा की प्रणय कथा है। ऋग्वेद में भी इसकी चर्चा है। मालविकाग्निमित्र इनकी एक और सुन्दर कृति है।

इसके पश्चात् बौद्ध नाटककार महाकवि अश्वघोष की चर्चा है इनका शारिपुत्र प्रकरण प्रसिद्ध है। इसमें महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा शारिपुत्र और मौद्गल्यायन नामक दो युवकों के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की रोचक कथा का वर्णन है।

इनका समय प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (१–५० ई०) सामान्यतः समझा गया है।

तत्पश्चात् विशाखदत्त की चर्चा है। इनकी सुप्रसिद्ध कृति मुद्राराक्षस है। इसमें सुन्दर राजनैतिक वर्णन है। इनका समय वराहमिहिर (लगभग ४९० ई०) से पूर्व माना जाता है।

मृच्छकटिक का रचनाकाल

सामयिक महत्त्व—किसी भी कृति की सामयिक उपयोगिता जानना बड़ा आवश्यक है। किस परिस्थिति में उसका निर्माण हुआ होगा यह एक जिज्ञासा का विषय है। रामचरित-मानस और सूरसागर जिस भाँति इस बात के द्योतक हैं कि वह समय भक्तों का युग रहा एवं बिहारी सतसई की शृङ्गारमाला जिस प्रकार इस बात की परिचायिका है कि वह समय शान्ति का प्रतीक तथा राजा एवं प्रजावर्ग में शृङ्गार की रुचि का विषय रहा ठीक उसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित और मुद्राराक्षस भी अपने अपने युग की झलक प्रदर्शित करते हैं। मृच्छकटिक को भी हम इसका अपवाद नहीं मान सकते। इसके कथानक भी इस बात के निर्णायक हैं कि उस समय की सामाजिक स्थितियों से प्रेरित होकर ही लेखक ने ऐसी रचना को प्रस्तुत करने का साहस किया होगा।

निर्माण काल—[1]मृच्छकटिक का समयनिर्धारण करने के तीन मार्ग हैं। एक तो इस ग्रन्थ में कहीं कुछ संकेत हो, दूसरे ग्रन्थकर्त्ता का समय कहीं मालूम हो

---

१. मृच्छकटिक : डॉ० श्री कान्तानाथ शास्त्री तैलंग, मृच्छकटिक समीक्षा, पृ० ८-१०।

जाए, तीसरे आभ्यन्तर अथवा बाह्य प्रमाणों की कसौटी पर इसको परखा जाए। पर न तो इसके सम्बन्ध में कहीं से इसकी निर्माण तिथि का निश्चित पता चल सका है और न दंतकथाओं का ही निर्णय हो सका है। अतः इन दोनों के अभाव में अब तीसरी बात आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रमाणों पर ही अवलम्बित है। विद्वानों के विचार से भास का दरिद्र चारुदत्त मृच्छकटिक की अपेक्षा प्राचीन है। यह भी निश्चित है कि मृच्छकटिक का निर्माण भास के दरिद्र चारुदत्त के आधार पर हुआ है। ऐसा सोच लेने से भास मृच्छकटिक के निर्माता से पूर्ववर्ती हैं। भास का काल कालिदास के काल पर निर्भर है और कालिदास का काल अभी तक संदिग्ध है। कहा यही जाता है कि यह ई०पू० १०० से लेकर ई०अ० १०० के बीच हुए थे। कुछ का कहना है कि ई०पू० १०० से लेकर ई०अ० ४०० में यह हुए। यदि इन्हें ई०पू० १०० में माना जाये तो भास को ई०पू० २०० में मानना ठीक होगा। और यदि इन्हें ई०अ० ४०० में माना जाये तो भास को ई०अ० १०० में मानना ठीक होगा। अतः मृच्छकटिक के निर्माण के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि यह ई०पू०, २०० या ई०अ० १०० में लिखा गया होगा। यह उपरितम सीमा है। इस सम्बन्ध में कई विभिन्न मत हैं।

आचार्य वामन की मान्यता

अलंकार शास्त्र के उद्धरणों के आधार पर वामन ने शूद्रक को एक शासक के रूप में माना है।

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में मृच्छकटिक का उल्लेख है। यह समय ई०अ० ८०० माना जाता है। अतः मृच्छकटिक के निर्माण काल की यह निम्नतम सीमा है।[1]

श्री बलदेव उपाध्याय का अनुमान

उपाध्याय जी के अनुसार दण्डी के काव्यादर्श में मृच्छकटिक का 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद मिलता है अतः उसी के समीप इसकी रचना होनी चाहिए। दण्डी को विद्वान् ई०अ० ७०० में मानते हैं।

डा० देवस्थली का मत

इनका कहना है कि मृच्छकटिक और पंचतंत्र के दो श्लोक तथा एक पंक्ति मिलता है। पंचतंत्र का काल ई०अ० ५०० माना जाता है, अतः इसका निर्माण उसी समय होना संभव है।

---

१. कीथ, टी० आई०, अ० १९०, वामन सू० २४।

वराहमिहिर के आधार पर निर्णय

ज्योतिष शास्त्र के विद्वान् वराहमिहिर ने बृहस्पति को मंगल का मित्र माना है किन्तु मृच्छकटिक नवम अंक में 'अंगारक विरुद्धस्य' इत्यादि श्लोक में बृहस्पति को मंगल का शत्रुग्रह माना गया है अतः वराहमिहिर से पूर्व ऐसा माना जाता रहा होगा। वराहमिहिर का समय ई०स० ५०० माना जाता है। अतः मृच्छकटिक का निर्माण काल ई०स० ५०० से भी पूर्व ठहरता है। कुछ विद्वान् 'अंगारक विरुद्धस्य' का दूसरा अर्थ मानते हैं। उनके अनुसार इस श्लोक का तात्पर्य इतना है कि जिस पुरुष का मंगल ग्रह विरुद्ध है और जिसका बृहस्पति भी क्षीण है उसके पास धूमकेतु की भाँति अन्य ग्रह का उदय हुआ। इस अर्थ में मंगल और बृहस्पति के परस्पर विरोध की कोई बात समझ में नहीं आती। अतः मृच्छकटिक के निर्माण काल में इसको आधार मानना कुछ युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता।

मनुस्मृति के आधार पर निर्णय

मृच्छकटिक के नवम अंक में 'अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्' कहने से कुछ विद्वान् कहते हैं कि यहाँ मनु का नाम है। अतः मृच्छकटिक मनुस्मृति के बाद रचा गया है। मनुस्मृति का समय ई०पू० २०० या १०० प्रतीत होता है। अतः इससे मृच्छकटिक के काल की उपरितम सीमा निश्चित होती है। भास से भी यही अनुमान होता है। अतः दोनों में साम्य होने से कोई विशेष बात ज्ञात नहीं होती।

भाषाविधान एवं नाट्यकला के आधार पर समय निर्धारण

कुछ मनीषियों ने मृच्छकटिक का समय निर्धारण भाषाविधान और नाट्य-कला के आधार पर किया है परन्तु इन कल्पनाओं से कोई नवीन तथ्य सामने नहीं आता क्योंकि इसमें जिन भाषाओं का प्रयोग है और जिस प्रकार नाट्यक्षेत्र विकास प्रगति पर है उसे सूक्ष्मता से देखने पर भी जिस समय का निर्णय करते हैं वह भी ई०पू० १०० से ई०स० ५०० के बीच का है और इस समय अन्य नाटकों में भाषा और कला संबंधी विकास क्रमशः दिखाई देता है।

अन्य विद्वानों के विचार भी डा० भाट ने इन शब्दों में व्यक्त किये हैं:—

"It can be seen that these widely different views do not bring us any nearer to the solution of the problem. Keith and

De are in a way right when they say that the dates are insufficient to assign any precise date."[1]

Dr Bhat

The conclusion that is possible from the discussion is as follows

(a) That Mricchakatika cannot be put later than the 8th century A D

(b) The earlier limit is rather uncertain But the internal evidence brings us some where to the 3rd or the 4th century A D[2]

निष्कर्ष

अनेक प्रकार से निर्णय करने पर भी इस सम्बन्ध में किसी निश्चित आधार पर पहुँचना सम्भव नहीं है। अतः मृच्छकटिक की सामाजिक और राजनीतिक दशा को देखकर ऐतिहासिक दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक-कालीन स्थिति गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् और हर्ष के साम्राज्य से पूर्व की होगी। अनुमानतः इन दोनों के बीच का समय ही इसका निर्माण काल रहा होगा क्योंकि इस समय देश में कोई प्रभावशाली सम्राट् न था। राजा दुश्चरित्र था। राज्य प्रभाव समाप्त हो चुका था। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति पर अंकुश नहीं था। राजा-प्रजा का पारस्परिक विरोध बढ़ रहा था। षड्यन्त्र आरम्भ हो चले थे, सर्वत्र अराजकता थी। मृच्छकटिक की रचना इसी की एक झलक है। अतः औचित्य के आधार पर यह कहना सर्वथा सङ्गतिपूर्ण है कि मृच्छकटिक का समय ई० स० ५०० का अन्तिम तथा ई० स० ६०० का आदि भाग है।

नाट्यप्रणेता शूद्रक परिचय

दो-एक संस्कृत विद्वानों को छोड़कर किसी ने भी अपने सम्बन्ध में यह अवगत नहीं कराया कि वे कहाँ पैदा हुए थे और क्या उनकी जीवन कथा है। यही कारण है कि संस्कृत विद्वानों का एतत्सम्बन्धी परिचय केवल अनुमान पर निर्भर है और यह अनुमान तत्कालीन शास्त्रीय प्रमाणों पर आधारित है। शूद्रक के सम्बन्ध में भी यही बात है।

---

१. Dr G K Bhat · Mricchakatika, p 191

२. वही, पृ० १९९।

मृच्छकटिक की प्रस्तावना में राजा शूद्रक की चर्चा आती है। इनके विषय में विभिन्न विचार हैं। प्रस्तावना के अनुसार शूद्रक जाति के द्विज हैं। वह देखने में बड़े सुन्दर थे। कवि भी उच्च कोटि के थे। इनकी नाट्यशास्त्र की विद्वत्ता के प्रमाण में तो स्वयं मृच्छकटिक इनकी कृति है। वह ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वेश्याओं की कला अथवा कामशास्त्रोक्त चतुष्षष्टि कला और हस्तिशास्त्र के पण्डित थे। इन्हें शंकर की कृपा से परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त हुआ था। यह बड़े बली और पराक्रमी थे। इन्हें बड़े-बड़े शत्रुओं से अथवा बड़े-बड़े हाथियों से बाहु-युद्ध करने में हिचक न थी। अनुमानतः संग्रामप्रिय राजा होने से द्विज के वर्ण में यह क्षत्रिय थे। यह प्रमादशून्य और तपोनिष्ठ थे। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था। ११० वर्ष की इनकी आयु हुई। अन्त में अपने पुत्र को राज्य देकर इन्होंने अग्नि में प्रवेश किया।

यह तो सहसा उचित प्रतीत नहीं होता कि कवि राजा शूद्रक उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त न होने पर स्वयं अपने विषय में उन्होंने ऐसा कहा हो—यह सम्भव नहीं है। यह प्रक्षिप्त अंश है जिसे उनको प्रकाश में लाने के लिए और यह स्पष्ट करने के लिए कि मृच्छकटिक उनकी रचना है किसी कवि ने इसमें सम्मिलित किया है।

शूद्रक के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ एवं उनकी विश्वसनीयता

दृश्यकाव्य रचना का रमणीय परिणाम आभिजात्यवर्गीय रुचिकर रचना पर अवलम्बित रहा है। इस गौरवशालिनी परम्परा में कालिदास तथा भवभूति अमर हैं पर अपने आदर्शवाद के कारण साधारण जनसमुदाय का वे अपेक्षित मनोरंजन न कर सके। इसी से संस्कृत दृश्यकाव्य में एक ऐसी लोकनिष्ठ परम्परा का अनुभव किया गया जो प्रतिष्ठित शैली परिपाटी की उपेक्षा कर और अभिजात आर्यमिश्रों की अवहेलना कर सर्वसाधारण का मनोविनोद कर सके। शूद्रक इस परम्परा के समुचित प्रतीक हैं। इन्होंने मृच्छकटिक के आधार पर मिट्टी के काव्यात्मक रूप पर जीवन यात्रा का न केवल दुर्गम पथ प्रस्तुत किया है वरन् अपने लक्ष्य की उपलब्धि उसी को सुगम एवं प्रशस्त बनाकर की है।

शूद्रक सम्बन्धित यह विषय अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। किंव-दन्तियों के आधार पर कुछ विचार इस सम्बन्ध में चलते रहते हैं जिन पर आश्रित होकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया जाता है। क्या वे राजा थे या नहीं? ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र में किस जाति के थे? क्या मृच्छकटिक

के प्रणेता यही थे ? क्या शूद्रक का व्यक्तित्व काल्पनिक है अथवा ऐतिहासिक ? क्या चारुदत्त मृच्छकटिक का संक्षिप्त रंगमंचीय रूपान्तर है अथवा मृच्छकटिक चारुदत्त का परिवर्धित संस्करण है ? यह प्रश्न प्रायः मेधावी विद्वानों के मस्तिष्क में चक्कर काटता रहता है और एक समस्या बना हुआ है।

शूद्रक के वास्तविक ज्ञान के लिए विद्वानों ने साहित्य तथा इतिहास के आधार पर भरसक प्रयास किये हैं पर फिर भी निश्चयात्मक बुद्धि से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भिक श्लोक के आधार पर एक ओर तो प्रशस्ति अतिरंजनापूर्ण है और दूसरे 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' कहकर भ्रम पैदा कर दिया है। इन श्लोकों में 'द्विजमुख्यतमः', 'समरव्यसनी' तथा क्षितिपाल' के उल्लेख तथ्यपरक प्रतीत होते हैं। पर 'हिनेन्द्रपतितस्वकीयरनेष.' में प्रशस्ति हो सकती है।

इस सम्बन्ध में शूद्रक-विषयक निम्न निष्कर्ष विश्वसनीय प्रतीत होते हैं :—

(क) मृच्छकटिक का रचयिता शूद्रक ही है जो द्विजों में सर्वश्रेष्ठ वर्ण का अर्थात् ब्राह्मण है।

(ख) यह शूद्रक राजा था जो अन्य शासकों की भाँति राज्यसत्ता का उपभोग करता रहा पर कदाचित् बहुत प्रख्यात न हो सका।

(ग) उसका व्यक्तित्व रोमांटिक था और समर-व्यसनी होने के साथ-साथ प्रणयी था।

(घ) शूद्रक ने राज्यसत्ता का उपभोग उस अवधि में किया प्रतीत होता है जो गुप्त साम्राज्य के पतन से आरम्भ होती है और हर्षवर्धन के उदय काल पर समाप्त होती है।

इसमें भी सन्देह नहीं कि मृच्छकटिक का रचयिता कुशल कवि और नाटककार रहा जिसने अपनी कृति में सच्चा चित्रण अंकित किया है। क्यों न आर्यक और पालक की भाँति शूद्रक शब्द भी समझा जाये। शूद्र से निर्मित शूद्रक नाम में ही कारण द्विजमुख्यतम विशेषण अनुपयुक्त समझना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि शूद्रक तो प्रसिद्ध और ऐतिहासिक नाम है फिर राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' को अग्निस्नान अर्थात् चार में कोदा हुआ अनुमान किया जाता है।

चारुदत्त और मृच्छकटिक सर्वथा निम्नरूप में भिन्न हैं :—

(अ) भास रचित चारुदत्त वर्तमान रूप में अपूर्ण एवं मृच्छकटिक से पूर्व की रचना है। मृच्छकटिक उसका परिवर्धित एवं नूतन सामग्री से युक्त नव संस्करण

है। (आ) भास के शताब्दियों बाद शूद्रक ने अपनी निराली नाटकीय सूझ से मृच्छकटिक का निर्माण किया और मिट्टी की गाड़ी के नाम से सामाजिक चित्र प्रस्तुत किया।

शूद्रक का समय निर्धारण

शूद्रक के समय-निर्धारण के अनुरूप मृच्छकटिक का कथानक ऐसे समय की ओर संकेत करता है जब बौद्धधर्म अपने प्रचार के पूरे यौवन पर था। बौद्धभिक्षु अपने धर्म का पूरी सावधानी से पालन करते थे। जनता उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती थी। चारों ओर मन्दिरों की भाँति बौद्ध विहारों का भी निर्माण हो रहा था। कालान्तर में ई० सवत् के आरम्भकाल में बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख हो चुका था। अतः यह निश्चित है कि सम्बन्धित रचना ई० संवत् के प्रारम्भिक काल के पूर्व सम्पादित हो चुकी थी।

मृच्छकटिक में विप्लवकारी घटनाओं का वर्णन देखते हुए इसे गुप्तयुग के पश्चात् तथा हर्षवर्धन के पूर्व की रचना मानना ही न्यायसंगत है। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुप्त राजाओं के पश्चात् तथा हर्षवर्धन के पूर्व तक इस देश में कोई सार्वभौम राजा उत्पन्न नहीं हुआ था। इस काल में भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा अस्त-व्यस्त थी। राजा कुचरित्र हो गये थे। प्रजा में राजा के विरुद्ध कोई न कोई षड्यन्त्र चला करता था। मृच्छकटिक द्वारा ऐसे ही भ्रष्ट समाज और कुत्सित राजनीति का दिग्दर्शन कराना निर्माता शूद्रक का उद्देश्य था।

इसके आधार पर शूद्रक का समय पाँचवी-छठी शती के मध्य मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

योग्य विचारकों के आधार पर मृच्छकटिक के लेखक के विषय में मतभेद

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं पर वे कहाँ तक मान्य हैं यह विचारणीय है।

(क) पाश्चात्य विद्वानों के विचार

१. डा० स्मिथ का मत

स्मिथ के अनुसार सिमुक का समय ई० पू० २४० के लगभग है। और कालिदास का समय ई० पू० १०० के लगभग है।

भास के प्राचीन होने से उसका समय ई० पू० २०० के लगभग समझा जाए। यदि यह सत्य है तो निश्चय ही भास ने शूद्रक से मृच्छकटिक से कथा चुराकर दरिद्र चारुदत्त की रचना की है पर दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा ज्ञात नहीं होता।

भाषा और कला की दृष्टि से दरिद्र चारुदत्त अपेक्षाकृत पुराना है। शूद्रक कालिदास से प्राचीन नहीं हैं। यदि प्राचीन होते तो वे अपने नाटकों में विशेषत मालविकाग्निमित्र में भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्रसिद्ध नाटककारों के साथ शूद्रक का भी उल्लेख करते। शूद्रक के विषय में मौन होना इस बात का सूचक है कि उस समय तक शूद्रक का कहीं नाम नहीं था अत यह कालिदास से परवर्ती हैं। इस विचार से शूद्रक को सिमुक से अभिन्न व्यक्ति मानने की कल्पना निरर्थक है।

२　प्रोफेसर कोनो का मत

इनका विचार है कि आभीर वंश के राजा शिवदत्त का दूसरा नाम शूद्रक है। डा० फ्लीट के अनुसार राजा शिवदत्त अथवा उसके पुत्र ईश्वर सेन ने आन्ध्रवंश के अन्तिम राजा का नाश किया। राजा शिवदत्त का काल ई० अ० २४८ के लगभग है। यह कल्पना इसलिए निस्सार है कि क्यों तो शिवदत्त का नाम शूद्रक हुआ और क्यों फिर मृच्छकटिक के साथ वास्तविक नाम शिवदत्त संबद्ध न होकर शूद्रक हुआ। यदि यह कह सतोष कर लें कि आभीर शूद्र जाति है अत यह शूद्रक कहलाया है तब यह नहीं माना जा सकता कि कवि अपनी कृति को एक सुन्दर नाम से प्रसिद्ध न करके अपमानजनक नाम से प्रसिद्ध करे। फिर यह कहकर यदि सन्देह का निराकरण करना चाहें कि प्रस्तावना के श्लोक किसी दूसरे के हैं या प्रक्षिप्त हैं तब भी बात नहीं बनती, क्योंकि प्रस्तावना से यह नहीं लगता कि श्लोक निर्माता नाटककार को हेय दृष्टि से देख रहा है अथवा अपेक्षाकृत अपना अंकित किया जा रहा है। यहाँ तो उसकी स्तुति स्पष्ट रूप से मालूम हो रही है। ऐसी स्थिति में वास्तविक नाम के अभाव में विदा-जनक नाम संदेह की पुष्टि ही करता है उसका निराकरण नहीं करता।

अन्त में इसकी पुष्टि के लिए मृच्छकटिक के गोपालदारक आर्यक में आभीर राजा शिवदत्त का सामञ्जस्य भी ठीक नहीं लगता क्योंकि प्राचीनकाल में गोपाल और पालक नामों को प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा गया है, निरादर की दृष्टि से नहीं। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण में उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पुत्रों के रूप

में भी गोपाल और पालक का उल्लेख है। ऐसी निराधार कल्पनाएं सच में इति-हास को खिलवाड़ का विषय बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

३. श्री पिशेल साहब का मत

श्री पिशेल साहब दण्डी को मृच्छकटिक का कर्ता मानते हैं। उनका कहना है कि दशकुमारचरित और काव्यादर्श केवल दो ही तो दण्डी के ग्रन्थ उपलब्ध हैं अतः तीसरा यही मृच्छकटिक है।

प्रोफेसर भास को मृच्छकटिक का कर्ता समझते हैं पर दोनों ही विद्वानों को इस बात को मानने में यही उलझन होती है कि जब अन्य विद्वानों की अन्य कृतियाँ उनके नाम से प्रसिद्ध हैं तो मृच्छकटिक में उन्हें अपना नाम परिवर्तन क्यों करना पड़ा। अपने प्रसिद्ध नाटकों में अन्य ग्रन्थों की भाँति इसको भी उन्होंने क्यों नहीं अपनाया, फिर मृच्छकटिक की प्रस्तावना में शूद्रक को राजा कहा गया है। दण्डी और भास कहीं भी राजा के नाम से प्रसिद्ध नहीं हैं।

४. डा० सिल्वाँलेवी का मत

इनका विचार है कि मृच्छकटिक शूद्रक की कृति नहीं है वरन् किसी अन्य नाटककार ने मृच्छकटिक बनाकर शूद्रक के नाम पर चला दिया है और यह संभवतः इसलिए किया गया है कि शूद्रक प्राचीन थे और उनके नाम की प्रतिष्ठा के बल पर इसको भी प्राचीन समझकर किया जावे। डाक्टर साहब की यह कल्पना सर्वथा निस्सार है। भला कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी कृति को दूसरे के नाम से प्रसिद्ध करे? हाँ, इसके विपरीत यह तो देखा जाता है कि दूसरों की कृतियों को लोग अपने नाम से प्रकाशित करने के लिए उतावले रहते हैं।

५. डा० कीथ का मत

डा० कीथ शूद्रक को मृच्छकटिक का कर्ता नहीं मानते। वह तो उसे एक कल्पित पुरुष समझते हैं। उनके विचार से यह नाटक भास के बाद का नाटक है। डा० लेवी का कहना है कि भास के दरिद्र चारुदत्त के साथ आर्यक के विद्रोह की कथा मिलाकर मृच्छकटिक किया गया और अपना नाम गुप्त रखने के विचार से इसे शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध किया गया। कोई तर्क इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया। डा० कीथ के अनुसार शूद्रक को मृच्छकटिक का कर्ता न मानना भी विचारणीय है। सम्भव है भासकृत दरिद्र चारुदत्त को देखकर उसे अपूर्ण जानते हुए अपनी रुचि के अनुसार किसी कवि ने इसकी कथा के साथ

अपनी कल्पित अथवा गुणाढ्य की बृहत्कथा से ली हुई गोपालदारक आर्यक के विद्रोह की कथा सम्मिलित कर दी हो। उसके अपने नाम को छिपाने की बात इससे तो और पुष्ट हो जाती है। प्रस्तावना में शूद्रक के साथ किल का प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् प्रथम अङ्क के पाँचवें और सातवें पद्य में भी शूद्रक के साथ किल आया है। इसका प्रयोग प्रायः अलीकता, सम्भावना या ऐतिह्य के लिए आता है। अमुक और अकार के प्रकाश में किल शब्द ऐतिह्य आदि अर्थों का ही बोध कराता है।

डा० कीथ के मत से शूद्रक काल्पनिक पुरुष है और उनके विचार से मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक नहीं वरन् कोई अन्य व्यक्ति है। सच तो यह है कि शूद्रक का नाम संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में आया है। अतः उन्हें काल्पनिक बताना उचित नहीं जान पड़ता।

(ख) भारतीय विद्वानों के विचार

१. स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड में राजा शूद्रक का उल्लेख किया गया है। कुछ विद्वान् इन्हीं को मृच्छकटिक का कर्ता शूद्रक मानते हैं। फिर इन्हें आन्ध्र वंश के प्रथम राजा शिमुक से अभिन्न व्यक्ति माना है। इस कल्पना के आधार पर कालिदास और भास दोनों शूद्रक से प्राचीन सिद्ध होते हैं।

२ पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय का मत

श्री पाण्डेय जी ने शूद्रक को आन्ध्र वंश का वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि माना है क्योंकि अवन्तिसुन्दरीकथासार में इन्द्राणीगुप्त का दूसरा नाम शूद्रक है। अतः वाशिष्ठपुत्र पुलुमावि ही इन्द्राणीगुप्त अथवा शूद्रक हैं जिन्हें मृच्छकटिक का निर्माता कहते हैं पर शूद्रक को पुलुमावि का उपनाम सिद्ध करने में पाण्डेय जी का परिश्रम युक्तिसङ्गत तो है पर है तथ्यहीन, क्योंकि नामों के इस भाँति परस्पर समन्वय में अनेक अन्य दोषों की सम्भावना है। फिर नामों की ऐसी सङ्गति तो कहीं भी लगायी जा सकती है।

३. डा० देवस्थली का मत

इनके विचार से मृच्छकटिक की प्रस्तावना के श्लोक शूद्रक के नहीं हैं पर इस बात को अप्रमाणित करने के लिए इनके पास कोई तर्क नहीं अतः ये परम्परा से प्रभावित हैं और अपना पृथक् से कोई मत नहीं रखते।

४. राजशेखर का मत

इनका कहना है कि रामिल और सोमिल ने शूद्रक कथा नाम का ग्रन्थ लिखा था। बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्षचरित में शूद्रक की चर्चा की है। दण्डी ने दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा में शूद्रक का नाम लिया है। सोमदेव ने कथासरित्सागर में, कल्हण ने राजतरंगिणी में शूद्रक के विषय में लिखा है। वेतालपंचविंशति में शूद्रक का नाम आता है। इसके अतिरिक्त शूद्रक वध, विक्रान्तशूद्रक और शूद्रकचरित नाम के ग्रन्थों का भी शूद्रक से स्पष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। यद्यपि ये ग्रन्थ प्राप्य नहीं हैं पर अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में इनका प्रासंगिक वर्णन है। कादम्बरी के शूद्रक को हम भले ही काल्पनिक मान लें अथवा यह समझ लें कि भी बाणभट्ट ने अत्यन्त प्राचीन किसी इतिहास-प्रसिद्ध राजा के नाम से अपने पात्र को शूद्रक की संज्ञा दी हो पर अन्य इतने ग्रन्थों में बार-बार शूद्रक की चर्चा यह मानने के लिए विवश करती है कि निश्चय ही शूद्रक नाम के कोई व्यक्ति अवश्य रहे हैं।

५. डा० शेखर का मत

It is also mentioned in MBH that the Ksatriyas afraid to Parasurama took to hiding Since they could not perform the regular religious rites and caste-functions, they had to be graded as Sudrabhiras Manu says that a child born of a Brahmana ambastha from a (Sudra) Mother is Abhira All the above evidence Indicates that the Abhiras were regarded a low class. Intercourse between the wandering tribes of Abhiras and their more civilised Aryan neighbours must have upset the priestly class It is possible that lured by the physical charms of Abhir girls, the Aryan youth endangered the sanctity of the Aryan race and thus may have incurred the displeasure of the priests. Krsna and Gopala legends believed to have been added later, support this admixture of races By showing preference for this community of the low born, Sudraka exhibited his own bias in no small degree "[1]

---

1. Shekhar Sanskrit Drama : Its Origin and Decline, p. 119 20
ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ मनुस्मृति १०–१५

निष्कर्ष

वास्तव में जब मृच्छकटिक के निर्माता शूद्रक न होकर अन्य कोई व्यक्ति है तो शूद्रक के नाम से इसे क्यों प्रसिद्ध किया गया, यह भी एक जिज्ञासा का विषय है। इसका एक कारण तो यह मालूम होता है कि जिस कलाकार ने यह नाटक लिखा होगा उसके मन में भास की अपूर्णता खटक रही होगी। अतः उसने इसे पूर्ण किया पर यह सोचा कि इसका पूर्वार्द्ध भास द्वारा रचित है केवल उत्तरार्द्ध ही तो मेरा है। ऐसी दशा में पूरे नाटक को यदि अपना कहा जाये तो चोरी का दोष है। इससे अपने नामोल्लेख का उसने विचार ही नहीं किया।

यह भी प्रतीत होता है कि नाटक में कलाकार ने जो घटनाचक्र दिखलाया है वह उस समय सामान्य जनता के मनोगत विचारों का एक साकार रूप है जिसे उसने साहस के साथ प्रदर्शित किया है। भास ने तो वसन्तसेना के चारुदत्त के घर पहुँचने पर ही नाटक की इतिश्री समाप्त की पर मृच्छकटिक-निर्माता ने तो चारुदत्त और शर्विलक दो-दो ब्राह्मणों का वेश्याओं के साथ विवाह करा दिया। इस बात से नाटककार की अप्रत्यक्ष सहमति इस सम्बन्ध में प्रकट होती है। इतना ही नहीं, इन्होंने दो ब्राह्मणों को चोर, जुआरी और वेश्याओं के समीप में अनुरक्त दिखाया है। नीच कोटि के ब्राह्मणों का चरित्र ही ऐसा नहीं दिखाया गया है वरन् उच्च कोटि के ब्राह्मणों को भी इसी प्रकार दिखाकर सारे ब्राह्मण समाज को ही भ्रष्ट दिखलाया गया है। क्षत्रिय भी अपनी मान-मर्यादा को खो चुके थे, उन्हें क्रूर और दुराचारी दिखाकर तात्कालिक परिस्थिति का सम्यक् प्रदर्शन किया गया है। मनुस्मृति और सभी धर्मशास्त्र के उच्च ग्रन्थों की उपेक्षा उस समय एक साधारण बात थी। शकार को नीच जाति की दासी रखने वाला दिखाकर हीनता का प्रदर्शन ही नहीं किया है वरन् उसे गोपाल के हाथ मरवाया है। इतना ही नहीं, राज्य के उच्च पदों पर वीरक और चन्दनक जैसे शूद्रों को आसीन दिखाना, भिक्षु, गोपाल और चाण्डालों तक को सत्पुरुषों के रूप में चित्रित करना उस समय के समाज के नग्न चित्र को प्रस्तुत करना नहीं तो क्या है? ऐसा कलाकार यदि कृति के साथ अपना नाम प्रसिद्ध करता तो निश्चय ही क्रान्तिकारी के रूप में राजा और प्रजा का कोपभाजन बनता।

अब यदि यह कहा जाए कि नाटक तो शूद्रक का है और प्रस्तावना के श्लोक किसी दूसरे कवि द्वारा प्रक्षिप्त हैं तो ऐसा मानने पर स्वभावतः यह बात मन में आती है कि शूद्रक के अपने नाम के बिना नाटक कैसे प्रस्तुत हुआ फिर 'शकार

और 'वसूद' के आधार पर यदि यह मानना उचित हो कि शूद्रक की मृत्यु के अनन्तर बहुत समय बाद प्रस्तावना के श्लोक लिखे गये तो फिर नाटक किसी का और श्लोक किसी के यह भी संदिग्ध है। अतः श्लोकों का प्रक्षिप्त होना भी कुछ ठीक नहीं जँचता। सब कुछ सोचते हुए ठीक तो यही लगता है कि यह शूद्रक द्वारा रचित है पर यह शूद्रक आर्यक और गोपालक की भाँति शासक होते हुए एक दाक्षिणात्य कवि हैं। यह शासक भले हों भले न हों पर स्वच्छन्द मनोवृत्ति के निरंकुश क्रान्तदर्शी कवि अवश्य हैं।

मृच्छकटिक के आधार स्रोत तथा उनका विश्लेषण

कथानक का उद्गम—किसी भी कथानक के पीछे कोई न कोई प्रेरणा अवश्य कार्य करती है। नाटक, कहानी, उपन्यास यहाँ तक कि कविता, निबन्ध आदि में भी कल्पना के साथ मूल रूप में उसका उद्गम कहीं से निश्चय ही सम्भव है। उसका आधार इतिहास एवं कोई सामाजिक घटना-चक्र होता है जिसके आधार पर उसकी पृष्ठभूमि रहती है। अब यह विचार करना है कि मृच्छकटिक का कथासाम्य हमें कहाँ से उपलब्ध होता है। हम देखते हैं कि भास का दरिद्र चारुदत्त, दण्डी का दशकुमारचरित और सोमदेव का कथासरित्सागर इससे मिलता जुलता है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल और मुद्राराक्षस की घटनाओं का भी साम्य मृच्छकटिक की घटनाओं से है। अतः इन नाटकों पर विचार करके यह निश्चय करना है कि मृच्छकटिक की कथावस्तु वास्तव में किस ग्रन्थ के आधार पर है।

इस से पूर्व हम इस सम्बन्ध में मृच्छकटिक की कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल से तुलना करेंगे।

कथा स्रोत : (क) अभिज्ञानशाकुन्तल और मृच्छकटिक[1]

ये दोनों नाटक परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं। जिस भाँति शकुन्तला दुर्वासा की कोप भाजन बनकर अनेक कष्टों में पड़ जाती है उसी प्रकार वसन्तसेना भी शकार की कोपभाजन होकर अनेक कष्ट भोगती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में नायक और नायिका का मिलन दो बार होता है, इधर मृच्छकटिक में भी चारुदत्त और वसन्तसेना दो बार मिलते हैं। उधर शकुन्तला और दुष्यन्त परस्पर प्रेम करते हैं

---

१. श्री कान्तानाथ शास्त्री तैलंग : मृच्छकटिक की समीक्षा, पृष्ठ १०-१२।

इधर वसन्तसेना और चारुदत्त भी आपस में प्रेम करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अङ्क में राजा के दरबार का दृश्य मृच्छकटिक के न्यायालय के दृश्य के समान है। दोनों नाटकों में इस भाँति मुख्य घटना की दृष्टि से साम्य है पर यह सब होते हुए भी यह कहना उचित नहीं लगता कि मृच्छकटिक शाकुन्तल के आधार पर रचा गया है अथवा ये परस्पर प्रभावित हैं। सामान्यतः घटनाओं का ऐसा मेल तो नाटकों में दिखाई दे ही जाता है। वास्तव में दोनों नाटकों की कथावस्तु में बहुत अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर तो स्पष्ट ही है कि अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला से मिलने का प्रयत्न पहले दुष्यन्त की ओर से होता है और फिर शकुन्तला की ओर से, पर मृच्छकटिक में आरम्भ से अन्त तक मिलने का सारा प्रयत्न अपेक्षाकृत नायिका वसन्तसेना करती है, चारुदत्त तो आदर्श रूप से एक नायक के रूप में आदर्श पुरुष की भाँति अपने को व्यक्त करते हैं।

मृच्छकटिक की समता अन्यत्र भी है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस से भी कुछ दृश्य मिलते हैं।

(ख) मुद्राराक्षस और मृच्छकटिक—मुद्राराक्षस के पंचम अङ्क के अन्त का दृश्य जहाँ मलयकेतु राक्षस पर विश्वासघात का आरोप लगाता है बहुत अंशों में मृच्छकटिक के न्यायालय के दृश्य के समान है। मुद्राराक्षस के सप्तम अङ्क में चाण्डाल चन्दनदास को शूली पर चढ़ाने के लिए वध्यस्थान ले जाते हैं। इसी भाँति मृच्छकटिक में भी चाण्डाल चारुदत्त को वध्यस्थान में ले जाते हैं। घटनाक्रम के इस साम्य से यह न समझा जाए कि मृच्छकटिक पर मुद्राराक्षस का प्रभाव पड़ा है। अधिकतर विद्वान् तो इस पक्ष में हैं कि मुद्राराक्षस मृच्छकटिक की अपेक्षा अर्वाचीन है।

यथार्थ में मृच्छकटिक की कथावस्तु सर्वांगीण और मनोवैज्ञानिक है जिस भाँति तुलसी का रामचरितमानस सभी रामचरित ग्रन्थों का प्रति-निधित्व करता है ठीक उसी प्रकार यह मृच्छकटिक सभी नाटकों का प्रतिनिधि-स्वरूप है।

कथासरित्सागर, दशकुमारचरित और मृच्छकटिक—यह सोचना कि सोमदेव के कथासरित्सागर से और दण्डी के दशकुमारचरित से मृच्छकटिक की कथावस्तु को कुछ सहारा मिला हो, ठीक नहीं है। कथासरित्सागर में रूपणिका और एक गरीब ब्राह्मण लोहजंघ के प्रेम की कहानी है। इसका मृच्छकटिक से कोई सम्बन्ध नहीं मिलता। दशकुमारचरित में रागमंजरी की एक ब्राह्मण के साथ

प्रेमलीला की कथा है जो मृच्छकटिक की कथावस्तु से भिन्न है। अतः इन कथाओं को मृच्छकटिक की कथा का मूल कहना सर्वथा असंगत है क्योंकि सोमदेव ई० स० ग्यारहवीं शती के थे और दण्डी सातवीं शती के। मृच्छकटिक के कर्ता सोमदेव और दण्डी दोनों से पुराने हैं।

सब नाटकों पर विहंगम दृष्टि डालते हुए विद्वानों का मृच्छकटिक की कथावस्तु के विषय में विचार

(घ) दरिद्र चारुदत्त और मृच्छकटिक—जैसे-जैसे भास के नाटक प्रकाश में आए वैसे-वैसे मृच्छकटिक के मूल के सम्बन्ध में भी विद्वानों का विचार बदलता गया। अब प्रायः सभी एकमत हैं दरिद्र चारुदत्त को मृच्छकटिक की कथा का मूल मानते हैं। दरिद्र चारुदत्त के चतुर्थ अंक के अंत में वसन्तसेना मदनिका को शर्विलक के साथ विदा करती है। इसके बाद वह अपनी चेटी को बुलाकर अपना स्वप्न कहती है। इस पर चेटी कह उठती है—'गीयं मे अमृताकं नाटकं संवृत्तम्', तदनन्तर वसन्तसेना आभूषणों के साथ चारुदत्त के घर चलने की चर्चा करती है। चेटी अनुकूल अवसर का समर्थन करती हुई तैयार हो जाती है। वसन्तसेना हंसी में डांटकर उससे कहती है—'हताशे! मा खलु सर्वम्'। इस पर चेटी कहती है—'एलेरमम्बुका'। बस यहीं नाटक की समाप्ति है।

भास के चारुदत्त की हस्तलिखित प्रति के चतुर्थ अंक के अन्त में लिखा है—'अवसितं चारुदत्तम्' इसको आधार मानते हुए नाटक की समाप्ति यहीं मानते हैं। दूसरे विद्वान् इसे अपूर्ण मानते हैं और कहते हैं कि इसमें कम से कम एक अंक और रहा होगा।

मृच्छकटिक में गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। अन्य नाटकों की भाँति नायक और नायिका के केवल प्रेम की कहानी वर्णन करना ही इसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। कितना सुन्दर इसका अंत है जहाँ कि वसन्तसेना के सामने आने से चारुदत्त के प्राणों की रक्षा होती है और चारुदत्त के इस समाचार को सुनकर उसकी पत्नी धूता सती होने का विचार छोड़ देती है। एक की प्राणरक्षा और दो को जीवनदान देती है। फिर चारुदत्त का व्यक्तित्व भी क्या कम अनोखा है जहाँ कि उससे प्रेम करने वाली वसन्तसेना के साथ उसकी पत्नी धूता भी उससे कम प्रेम नहीं मानती और वसन्तसेना के प्रति कोई ईर्ष्याभाव नहीं दिखाती।

मृच्छकटिक पर भास के प्रभाव का विवेचन

मृच्छकटिक एक अनुपम रचना है। कथानक की दृष्टि से इसका कलेवर मौलिक है। इस सम्बन्ध मे विद्वानों में मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में प्राय: टिप्पणी करते हैं। कुछ भारतीय विद्वान् भी इसी का समर्थन करते हैं, पर सच तो यह है कि मौलिकता का अभिप्राय यदि ऐसी रचना से है जो अपनी दिशा में किसी की अपेक्षा नहीं रखती और उसका कोई अंश भी कहीं उपलब्ध नहीं होता तब तो बात और है किन्तु साथ में यह भी है कि ऐसी रचनाएँ हैं कितनी जिन्हें कसौटी पर बिठा जा सके। जैसे बड़े-बड़े कवियों के महाकाव्य और गद्यग्रन्थ जिन्हें मौलिक कहा जाता है यदि उनके आधार को देखा जाए तो कहीं न कहीं ऐतिहासिक आश्रय उनका अवश्य दिखाई देता। यही आधार स्रोत एक नींव है जिस पर विश्व का साहित्य खड़ा है। इसी प्रकार मृच्छकटिक का भी आधार भास का दरिद्र चारुदत्त है। यदि कथानक की भूमिका किसी और रूप में रही होती और पात्रों के नाम बदले हुए होते तो मृच्छकटिक पर दरिद्र चारु-दत्त के प्रभाव की शंका ही किसी को न होती।

संस्कृत साहित्य के पाश्चात्य तथा अंग्रेजी ज्ञाता विद्वान् जैसे कोनो, विण्टर-निट्ज, डेवी, कीथ, मैकडोनेल, वेलवाल्कर और सुकथनकर इस बात में हैं कि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज के प्रकाशित नाटकों में चारुदत्त का जैसा स्वरूप देखने को मिलता है वह मृच्छकटिक जैसा है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक भास के चारुदत्त का परिष्कृत एवं विस्तृत स्वरूप है।[1]

श्री वी० वी० पराडपे ने भास और शूद्रक की इस समस्या का गहराई से अध्ययन करने के बाद लिखा है कि प्रोफेसर सी० आर० देवधर ने भास के नाटकों का विवेचन करते समय यह दिखाया है कि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज के भास के तेरह नाटकों की शैली विभिन्न है फिर भी कुछ बातें उनमें मिली-जुली हैं। यह देखकर निश्चय होता है कि यह किसी एक रचनाकार की कृति है। इन नाटकों के विषय में यह भी कहा जाता है कि यदि इन्हें एक की कृति मानें तो यह कैसे सम्भव है कि स्वप्नवासवदत्ता का निर्माता प्रतिमा नाटक, पचरात्र और अविमारक का भी निर्माता हो जहाँ एक-दूसरे से कुछ मेल नहीं दिखाई देता।

भास का समय तीसरी शती और मृच्छकटिक का समय पंचम शती माना गया है। अतः मृच्छकटिककार भास के परवर्ती हैं। दरिद्र चारुदत्त मृच्छकटिक

1. वी० वी० पराडपे : मृच्छकटिक की भूमिका, पृ० ८।

से पूर्व की रचना है पर यह कहना कि भास का प्रभाव मृच्छकटिक पर है युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ तक तो ठीक है कि मृच्छकटिक में चारुदत्त और वसन्तसेना नामक पात्र नायक-नायिका के रूप में दरिद्र चारुदत्त के उन्हीं नाम वाले पात्रों से नाम में मिलते हैं पर शेष कहानी तो मृच्छकटिक की अपने ढंग की है।

सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह निश्चित है कि चारुदत्त मूल रचना है और मृच्छकटिक उसका परिवर्धित संस्करण है। मृच्छकटिक के विस्तृत सन्दर्भों को देखकर ही यह कहने का साहस किया जाता है कि चारुदत्त मृच्छकटिक का संक्षिप्त रूप है पर यह मानना निरापद नहीं है क्योंकि जितना मृच्छकटिक चारुदत्त की अपेक्षा विस्तारयुक्त है उतना चारुदत्त मृच्छकटिक की अपेक्षा सर्वथा संकुचित नहीं है। यदि मृच्छकटिक में कहीं विस्तार कम भी है तो इसका कारण मृच्छकटिक के रचयिता की रुचि है जिसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं।[1]

मृच्छकटिक की मौलिकता एवं नाम का औचित्य

मृच्छकटिक नाम सुनने में बड़ा अस्वाभाविक लगता है। सरलता से तो इसका अर्थ समझने में नहीं आता। संस्कृत की इसको सन्धि-विच्छेद करने पर नाम पाते हैं मृत् शकटिक, दो शब्दों से मिलकर यह बना है जिसका अर्थ है मिट्टी की गाड़ी। लड़के को प्रसन्न करने के लिए वसन्तसेना ने अपने सोने के आभूषण उतारकर इसमें रख दिए थे। आधिकरणिक (जज) को चारुदत्त के अभियोग का प्रत्यक्ष प्रमाण भी इसे देखकर ही मिला था। इसी से आधिका-रणिक को निश्चय हुआ था कि चारुदत्त ने अवश्य ही वसन्तसेना की हत्या की है। इस रूपक में यह घटना बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी से इसका नाम मृच्छ-कटिक रखा गया।

मृच्छकटिक के छठे अंक में रदनिका (चारुदत्त की दासी) रोहसेन (चारुदत्त के पुत्र) को खेलने के लिए मिट्टी की गाड़ी देती है पर वह उसे नहीं लेना चाहता और पड़ोस में देखी हुई सोने की गाड़ी लेने के लिए दुराग्रह करता है। इतना ही नहीं, सोने की गाड़ी न मिलने पर वह रोता और मचलता है। वैसे ही वसन्तसेना को उसके रोने का कारण मालूम होता है वह अपने सोने के आभूषण उतार कर सोने की गाड़ी बनवाने के लिए उसे दे देती है। ऐसा केवल उसे प्रसन्न करने के लिए किया जाता है।

---

1. डा० रमाशंकर तिवारी : 'महाकवि शूद्रक', पृ० ७४-७५।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब सोने की गाड़ी की चर्चा भी इस रूपक में आई है तो इसका नाम 'सुवर्ण शकटिक' रखना उचित क्यों नहीं समझा गया अथवा इसे दूसरा नाम 'वसन्तसेनाचारुदत्तम्' क्यों नहीं दिया गया।[1] ये दोनों नाम दिए जा सकते थे पर साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद के अनुसार 'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्' के अनुसार नाटक का नाम गर्भित अर्थ को प्रकट करने वाला होना चाहिए। उपर्युक्त दोनों नामकरणों से यह आशय पूर्ण नहीं होता क्योंकि उनमें रहस्य और चमत्कार नहीं है। अतः मृच्छकटिक नाम इस दृष्टि से सर्वथा उचित है।

सोने की गाड़ी की अपेक्षा मिट्टी की गाड़ी का होना असन्तोष को व्यक्त करता है। इससे नाटक की प्रगति में सहायता मिलती है और व्यवहार-कुशलता, सरलस्वभाव, भवितव्यता आदि के साथ-साथ उसका कथानक आकर्षक होता जाता है।

सांसारिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट जीवन बिताने वाले लोग प्रायः दूसरों से ईर्ष्या रखते हैं और जीवन में अनेक कष्ट भोगते हैं। सद्गुणों द्वारा अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील होना तो अच्छा है पर दूसरों की उन्नति से ईर्ष्या करना बुरा है। संसार में वही मनुष्य सुखी रह सकता है जो अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट हो और दूसरों की उन्नति देखकर हर्ष प्रकट करे। रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी से असन्तुष्ट है और सोने की गाड़ी की इच्छा करता है, यही एक दोष है जिसके कारण वह अपने और अपने पिता के लिए अनेक विपत्तियों का कारण बन जाता है। असन्तोष इस नाटक का मूल है। अन्य मुख्य पात्रों में भी यह निरन्तर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। वसन्तसेना शकार की अपेक्षा चारुदत्त को प्रेम करती है, चारुदत्त अपनी विवाहिता स्त्री धूता की अपेक्षा वसन्तसेना को अपनी प्रेयसी बनाना चाहते हैं। इस भाँति बढ़ता हुआ असन्तोष रूपक के कथानक को प्रोत्साहित करता है।

सुवर्ण शकटिकम् की अपेक्षा मृच्छकटिकम् यों भी अधिक उपयुक्त है कि रोहसेन जैसे ही मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी लेने की इच्छा करता है उसके पश्चात् ही प्रवहण परिवर्तन की घटना घटित हो जाती है और वसन्तसेना चारुदत्त द्वारा प्रेषित गाड़ी में न बैठकर भूल से शकार वाली दूसरी गाड़ी में बैठ जाती है और शकार के पास पहुँच जाती है। अतः यहीं से रूपक का

---

१ बलदेवप्रसाद शास्त्री (?) लिखित मृच्छकटिक समीक्षा, पृ० २२।
चौखम्बा, वाराणसी १९५४।

स्वरूप बदलने लगता है और मुख्य घटनाएँ सामने आ जाती हैं। इस भाँति रोह-सेन का मिट्टी की गाड़ी को सोने की गाड़ी से बदलना आगामी प्रवहण-परिवर्तन का सूचक है। वास्तव में नियति भविष्य की इष्ट या अनिष्ट घटनाओं का सन्देश देती है। इस रूप में मृच्छकटिक की सार्थकता यहाँ पूर्ण रूप से प्रतीत हो रही है। देखने में बालक का यह दुराग्रह छोटी सी घटना है पर रूपक के नाम के विचार से यह बहुत महत्वपूर्ण है।

भास का चारुदत्त मृच्छकटिक का मूल है। चारुदत्त में केवल चार अंक हैं। इसकी समाप्ति वहीं पर है जहाँ वसन्तसेना अपने घर से चारुदत्त से मिलने चल देती है। नाटक के अंत में चेटी की उक्ति है, 'पियं मे अमृताक नाटकम् सक-सम्' और वसन्तसेना की उक्ति है 'इमारी मा खलु वर्धम'। इस नाटक की हस्त-लिखित प्रति में 'अवसित चारुदत्त' भी लिखा है। इन्हीं पंक्तियों को देखकर कुछ विद्वानों का विचार है कि नाटक यहीं समाप्त हो गया है। डॉ॰ आर॰ देवधर ने कहा है : I need only assert here my view that the Charudatta is abridged from the first four acts of the Mrcchhakatika with a few additions and numerous alterations particularly in the verse portions पर कुछ विचारशील लोगों का कहना है कि यह नाटक अपूर्ण है क्योंकि इसकी समाप्ति अस्वाभाविक सी है। इसमें एक पंचम अंक और रहा होगा।

विद्वानों का एक तीसरा वर्ग भी है जिसका कहना यह है कि चारुदत्त और मृच्छकटिक दोनों की कथा बराबर है। ऐसा वे इस लिए कहते हैं कि 'सुख-दुःखमतो रोदि' इत्यादि श्लोक चारुदत्त के अधिकरण दृश्य में है। अधिकरण का दृश्य नाटक के अन्त में है। इधर 'सुखमुखमित्रिको व्याल' मृच्छकटिक के नवम अंक में अधिकरण के दृश्य में है। अतः दोनों नाटकों में कथा और अंकों की संख्या बराबर रही होगी। यह तर्क निस्सार है क्योंकि कथा का स्वरूप और अंक संख्या दोनों परस्पर नहीं मिलते। फिर मृच्छकटिक के पंचम अंक की कथा चारुदत्त के अज्ञापित पंचम अंक तक रही होगी। इस भाँति चारुदत्त पंचम अंक तक होना चाहिए। इन विचारों से मृच्छकटिक को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक पूर्वार्ध पंचम अंक तक जिसको चारुदत्त से लिया हुआ कहा जाता है, दूसरा उत्तरार्द्ध दशम अंक तक जो कि मृच्छकटिक नाटककार की अपनी सूझ है।

रोहसेन द्वारा सोने की गाड़ी के लिए मचलने की कथा से नये भाव का आरम्भ होता है और रोचक ढंग से उसकी समाप्ति दिखाई गई है।

मृच्छकटिक का नवीन विषय निरूपण

मृच्छकटिक संस्कृत के सभी रूपकों में विचित्र है। इसमें जिस विषय का निरूपण है वह किसी भी संस्कृत रूपक में उपलब्ध नहीं है। इस भाँति प्रचलित परंपरा का इसमें त्याग देखने को मिलता है। वेश्या को कुलवधू दिखाना, धार्मिक ब्राह्मण की भी चौर्य कार्य में प्रवृत्ति दिखाना तथा दासी से उनका प्रेम दिखाकर उसे भी कुलवधू का रूप देना, उत्साह, साहस तथा धैर्य को अपनाते हुए निष्कपट भाव से आगे बढ़ते रहना एवम् समाज को एक नया रूप देना मृच्छकटिककार का चरम ध्येय था।

मृच्छकटिक में संस्कृत के साथ विविध प्राकृत भाषाओं का प्रयोग और छंदों की बहुलता भी उसका अपना एक वैशिष्ट्य है। शास्त्रीय परम्पराओं पर ध्यान न देते हुए जो यथोचित समझा गया वही इसमें अपनाया गया। नायक चारुदत्त का प्रत्येक अंक में उपस्थित होना, निद्रा और हिंसा का रंगमंच पर प्रदर्शन आदि शास्त्रीय प्रतिबन्ध इसके रचयिता को न जकड़ सके।

भरत के नाट्यशास्त्रीय विधान के अनुसार प्रकरण में लौकिक वृत्त होना चाहिए पर संस्कृत के नाटककारों ने इतिहास एवं पुराण का आश्रय लेते हुए लौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। मृच्छकटिककार ने इस काल्पनिक तथा भावप्रधान नाट्यपरंपरा में चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रेम कहानी को ऐसे ढंग से चित्रित किया है जिससे लौकिक जीवन का यथार्थवादी वातावरण बना रहे।

विषय-चयन के साथ विषय-निरूपण भी मृच्छकटिक में निराला है। भास से प्रेरित होकर शूद्रक ने ऐसी स्फूर्ति और साहस दिखाया है जिससे परंपरा का विरोध स्पष्ट झलक रहा है। नाट्यकला के नियमों का प्रायः उल्लंघन, राजपथ पर जुआरियों की लड़ाई, तृतीय अंक में सन्धिच्छेद का साहसपूर्ण कार्य, छठे तथा नवम अंक में वीरक, चन्दनक एवं शकार विदूषक का परस्पर संघर्ष, आठवें अंक में वसंतसेना का कण्ठनिपीडन एवं अन्तिम अंक में चितारोहण का भयानक एवं मार्मिक दृश्य संस्कृत रंगमंच के लिए सर्वथा नवीन है।

मृच्छकटिक के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की झलक

यद्यपि साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख प्रकरण में यथास्थान है फिर भी संक्षेपतः मृच्छकटिक की चारित्रिक विशेषताएँ एवं वस्तुविन्यास निराला है। घटनाओं की विविधता और भावों की रोचकता भी अनु-

सम्बन्ध है। नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुरूप संस्कृत रंगमंच पर विशुद्ध यथार्थवाद कभी प्रस्तुत नहीं किया गया पर मृच्छकटिक ने इस मर्यादा को तोड़कर वास्तविक चित्रण किया है। मृच्छकटिक प्रकरण के विषय में कहा गया है—'प्रस्तुत प्रकरण सामाजिक एवं कलात्मक युक्तियों का नाटक है।'[1]

मृच्छकटिक की रंगमंचीय अभिनेयता भी सुन्दर है। कथा विन्यास के सम्बन्ध में कालक्रमात्मक और कथात्मक पद्धतियों की कसौटी पर परखने से स्पष्ट है कि मृच्छकटिक में कालक्रमात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसका अपवाद तो अवश्य है कि कामदेवायतन उद्यान वाली घटना की जानकारी बाद में दी गयी है। इस प्रकरण में काव्यात्मक लालित्य भी प्रचुर मात्रा में है। इस भाँति इसमें नाट्याभिनय के आनन्द के साथ रसिकों को काव्यरसानुभूति भी कम नहीं होती।

मृच्छकटिक के प्रारम्भ में व्रत, उपवास की चर्चा से तत्कालीन समाज की धार्मिक आस्था का परिचय मिलता है।

मृच्छकटिक-कालीन वातावरण

साहित्य समाज का दर्पण है। इस उक्ति के आधार पर मृच्छकटिक अपने समय का प्रतिबिम्ब है। इसके प्रणेता का तो उद्देश्य ही उस समय का चित्र प्रस्तुत करना था। वर्णव्यवस्था इस समय प्रचलित थी पर चाण्डालों की गणना पंचम वर्ण में की जाती थी। वर्णोचित कार्यों में कुछ शिथिलता आने लगी थी। तत्कालीन कुछ ब्राह्मण वाणिज्य कार्य में रुचि लेते थे। चारुदत्त स्वयं ऐसे व्यक्ति थे।

नागरिक व्यवस्था सुन्दर थी। राजमार्ग अच्छे थे पर रात में सड़कों पर अँधेरा रहता था। चौकीदार नगर की रक्षा के लिए नियुक्त थे फिर भी सड़कों पर अँधेरे में गणिका, विट, चेट आदि चक्कर लगाते थे। सड़कों पर मारपीट भी हो जाती थी। वेश्यावृत्तियों की अधिक प्रथा थी। घोड़ों का भी उपयोग होता था। धनिकों के पास हाथी भी थे। वसन्तसेना के पास खुंटमोडक नामक हाथी था।

सवर्ण विवाह की प्रथा थी पर असवर्ण विवाह भी किसी विशेष स्थिति में होते थे। मनु के अनुसार ब्राह्मण को चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने की छूट थी।[2] चारुदत्त-वसन्तसेना का विवाह और शर्विलक-मदनिका विवाह इस बात के प्रतीक हैं। वेश्या और गणिका भी विवाह कर सकती थीं।

---

१ G. R. Devadhar : Charudatta, Introduction, p. 51

२. मनुस्मृति।

वेश्या प्रथा उस समय थी पर वे दो प्रकार की होती थीं। एक वर्गिका जो गायन, वादन आदि से आजीविका करती थीं और दूसरी वेश्याएँ जो रूप-यौवन द्वारा धन कमाती थीं। यद्यपि प्रतिष्ठित पुरुष भी उस समय वेश्याओं से सम्बन्ध रखते थे पर सामाजिक दृष्टि से वे सम्मानित नहीं माने जाते थे। दशम अंक में जब न्यायाधीश चारुदत्त से पूछते हैं कि तुम्हारा वसन्तसेना से सम्बन्ध है या नहीं, तब वह उत्तर देने में सकुचाते हैं।

उस समय की स्त्रियों का धन आभूषण था। वे नूपुर, हस्ताभरण, करधनी आदि आभूषण पहनती थी। फूलों से वेणी सजाती थी। मुख पर किसी प्रकार के पाउडर का भी प्रयोग करती थी। शृंगार एवं प्रसाधन में वर्ण साम्य का विशेष ध्यान रहता था। लाल वर्ण की साड़ी पहने हुए वसन्तसेना लालवर्ण के कमलों से अपने को सुसज्जित करती थी। उस समय के कोई-कोई पुरुष केश भी रखते थे पर वह विचित्र व्यक्ति होते थे। शकार इसका उदाहरण है। इसके सम्बन्ध में नवें अंक के प्रारम्भ में कहा गया है कि वह क्षण में बालों को बाँध लेता था, क्षण में जूड़ा बना लेता था, क्षण में उन्हें बिखेर देता था तथा क्षण में वेणी बना लेता था।[1]

द्यूतक्रीड़ा का प्रचार था पर निम्न वर्ग के लोग ही जुआ खेलते थे। यह व्यवस्थित रूप में होता था। मद्यपान की भी प्रथा थी। अष्टम अंक में शकार भिक्षु से कहता है—

'आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते मोटयिष्यामि' (अनु)। यहाँ आपानक का अर्थ है पानगोष्ठी। दास प्रथा प्रचलित थी पर धनराशि द्वारा दास-भाव से मुक्त भी कराया जा सकता था। शर्विलक ने चोरी से आभूषण प्राप्त करके मदनिका को दासी के कार्य से मुक्ति दिलाई। कला के विचार से भी यह युग बड़ा उन्नत था। संगीत कला के साथ अन्य कलाओं का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। इन सबकी चर्चा यथावसर आगे की गयी है।

समाज में आर्थिक विषमता भी थी। कुछ लोग अत्यधिक धनी थे तो कुछ बड़े निर्धन। वैदिक और बौद्ध धर्म दोनों ही प्रचलित थे। बौद्धों का जहाँ मान था वहाँ उनका दर्शन अपशकुन माना जाता था। सप्तम अंक में आर्यक के बन्धन मुक्त होने पर जीर्णोद्यान से जाते समय चारुदत्त के सामने भिक्षु के आने पर यही प्रकट किया गया है।

देश की राजनीतिक दशा भी उस समय अव्यवस्थित एवं अशान्तिपूर्ण थी। उस समय देश में कोई सम्राट् न था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ

१ मृच्छकटिक (९-१)।

था और शासन-व्यवस्था शिथिल थी। राज्य-सेवा में सब जातियों को नियुक्ति के लिए जातिबन्धन नहीं था। न्याय-व्यवस्था समुचित थी पर न्यायाधीशों को स्वच्छन्दता न थी। खून के अपराध का दण्ड बड़ा कठोर था। प्राणदण्ड से पूर्व अपराधी को लाल चन्दन और करवीर माला से सजाया जाता था। इन्हीं सबका वर्णन यथार्थ रूप में मृच्छकटिक ने किया है।

मृच्छकटिक और नाटकीय अन्वितियाँ

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' काव्यों में नाटक रमणीय है। इस काव्य के दो स्वरूप हैं—दृश्य और श्रव्य। रूपक (नाटक) की गणना दृश्य काव्य के अंतर्गत है। जनता पर अभीष्ट सामूहिक प्रभाव डालने के लिए नाट्यवस्तु का रंगमंचीय प्रदर्शन अथवा अभिनय अत्यावश्यक है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी सफलता के लिए तीन प्रकार की अन्वितियाँ (three unities) बताई हैं। इन्हें संकलन-त्रय भी कहा जाता है। ये अन्वितियाँ देशकाल तथा कार्य की सीमा को इस भाँति संकुचित कर देती हैं कि दर्शक पूरी कथावस्तु को हृदयंगम कर वांछित लाभ प्राप्त कर सके।[1] स्थान, समय तथा व्यापार के अव्यवस्थित होने से अपेक्षित प्रभाव नहीं होता। अतः यह आवश्यक समझा गया कि नाटक की घटनाएँ स्थान, सीमा तथा कार्य की दृष्टि से मर्यादित हों—इस विचार से यूरोप नाटककारों ने निम्न अन्वितियों की व्यवस्था की :—

१. स्थान की अन्विति अथवा स्थान संकलन (Unity of place)
२. समय की अन्विति अथवा समय संकलन[2] (Unity of time)
३. कार्य की अन्विति अथवा कार्य संकलन (Unity of action)

यूनान के अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र (Poetics) में पहले-पहल संकलन-त्रय के सिद्धान्त का निरूपण किया। इसके पश्चात् १५०० ई० में कैस्टिल वेटरो ने काव्यशास्त्र में इसका विस्तृत विवेचन किया।

स्थान की अन्विति से आशय यह है कि नाटकीय दृश्य ऐसी स्थान-सीमा के भीतर नियोजित किये जायें कि नाटक के पात्र अभिनय के लिए निर्धारित समय में यथोचित स्थलों पर पहुँच सकें।

---

१. डा० सुधीरकुमार दे : लिटरेचर, पृष्ठ ४८।
२. समय संकलन के लिए ध्यान रखें कि केरल प्रदेश के पञ्चाङ्ग में महीना शुक्ल पक्ष से आरम्भ तथा कृष्णपक्ष की अमावस्या को समाप्त होता है।

समय की अन्विति इसलिए आवश्यक है कि नाटक के कार्य की पूर्ति के लिए २४ घण्टे से अधिक का समय न लगे। कार्य अथवा व्यापार की अन्विति से यह अभिप्राय है कि नाट्यविषय का आरम्भ, मध्य तथा पर्यवसान निश्चित हो और सभी पात्र सभी दृश्य नाटकीय व्यापार की पूर्ति में सहायक हों।

मृच्छकटिक में इन तीनों अन्वितियों का यथेष्ट पालन हुआ इसका यहाँ विवेचन है।

स्थान की अन्विति

मृच्छकटिक में नाटक का समस्त व्यापार उज्जयिनी नगरी में होता है। पहले अंक का कार्यस्थल चारुदत्त का घर है जहाँ से कार्य का आरम्भ है। रदनिका एवं मैत्रेय जब गृहद्वार के पास आते हैं तब वसन्तसेना एवं उसका पीछा करने वाले शकार आदि से उनकी भेंट होती है। अवशिष्ट कार्य दरवाजे तथा घर के बाहरी प्रांगण में होता है। दूसरे अंक का कार्यस्थल वसन्तसेना का घर है जहाँ प्रारम्भिक दृश्य वसन्तसेना के अन्तरंग कक्ष से सम्बद्ध है। जुआरियों का खेल सड़क पर तथा मन्दिर में होता है। संवाहक के वसन्तसेना के घर पर भागकर घुसे आने से कार्य अन्तरंग कक्ष और बाहर भी सड़क के बीच होने लगता है। वसन्तसेना की अटारी पर चढ़कर चारुदत्त को देखते हुए कर्णपूरक के प्रवेश करने पर इस अंक का कार्य कक्ष के भीतर समाप्त हो जाता है। तीसरे अंक का कार्यस्थल चारुदत्त का घर है। यहाँ के दृश्य भी घर के भीतर सम्पन्न होते हैं। सन्धिच्छेद, शर्विलक द्वारा मैत्रेय से आभूषण की धरोहर प्राप्ति और चारुदत्त के शयनकक्ष में शर्विलक का आना यहाँ दिखाया गया है। चौथे अंक का कार्यारम्भ वसन्तसेना के घर होता है। मदनिका तथा शर्विलक का चुराये आभूषणों के सम्बन्ध में संभाषण, मैत्रेय का आगमन और उसका वसन्तसेना के महल के आठ प्रकोष्ठों का निरीक्षण इस अंक की विशेषता है। पंचम अंक का कार्यस्थल चारुदत्त का घर है जहाँ मैत्रेय का वसन्तसेना के घर से आगमन, चारुदत्त का बाहरी आंगन में वृक्षों के झुरमुट में दर्शन, वसन्तसेना का चारुदत्त से मिलन एवं मूसलाधार वर्षा के बीच प्रेमी-प्रेमिका का मिलन इस अंक की विशेषता है। छठे अंक का स्थल फिर चारुदत्त का घर है। वसन्तसेना का रात्रि बिताकर पुष्पकरण्डक उद्यान के लिए प्रस्थान यहाँ दिखाया गया है। यहाँ दृश्य बदल जाता है। प्रवहण विपर्यय एवं वीरक चन्दनक की झड़प आदि सभी कार्य जीर्णोद्यान वाली सड़क पर दिखाए गये हैं। सातवें अंक का स्थल वही पुष्पकरण्डक उद्यान है जहाँ चारुदत्त मैत्रेय के साथ

वसन्तसेना की प्रतीक्षा कर रहा था। वर्धमानक-चारुदत्त और एवं आर्यक का गाड़ी से भाग जाना तथा चारुदत्त का मैत्रेय के साथ उद्यान छोड़कर चले जाना यहाँ प्रदर्शित किया गया है। आठवें अंक की वसन्तसेना के कण्ठनिपीडन तथा प्राणरक्षा वाली पूरी घटना पुष्पकरण्डक में ही घटित होती है। नवें अंक में न्यायालय का चित्र चित्रित किया गया है। अन्तिम अंक का कार्यस्थल उज्जयिनी का राजमार्ग है जहाँ चाण्डालों द्वारा चारुदत्त को वध्यस्थल की ओर विशेष प्रदर्शन के साथ ले जाता हुआ दिखाया गया है। धूता के सती होने का उपक्रम एवं चारुदत्त और वसन्तसेना का मिलन इसी में दिखाकर प्रकरण की समाप्ति की गई है।

मृच्छकटिक का समस्त कथानक उज्जयिनी के अंतर्गत पात्रों की पहुँच के भीतर है। न्यायालय वाले दृश्य में वीरक का घोड़े पर चढ़कर जीर्णोद्यान में जाना और वसन्तसेना के वध के विषय में अपेक्षित सूचना लेकर आना मृच्छकटिककार की सफलता का प्रतीक है। इस रूप में मृच्छकटिक में स्थान की अन्विति की पूर्ण रक्षा हुई है।

समय की अन्विति

मृच्छकटिक में समय की अन्विति के पालन का प्रश्न विवादग्रस्त है। इस विषय में विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। मृच्छकटिककार द्वारा यद्यपि किस ऋतु एवं किस तिथि में नाटक के कार्य का प्रारम्भ हुआ स्पष्ट नहीं दिखाया है फिर भी अन्वेषकों ने इसे जानने का प्रयास किया है। एम० आर० काले ने इसका माघकृष्ण षष्ठी से आरम्भ मानकर नाट्य-व्यापार की अवधि को लगभग बीस दिन के अन्तर्गत दिखाया है और फाल्गुन शुक्ल एकादशी को उसकी समाप्ति दिखायी है।[1]

काले का अनुमान है, 'सिद्धीकृतदेवकार्यस्य' के स्थान पर 'षष्ठीकृतदेव-कार्यस्य' का पाठ आरम्भ में होगा जिससे कार्यारम्भ की सही तिथि षष्ठी ही मानना उचित है। चारुदत्त के लिए जो उत्तरीय लाया गया है वह चमेली के फूलों की सुगन्धि से सुवासित है। चमेली वसन्त में नहीं खिलती—'न स्याद् जाती वसन्ते'।[2] कार्य का आरम्भ वर्षाऋतु के प्रारम्भ में मानना उचित होगा क्योंकि तभी 'जातीकुसुमवासितः प्रावारकः' कहना उपयुक्त होगा। वसन्तसेना ने चमेली पुष्प से सुवासित उत्तरीय पर प्रसन्नतापूर्ण आश्चर्य भी प्रकट किया था।

---

१. एम० आर० काले : मृच्छकटिक, भूमिका, पृ० ४१।

२. साहित्यदर्पण ७–२५।

'अहो जातीकुसुमवासित प्रावारक' से तो इस बात का भी संकेत मिलता है कि शीत ऋतु अभी बीती नहीं है क्योंकि विदु रोहसेन प्रातःकाल शीत के कारण जाड़ों से काँपता दिखाया गया है। इस कारण भी नाटक का कार्यारम्भ माघ महीने के कृष्णपक्ष की षष्ठी को मानना उचित लगता है।[1]

आर० डी० करमरकर ने नाटक के आरम्भ के लिए एक भिन्न मास का निर्देश किया है। उनका कथन है कि कामदेवायतन में वसन्तोत्सव चैत्र शुक्ल चतुर्दशी अर्थात् मदन चतुर्दशी को मनाया गया होगा और उसी दिन वसन्तसेना एवं चारुदत्त की पहली भेंट हुई होगी। इसलिए प्रथम अंक का व्यापार उस दिन के बाद चैत्र कृष्ण षष्ठी को घटित हुआ होगा। 'गिरिकृतकार्यस्य" के वैकल्पिक पाठ 'षष्ठीकृतदेवकार्यस्य' को स्वीकार कर षष्ठीव्रत के लिए पृथ्वीधर की एक टिप्पणी की सहायता ली गयी है कि यहाँ अरण्यषष्ठी का व्रत से अभिप्राय लेना चाहिए जो ग्रीष्म ऋतु का उत्सव है। अतएव नाटकीय कार्य चैत्र के मध्य से प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए। पाँचवें अंक में जिस असामयिक वर्षा इत्यादि का कथन हुआ है वह भी वैशाख मास की ओर संकेत करता है। इस प्रकार करमरकर, भाट इत्यादि के अनुसार नाटकीय व्यापार आधे चैत्र से लेकर लगभग आधे वैशाख तक घटित माना जाना चाहिए। यह दोनों विद्वान् लगभग तीन सप्ताह का समय मानते हैं।[2]

'एतस्या प्रदोषवेलायां इह राजमार्गे' एवं 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'—आदि से ऐसा अनुमान है कि पहले अंक में कार्यारंभ माघ कृष्ण षष्ठी की रात को लगभग भी बजे प्रारम्भ होता है और लगभग दो घण्टे बाद समाप्त हुआ है क्योंकि वसन्तसेना के घर लौटते समय चन्द्रोदय हो जाता है और राजमार्ग निर्जन प्रतीत होता है।

प्रस्तावना वाले दृश्य का कार्य भी उस दिन लगभग सायंकाल तक चला है। 'चिरसंगीतोपासना' वाली उक्ति से स्पष्ट है कि संगीत का कार्यक्रम बहुत देर तक चलने के कारण सूत्रधार प्रातःकाल का भोजन भी नहीं कर सका और भूख से व्याकुल है। द्वितीय अङ्क में चेटी की उक्ति से 'आर्ये ! माता आदि-शति स्नाता भूत्वा देवानां पूजां निर्वर्तय इति' ज्ञात होता है कि वसन्तसेना ने अभी स्नान नहीं किया है। अतः निश्चित है कि दूसरा अंक दूसरे दिन प्रातः

१. डा० रमाशंकर तिवारी महाकवि शूद्रक, पृ० २५७।
२. (अ) करमरकर मृच्छकटिक भूमिका, पृ० २०–२१।
(आ) डा० जी० के भाट प्रीफेस टु मृच्छकटिक, पृ० १२६–२८।

काल से आरम्भ होता है। इसी अंक में आगे चलकर बताया गया है कि चारुदत्त ने कर्णपूरक को सुगन्धित उत्तरीय पुरस्कार रूप में दे दिया है। इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूरी घटना पहले अंक के दूसरे ही दिन प्रातःकाल हुई है। जुआरियों वाले प्रसंग का समय ध्यान में रखते हुए और उसके बाद कर्णपूरक द्वारा बौद्ध भिक्षु के प्राण बचाये जाने की घटना पर विचार करते हुए इस अंक का सम्पूर्ण व्यापार दो घण्टे के भीतर हुआ ज्ञात होता है।

तीसरे अंक में चारुदत्त रात को रेभिल के घर गाना सुनने जाता है और आधी रात बीतने पर वापिस लौटता है। 'अतिक्रमति अर्द्धरजनी' एवं 'असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः'[1] यहाँ क्षीण होते हुए चन्द्रमा के अन्धकार को अवकाश देकर अस्ताचल की ओर जाते हुए बताया है। इसके आधार पर काले का कहना है कि यह चन्द्रमा फाल्गुन के शुक्लपक्ष की दशमी तिथि का होना चाहिए। इस प्रकार दूसरे और तीसरे अंकों के बीच एक पखवारे से अधिक समय का बीतना सम्भव है।[2] विदूषक आभूषणों की रक्षा के लिए रात जागता है और चारुदत्त वर्षोद्‌गार-रूप में रखे अपहृत आभूषणों को भूल सा जाता है। यह लम्बा समय इस बात का द्योतक है कि दूसरे तथा तीसरे अंक के बीच एक पखवारे का समय व्यतीत हुआ है। तीसरे अंक का कार्य अर्द्धरात्रि के लगभग आरम्भ होता है और चार-पाँच घण्टे में समाप्त हो जाता है। इसी बीच चारुदत्त और मैत्रेय का सोना दिखाया गया है तथा शर्विलक ने सेंध लगायी है। सूर्योदय के होने पर सेंध का पता लगता है। मैत्रेय को वसन्तसेना के घर रत्नावली के साथ भेजकर चारुदत्त आवश्यक प्रातः क्रियाओं से निवृत्त होता है। चौथे अंक में दूसरे दिन सेंधच्छेद के बाद शर्विलक मदनिका की मुक्ति के लिए आभूषण लेकर वसन्तसेना के घर गया है और मदनिका से कहता है—'आर्ये! प्रत्यूषे मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे यथा सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य' इति। प्रातःकाल पता चला कि यह आभूषण चारुदत्त का है। इससे ज्ञात होता है कि प्रातःकाल आठ बजे के लगभग शर्विलक वसन्तसेना के घर गया। इसी समय मैत्रेय द्वारा वसन्तसेना के प्रासाद के आठ प्रकोष्ठों का अवलोकन एवम् वसन्तसेना को रत्नावली देकर उसके उत्तर का चारुदत्त से कथन इस बात के सूचक हैं कि इसमें दो-ढाई घण्टे लगे होंगे। इस अंक की समाप्ति तक वसन्तसेना चारुदत्त के घर अभिसार करती हुई भी दिखायी गयी है और थोड़ा सा समय सन्ध्या को सूर्यास्त

---

१. मृच्छकटिक ३।

२. एम० आर० काले : मृच्छकटिक भूमिका, पृ० ४४।

के आसपास ही होना चाहिए जब शृङ्गारादि से युक्त होकर वसन्तसेना चारुदत्त के घर अभिसार करती है।

पाँचवें अंक का कार्यारम्भ चौथे अंक के दिन की रात में होता है। अकाल-दुर्दिन में वसन्तसेना चारुदत्त के घर गयी है। आधी रात तक चलने वाले विभिन्न शिष्टाचार में लगभग दो घण्टे का समय व्यतीत होना सम्भव है। फिर वसन्तसेना ने वहीं चारुदत्त के साथ रात्रि भी बितायी।

छठे अंक का कार्यारम्भ ठीक दूसरे दिन प्रातःकाल हुआ है। 'हञ्जे! सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये' रात मैंने इन्हें अच्छी प्रकार से नहीं देखा आज दिन में अच्छी तरह देखूँगी। गाड़ियों का परस्पर बदल जाना, चन्दनक तथा वीरक की कलह एवं आर्यक के पलायन में दो-तीन घण्टे का समय यह सब कुछ लगभग प्रातः आठ से ग्यारह बजे दिन का प्रतीत होता है।

सातवें अंक का कार्य छठे अंक की समाप्ति के सिलसिले में आरम्भ होता है। आर्यक की चारुदत्त से भेंट तथा चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर उसका सुरक्षित स्थान में पहुँचना, एक घण्टे में बारह बजे तक समाप्त होना चाहिए।

आठवें अंक का कार्यारम्भ सम्भवतः पिछले अंक के दिन ही हुआ है। इसी समय बौद्ध भिक्षु का उद्यान में प्रवेश चारुदत्त के जीर्णोद्यान छोड़ते समय दिखाया गया है। वसन्तसेना का वहाँ पहुँचना, उसका कण्ठ निपीड़न, उपासक श्रमण द्वारा उसकी प्राण रक्षा—इन सभी कार्यों के सम्पन्न होने में तीन-चार घण्टे का समय लगा होगा। स्थावरक चेट का विलम्ब से गाड़ी लेकर पहुँचना, शकार का यह कहना 'चिरमस्मि बुभुक्षितः मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम्' दोपहर के समय चेटक नहीं पहुँचा, सूर्य आकाश के मध्यभाग में पहुँच गया है। इस स्थिति में समय का अधिक बीत जाना इस बात का परिचायक है कि इस अंक का कार्य मध्याह्न के लगभग आरम्भ होकर अपराह्न में लगभग चार बजे तक समाप्त हुआ है। अतएव छठे से आठवें अंक तक कार्य एक ही दिन में समाप्त समझना चाहिए।

वीरक की इस उक्ति से 'मगुतोभवत एव कथमपि रात्रि प्रभाता' में चन्दनक से अपमानित होकर उसने एक रात बिताई है। ज्ञात होता है कि नवाँ अंक दूसरे दिन के प्रातःकाल से आरम्भ होता है। अभियोग के विचार और निर्णय में दो-तीन घण्टे का समय तो लग सकता है। तदनन्तर चारुदत्त चाण्डालों की देखभाल में सौंप दिया जाता है और उन्हें आज्ञा दी जाती है कि वे अपने

कर्तव्य सम्पादन के लिए प्रस्तुत हो जायें। इस भाँति दस-ग्यारह बजे दिन तक यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा।

विमर्द के बाद चारुदत्त चाण्डालों द्वारा श्मशान ले जाया जाता है, अतः दसवें अंक का आरम्भ नवें अंक की समाप्ति के कुछ घण्टों बाद समझना चाहिए।

डा० राइडर इत्यादि कुछ विद्वानों का कथन है कि यह कार्य नवें अंक के दूसरे दिन सम्पन्न हुआ किन्तु ऐसा समझना युक्तिसंगत नहीं है, कारण कि यदि चारुदत्त के निर्णय के दूसरे दिन इस अंक का कार्यक्रम होता तो चारुदत्त जैसे सत्यनिष्ठ एवं उदारमना व्यक्ति के मृत्युदण्ड का संवाद संपूर्ण नगरी में मिनटों में फैल जाता और तब वसंतसेना एवं संवाहक भिक्षु तत्काल उसकी प्राणरक्षा के निमित्त उपस्थित हो जाते पर वे दोनों चारुदत्त की विपत्ति का संवाद चाण्डालों की घोषणा द्वारा सड़क पर सुनते हैं। पुनः यदि नवें तथा दसवें अंकों के बीच एक दिन का अंतराल रहा होता तो चारुदत्त और उसके पुत्र की भेंट जो मंत्रेय द्वारा सम्पन्न कराई जा रही है राजमार्ग पर नहीं अपितु उस जगह पर हुई होती जहाँ रातभर चारुदत्त बंदीगृह में रखा गया था। इन दोनों तथ्यों के आलोक में यही मानना उचित है कि प्रस्तुत अंक पिछले अंक की पीठ पर ही उसी दिन अपराह्न में घटित हुआ है।[1] शकार के भोजन का समय, चारुदत्त की मृत्यु का उन्मा जुलूस तथा शर्विलक द्वारा महाराजा के पालक की हत्या अपराह्न की ओर संकेत करते हैं। प्रस्तुत अंक का घटना-समय तीन-चार घण्टे का ज्ञात होता है। अतः प्रतीत होता है कि नाटक का संपूर्ण व्यापार सूर्यास्त तक उस दिन चलता रहा है।

इस भाँति लगभग तीन सप्ताह की अवधि में नाटक का कार्य समाप्त होता है। संस्कृत के नाट्याचार्यों के नियमानुसार एक अंक की घटनाओं के लिए एक दिन से अधिक का समय अपेक्षित नहीं है। सभी घटनाएँ जो समय सीमा में समाहित नहीं होती उन्हें प्रवेशक में दिखाया जाए। प्रवेशक के लिए भी विधान है कि उसमें वर्णित घटनाओं की अवधि एक वर्ष से अधिक न हो[2]। प्रवेशक-

१. एम० आर० काले : मृच्छकटिक भूमिका, पृ० ४५।

२. दिवसावसानकार्यं यद्यङ्केनोपपद्यते सर्वम्।
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम्॥
अंकच्छेदे कुर्यान्मासकृतं वर्षसंचितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचन॥ नाट्यशास्त्र २०।२८-२९।

सम्बन्धी विधान के उल्लेख को छोड़कर संस्कृत नाटककारों ने नियमों का प्रायः पालन किया है। मृच्छकटिक के किसी भी अंक में ऐसी घटनाएं समाविष्ट नहीं हैं जिनकी अवधि एक दिन से अधिक हो। घटनाओं का सामञ्जस्य परस्पर सुन्दर है। दूसरे तथा तीसरे अंकों के बीच लगभग एक पक्ष का व्यवधान है। भारतीय विधान के अनुसार मृच्छकटिक में समय की अन्विति का पालन हुआ है पर पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों के अनुसार समय की अन्विति यथावत नहीं हुई है। पाश्चात्य नाटककार शेक्सपीयर जैसे स्वयं भी इसके अपवाद हैं जैसे मृच्छकटिक का अभिनय देखते समय अथवा इसे पढ़ते समय प्रेक्षक अथवा पाठक इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें समय का ध्यान नहीं रहता।

व्यापार की अन्विति

मृच्छकटिक का प्रधान उद्देश्य चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रणय परिपाक है। इसमें वारवनिता वसन्तसेना अपने हार्दिक प्रेम की सच्चाई के कारण ब्राह्मण सार्थवाह की वैध वधू बनी है। यह प्रकरण अपनी योजना एवं उद्देश्य में एकदम निराला है। इसमें प्रदर्शित प्रेम अपनी उपलब्धि में लोक-निरपेक्ष एवं एकान्त नहीं है। एक ओर संस्थानक वसन्तसेना के प्यार को बलपूर्वक प्रलोभनों से शकार के पक्ष में वाञ्छित रूप में जीतना चाहता है। दूसरी ओर चारुदत्त निर्धन एवं संकुचित है जो वसन्तसेना को जीतने के लिए स्वयं आगे नहीं बढ़ता। वसन्तसेना भी प्रणयव्यापार में अकेली रत नहीं है। उसकी प्रिय चेटी मदनिका शर्विलक में अनुरक्त है। शर्विलक चोर होने के साथ-साथ राजद्रोही भी है। पात्रों में एक संवाहक जुआरी है जो चारुदत्त से सम्बन्धित है। राज्य-परिवर्तन की योजना भी नाटककार के मन में है। यदि शकार के कारण यह सन्देह है कि चारुदत्त वसन्तसेना का मिलन सुगम एवं निरापद नहीं है तो शर्विलक के कथन से यह स्पष्ट है कि राजा पालक के अन्त के लिए हिंसा भी सम्भव है। कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि संघर्ष, कपट एवं हिंसा के प्रतिकूल वातावरण में प्रणय-पादप सूख जाएगा। एक ओर चारुदत्त सज्जन एवं उदार है तो दूसरी ओर शकार दुष्ट एवं नृशंस है। वसंतसेना का झुकाव चारुदत्त की ओर है। शकार से उसे घृणा है पर एक तो वेश्या होने के कारण, दूसरे विषम परिस्थितियों में उलझी हुई वह उद्विग्न माता के सहारे आगे बढ़ती ही जाती है। राज्यविप्लव से उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। मृच्छकटिक का जटिल कथानक यह सन्देह पैदा करता है कि नाटकीय व्यापार में अन्विति की रक्षा हो भी सकेगी। प्रस्तावना में नाटक के अंतिम प्रयोजन की ओर संकेत, चारुदत्त एवं वसन्तसेना का

सुरतोत्सव, नीति-प्रचार, दुष्ट व्यवहार, दुर्जन-स्वभाव एवं भाग्य की अनियमित लीलायें प्रेक्षकों एवं पाठकों को सन्देह में डाल देती हैं कि किस भाँति बहुमुखी प्रयोजन की सिद्धि के साथ कार्यान्विति की रक्षा होगी।

> तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं, नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
> खलस्वभावं भवितव्यता तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः॥[1]

कुछ अनावश्यक प्रसंगों को छोड़कर यह निश्चित है कि मृच्छकटिक में वस्तु-संघटन सम्गुम्फित है और उसके विभिन्न खण्ड मुख्य ध्येय की पूर्ति में संलग्न हैं। यद्यपि राजनीतिक विप्लव वाला मन्द कथानक कुछ असंबद्ध अवश्य लगता है पर मृच्छकटिककार ने अपनी प्रतिभा से उसे ऐसा संजोया है कि संपूर्ण नाटक में व्यापार की अन्विति सुन्दर प्रतीत होती है। संवाहक एक ओर जुआरी है। नायक से भी उसका संपर्क रह चुका है। विचित्र ढंग से वह वसन्तसेना से संबंधित हो जाता है। इस भाँति चारुदत्त से उपकृत होकर वह उपकारी के रूप में सामने आता है। शर्विलक चारुदत्त के यहाँ एक ओर सेंधच्छेद करता है तो दूसरी ओर राजद्रोह का नायक बनकर उसे अन्त में कुशावती राज्य के दान से पुरस्कृत करने के लिए उत्सुक है। अपहृत आभूषणों को भेंट दे वह वसन्तसेना द्वारा मदनिका को प्राप्त करने में भी सफल हो जाता है। ब्राह्मण चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कहानी समस्त राज्य और राजधानी से सम्बन्धित होकर प्रकरण की समाप्ति पर राज्यविप्लव के साथ सुन्दर रूप में विलीन हो गयी है। नाटकीय घटनाओं की तीव्र गति के साथ ध्यान मुख्य कहानी एवं पात्रों की ओर खिंचता जाता है। यद्यपि पाँचवें अंक के पश्चात् कथानक की प्रगति में विराम सा झलकता है पर कार्य-संकलन में इससे कोई बाधा नहीं होती। प्रकरण का आरम्भ जिन परिस्थितियों में हुआ है उसका निर्वाह अन्त में सुन्दर दिखाई देता है।

कार्यान्विति का एक और रूप भी हमारे सामने है। सातवें अंक में राज्य-विरोध का केन्द्रीय व्यक्ति आर्यक है पर वह चारुदत्त से उपकृत होकर उसके सामने नतमस्तक हो जाता है और मैत्री के प्रतिदान रूप में कृतज्ञता प्रकाशित करता है। रंगमंच पर आर्यक के उपस्थित न होने के कारण भी चारुदत्त का महत्व बढ़ गया है। उसकी अनुपस्थिति में वसन्तसेना के कार्य-कलाप उसे स्मृति से ओझल नहीं होने देते। नाट्यकार्य की प्रकृति इस रूप में व्यापार की अन्विति में पोषक और सहायक बन जाती है। शकार को छोड़कर सभी का चारुदत्त से सौहार्द है। इसीलिए उसे आर्य चारुदत्त के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। नाटकें

[1] मृच्छकटिक १-७।

अंक में शकार के द्वारा हत्या की धमकी से वसन्तसेना चारुदत्त को पुकारती है। उसी से चिढ़कर वह उसका गला घोंट देता है। इस भाँति सारा नाटक ही चारुदत्त के कार्यकलापों से ओतप्रोत है। नाटकीय कार्य-सम्पादन की दशा में इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का सहयोग सराहनीय है।

समस्त प्रकरण के कथानक, उपकथानक एवं पात्रों के कार्य-व्यापार नाटकीय अन्वितियों के पोषक हैं।

सोपान विश्लेषण

'काव्येषु नाटकं रम्यं' इस उक्ति के अनुसार काव्यों में नाटक रमणीय है। नाट्यरचना भी कला के अन्तर्गत है और कला के विविध रूपों में इसका प्रमुख स्थान है। आनन्द की ओर मानव की प्रवृत्ति स्वभावतः रही है जिसकी उपलब्धि कला के द्वारा होती है। यद्यपि श्रव्य काव्य एवं के माध्यम से इस दिशा में उपयोगी हैं किन्तु रूपक (दृश्य काव्य) दर्शक को उससे भी कहीं अधिक और शीघ्र रसानन्द में मग्न कर देते हैं। नाटकीय पात्रों द्वारा उनके क्रिया-कलाप जब आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तब उनका प्रभाव निश्चय ही स्थायी होता है। अतः नाट्यसाहित्य ज्ञान वृद्धि के लिए बहुत उपयुक्त है। नाट्यकला का उद्भव सृष्टि के प्रारम्भ से ही समझा जाता है। मानव की ज्ञान-वृद्धि के साथ इसका विकास निरन्तर होता रहा है और किसी न किसी रूप में होता ही रहता है। ऋग्वेद में और वैदिकोत्तर प्राचीन साहित्य में इसकी चर्चा विभिन्न रूपों में देखी जाती है।

रूपक के अन्तर्गत मृच्छकटिक एक प्रकरण है। यद्यपि संस्कृत में अनेक रूपक लिखे गये पर इसके रचयिता ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। यही कारण है कि जहाँ अन्य रूपक केवल प्रणय अथवा राजनीतिक अथवा सामाजिक विषय लेकर चले हैं वहाँ मृच्छकटिककार की यह कुशलता रही है कि उसने एक ही प्रकरण में सबका समन्वय दिखाया है और साथ ही यह व्यक्त किया है कि इस दिशा में व्यापक सुधार होना चाहिए जिससे केवल एक मानव की अभीष्ट सिद्धि नहीं वरन् मानव-समुदाय की अभीष्ट सिद्धि हो। मृच्छकटिककार ने यथार्थवाद के द्वारा वांछित आदर्शवाद को प्रस्तुत किया है। तत्कालीन समाज का इसमें सच्चा चित्रण है।

अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के द्वारा इसका रचनाकाल अनुमानतः गुप्त-साम्राज्य के पतन से आरम्भ होकर हर्षवर्धन के शासनकाल तक प्रमाणित समझा गया है। मृच्छकटिक के लेखक का जहाँ तक सम्बन्ध है यह भी एक विवाद

का विषय बना हुआ है। यदि तत्कालीन किसी प्रसिद्ध राजा शूद्रक को इसका लेखक मानते हैं तब तो इसकी पुष्टि नहीं होती, यदि नहीं मानते तो और कोई युक्तिसंगत प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता। अतः मृच्छकटिक की पाण्डित्यपूर्ण रचना को देखकर यह निश्चय होता है कि इसका लेखक अवश्य ही कोई अनुपम दाक्षिणात्य विद्वान् होगा जिसे तत्कालीन प्रचलित सभी भाषाओं का ज्ञान होगा और जिसके मन में उस समय की स्थिति को प्रकाश में लाने के लिए एक अन्त-र्द्वन्द्व रहा होगा। ऐसा मानने से मृच्छकटिक की कथावस्तु और उसके संविधान का औचित्य ऐसे महाकवि के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

जहाँ तक शूद्रक नाम का सम्बन्ध है यह कल्पना भी अनुचित न होगा कि इस नाम का कोई गोपालक, आर्यक की भाँति शूद्रक भी राजा रहा होगा अतः इस विचार को लेते हुए मृच्छकटिक के सम्बन्ध में दाक्षिणात्य कवि राजा शूद्रक का मानना सर्वथा समीचीन है।

चारुदत्त और मृच्छकटिक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भास का प्रभाव शूद्रक पर स्वाभाविक है किन्तु कथावस्तु और संविधान की दृष्टि से भास ने जिसको संकोचपूर्वक प्रस्तुत किया, शूद्रक ने उसी को अपनी विद्वता के आधार पर निःसंकोच व्यक्त किया। प्रकरण का 'मृच्छकटिक' नाम भी सार्थक है। इसके अन्त तक मिट्टी की गाड़ी में रखे हुए आभूषण चारुदत्त और वसन्तसेना को इस प्रकार वियुक्त और संयुक्त करने में साधन बने रहे कि यही जानना कठिन हो जाता है कि इस प्रकरण का अन्त सुखान्त होगा अथवा दुःखान्त।

इसके घटनाविन्यास एवं कालक्रम का भी औचित्य सराहनीय है। यही कारण है कि इसमें नाटकीय अन्वितियों का निर्वाह सुन्दर हुआ है।

मृच्छकटिक पर प्राप्त साहित्य पर्याप्त है और इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि विदेशों में इस कृति का सम्मान भारत से कहीं अधिक हुआ है। इसका एकमात्र कारण इसकी यथार्थवादिता है।

मृच्छकटिक का रहस्य एवं वैशिष्ट्य

भारतीय संस्कृत रूपकों में मृच्छकटिक का अपना एक विशिष्ट स्थान है पर पाश्चात्य नाटकों से तुलनात्मक विवेचन करते हुए पश्चिमीय नाटककारों ने मृच्छकटिक को सर्वोत्तम माना है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के पश्चात् उन्होंने मृच्छकटिक उनकी दृष्टि में जँचा है। जिस किसी पाश्चात्य विद्वान् की नाटकों की आलोचना आप देखेंगे निश्चय ही मृच्छकटिक की चर्चा उसमें पाएँगे। कई स्थानों पर विदेशों में यह नाटक रंगमंच पर खेला गया है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि यही एक ऐसा नाटक है जो हमारे यथार्थ जीवन को आदर्श की ओर प्रस्तुत करता है।

नाटकीय रहस्य

मृच्छकटिक में उस समय के ब्राह्मणों का पतन, बौद्ध धर्म के प्रति एकांगी दृष्टिकोण, राजा के सम्बन्धियों का न्यायालय एवं पुलिस पर दबाव आदि इस बात के द्योतक हैं कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति एवं राजनैतिक स्थिति बहुत बिगड़ चुकी थी। अतः क्रान्तिकारी रचयिता इसी से जनता को अवगत कराना चाहता था।

मृच्छकटिक एक प्रकरण है। पड़ोसी के पुत्र के पास सोने की गाड़ी देखकर चारुदत्त के पुत्र रोहसेन के मचल जाने से और वसन्तसेना द्वारा अपने आभूषणों को उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी मिट्टी की गाड़ी पर डाल देने से इसका नाम मृच्छकटिक रखा गया।

न केवल संस्कृत साहित्य में वरन् विश्व के रूपकों में मृच्छकटिक का स्थान महत्वपूर्ण है। इसकी लोकप्रियता इसी से स्पष्ट है कि विश्व की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

मृच्छकटिक की कथावस्तु एवं अंक परिचय

प्रसिद्धि के नाते यदि कालिदास के एक ओर काव्य, नाटक और गीतिकाव्य उपलब्ध हैं तो दूसरी ओर प्रकरण के रूप में शूद्रक का मृच्छकटिक है। इसमें दस अंक हैं। प्रथम का नाम 'अलंकार न्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना को राजा का स्यालक शकार अपने प्रेमजाल में फँसाना चाहता है। उसका अनुगमन करते हुए शकार के कथन से वसन्तसेना को ज्ञात हो जाता है कि यह आर्य चारुदत्त के मकान के पास है। वह उसी मकान में प्रविष्ट हो जाती है और शकार विदूषक के झिड़कने से बाहर रह जाता है। चारुदत्त से समागम के पश्चात् वसन्तसेना अपने आभूषण उसके घर रख जाती है। यहीं अंक की समाप्ति है।

द्वितीय अंक का नाम 'द्यूतकर संवाहक' है। इसमें आरंभ में दूसरे दिन प्रातः दो घटनाएँ होती हैं। चारुदत्त की सेवा में तत्पर रहने वाला संवाहक बाद में पक्का जुआरी बन जाता है और जुए में बहुत सा धन हारने के बाद भागकर वसन्तसेना के घर पहुँचता है। वह उसे चारुदत्त का पुराना भृत्य समझकर अपने हस्ताभरण द्वारा जुए के ऋण से मुक्त कर देती है। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन

जाता है। संयोग से उसी दिन प्रातःकाल वसन्तसेना का दुष्टमोदक-हाथी मार्ग में किसी भिक्षु को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचा लेता है। चारुदत्त इस कृत्य के लिए कर्णपूरक को अपना बहुमूल्य दुशाला भेंट में देता है जिसे वह अपने पराक्रम का वृत्तान्त सुनाते हुए वसन्तसेना को अर्पित कर देता है। वसन्तसेना इसे पाकर खुशी से फूली नहीं समाती और उसे ओढ़ कर अपने महल की सबसे ऊँची छत पर पहुँच जाती है। यहीं अंक की समाप्ति है।

तृतीय अंक का नाम 'सन्धिविच्छेद' है। इसमें शर्विलक वसन्तसेना की दासी मदनिका को सेवा कार्य से मुक्त कराना चाहता है पर वसन्तसेना को मदनिका की मुक्ति हेतु बिना कुछ दिए उसे मुक्त नहीं कराया जा सकता, यही सोचकर ब्राह्मण होते हुए भी शर्विलक ने आर्य चारुदत्त के घर सेंध लगाकर आभूषण चुराए और उन्हें वसन्तसेना को सौंपकर मदनिका को अपनी प्रेयसी बनाने की इच्छा पूर्ण करनी चाही। दूसरी ओर धूता अपने पति चारुदत्त को अपयश से बचाने के लिए अपनी रत्नमाला विदूषक को इसलिए देती है कि वह उसे वसन्तसेना के सुवर्ण भाण्ड के बदले उसके घर भेज दे। चारुदत्त विदूषक के साथ उन्हें वसन्तसेना के घर भिजवा देता है और वर्धमानक को सेंध बन्द करने का आदेश देता है। यहीं अंक की समाप्ति है।

चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका शर्विलक' है। इसमें शर्विलक अलंकार लेकर वसन्तसेना के घर पहुँचता है। मदनिका से भेंट होने पर वह अलंकारसम्बन्धी चोरी की पूरी कहानी उसे सुना देता है। मदनिका अलंकारों को पहचान लेती है और स्वयं उन्हें वसन्तसेना को देने के लिए शर्विलक से कहती है। शर्विलक अपने को चारुदत्त का आदमी बताते हुए वैसा ही करता है। वसन्तसेना मदनिका को उसकी वधू बनाकर गाड़ी में उसके साथ बिठाकर विदा कर देती है। इधर विदूषक चारुदत्त द्वारा भेजी हुई रत्नावली वसन्तसेना को सौंप देता है। वसन्तसेना रत्नावली ग्रहण करके विदूषक को लौटने के लिए कह देती है। साथ में चारुदत्त के लिए सन्देश भिजवाती है कि वह सायंकाल उनसे मिलने आएगी। इसी अंक में विदूषक ने वसन्तसेना के सुन्दर महल के प्रकोष्ठों को भलीभाँति देखा और उनकी सराहना की। यहीं अंक समाप्त हो जाता है।

पंचम अंक का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है। चारुदत्त वसन्तसेना से मिलन होने पर उसका स्वागत करता है। विदूषक से वसन्तसेना के आगमन का कारण पूछे जाने पर चेटी कहती है कि

कि वसन्तसेना का वध करने वाला चारुदत्त नहीं वरन् शकार है। शकार जब यह सुनता है तब चाण्डालों को विश्वास दिलाने के लिए स्थावरक को अपना सुवर्णस्तेयी बताकर अपराधी ठहराता है और उसके अपने प्रतिकूल बोलने का कारण भी यही बताता है। चाण्डाल इसको सत्य मान लेते हैं। इतने में भिक्षु और वसन्तसेना चारुदत्त के प्राणदण्ड की घोषणा सुनते हैं। वे तेजी से वध्य-स्थान की ओर बढ़ते हैं। उनके पहुँचने से पूर्व ही एक चाण्डाल चारुदत्त पर खड्ग चलाता है पर सफल नहीं होता। फिर जैसे ही चाण्डाल चारुदत्त को सूली पर चढ़ाना चाहते हैं भिक्षु और वसन्तसेना वहाँ पहुँच जाते हैं। यह देख कर सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं तथा चाण्डाल यह समाचार राजा को देते हैं। शकार यह देखकर भाग जाता है। वसन्तसेना और भिक्षु को देखकर चारुदत्त फूले नहीं समाते।

इसी समय राज्य-परिवर्तन हो जाता है तथा राजा पालक के स्थान पर आर्यक राजा हो जाता है। वह चारुदत्त को मुक्ति तथा शकार को प्राणदण्ड का आदेश देता है। चारुदत्त अपने उदार स्वभाव के कारण शकार को क्षमा कर देता है।

इधर चन्दनक यह समाचार देता है कि चारुदत्त की पत्नी धूता सती हो रही है। चारुदत्त धूता को सती होने से बचा लेते हैं। धूता प्रसन्न हो जाती है तथा वसन्तसेना का आलिंगन करती है। चारुदत्त तथा वसन्तसेना का विवाह हो जाता है। भिक्षु समस्त विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। स्थावरक को शकार की दासता से मुक्त कर दिया जाता है। चन्दनक को पृथ्वी दण्डपालक का पद दे दिया जाता है और यथायोग्य शकार को क्षमाकर उसका अधिकार अस्थायी रूप से पूर्ववत् बना दिया जाता है। इसी के साथ ग्रन्थ की समाप्ति है।

प्रधान नायक एवं नायिका का विवेचन

चारुदत्त—अपेक्षाकृत रूपक में नायक का विशेष स्थान है। कथावस्तु का सारा चमत्कार नायक पर ही निर्भर है। यद्यपि अन्य सभी पात्रों का उसे सहयोग प्राप्त होता है फिर भी उसका अपना वैशिष्ट्य न हो तो सभी कुछ व्यर्थ रहता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक का नायक विनयी, प्रियदर्शन, त्यागी, दक्ष, लोकप्रिय, मधुरभाषी, पवित्र, वाग्मी, कुलीन, स्थिर, विचारवान् युवक, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मृतिवान्, कलाकार, स्वाभिमानी वीर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रानु-

त्यागी और धार्मिक होना चाहिए।[1] नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत।

इस प्रकरण का नायक चारुदत्त है। वह नायकोचित सभी गुणों से युक्त है। विद्वानों ने इसको धीरप्रशान्त नायक माना है।[2] दशरूपक के अनुसार भी धीरप्रशान्त का निम्नलिखित लक्षण है—"सामान्यगुणैर्युक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।"

यह ब्राह्मण द्विज है। प्रस्तावना में सूत्रधार ने कहा है—"अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहः" द्विज शब्द का अर्थ टीकाकारों ने ब्राह्मण किया है। दशम अंक में चारुदत्त ने भी अपने को ब्राह्मण बताया है। अपने पुत्र को दाय के रूप में अपना यज्ञोपवीत देते हुए वह कहता है—

'अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्', पर वह सार्थवाह है अर्थात् व्यापारियों के काफिले का नेता है। उसने अपने पूर्वजों से अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त की। निर्धन दशा में भी वह अपने दान, परोपकार, उदारता और दयाशीलता आदि गुणों के कारण नगरवासियों के हृदय में श्रद्धा का पात्र बना हुआ है। प्रथम अंक में उसके सम्बन्ध में कहा भी गया है—'दीनानाम् कल्पवृक्षः'। इत्यादि। उसे प्रियदर्शन भी बताया है—'पश्यादृश प्रियदर्शनं'। न्यायाधीश से लेकर चाण्डालपर्यन्त यथा विट, चेट आदि सभी उसके प्रति आदर तथा अगाध स्नेह रखते हैं। वह अपने छोटों से स्नेह मानता है और बड़ों के प्रति सम्मान दिखाता है।

चारुदत्त स्वभाव से अत्यन्त उदार और दयावान् है। जब कोई प्रशंसनीय कार्य करता है अथवा उसे शुभ समाचार सुनाता है तब वह उसे अवश्य पुरस्कृत करता है। कर्णपूरक को उसने अपना दुशाला तक प्रेम में दे डाला। अपनी उदारता के कारण शर्विलक द्वारा आभूषण चुराये जाने पर भी वह सम्पन्न है। उसे निर्धनता के कारण अपनी कीर्ति की बड़ी चिन्ता है। वह कहता है—

---

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ दशरूपक २-१,२

२. सामान्यगुणैर्युक्तान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्॥ सा० दर्पण (३-३४)

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति ।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ मृ० क० ३-२४

अर्थात् वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा ? सभी मुझे दोषी कहेंगे क्योंकि इस संसार में निर्धनता सभी आशंकाओं का एकमात्र कारण है। विदूषक के प्रेरित करने पर भी वह झूठ बोलने को उद्यत नहीं है। वह कहता है :—

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥ मृ० क० (३-२६)

अर्थात् भिक्षा के द्वारा धरोहर योग्य धन का उपार्जन करना उसे ठीक लगता है पर चरित्र को कलंकित करने वाले मिथ्या भाषण से घृणा है। हाँ, कभी-कभी अपनी कीर्ति की रक्षा करने, दूसरों की भलाई करने एवं अपने को दूसरों की दया का पात्र बनने से बचने के लिए वह झूठ भी बोल देता है। विदूषक के द्वारा वह वसन्तसेना से कहलाता है कि मैं तुम्हारे आभूषण अपने समझकर जुए में हार गया हूँ। उनके बदले में यह रत्नावली स्वीकार की जाए। कहने को यह झूठ है पर दूसरों को हानि पहुँचाने वाला झूठ नहीं है। यह तो अपनी कीर्ति की रक्षा करने, वसन्तसेना को अर्थ की हानि से बचाने तथा अपने को वसन्तसेना की दया का पात्र बनने से बचने के लिए बोला गया झूठ है। वह सेवकों के प्रति दयालु है इसी से सोती हुई रदनिका को जगाना नहीं चाहता 'मा सुप्तजनं प्रबोधयितुम्'। पशु-पक्षियों के प्रति भी वह करुणा दिखाता है। अपनी उदारता के कारण ही वह दरिद्रता को मौत से भी अधिक कष्टदायक समझता है

एतत्तु मां दहति, यद्गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति ।
संशुष्क-सान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः,
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥ मृ० क० (१-१२)

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य,
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ मृ० क० (१-१३)

अर्थात् चारुदत्त को इस बात से दुःख है कि दीनता के कारण अतिथियों ने उसके यहाँ आना छोड़ दिया है। उसे निर्धनता का दुःख नहीं क्योंकि धन तो

आने-जाने वाली वस्तु है पर उसके मित्रों ने उसकी ओर से मुख मोड़ लिया, यही मानसिक कष्ट है।

चारुदत्त शरणागत की रक्षा करता है। आर्यक की उसने रक्षा की तथा शकार के चरण में आ जाने पर उसे प्राणों का अभयदान दिया। मृत्युदण्ड पाने पर भी उसे भय नहीं है, केवल दुःख है तो अपनी प्रतिष्ठा के भंग होने का ही है—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः। मृ० क० (१०-२७)

चारुदत्त की कुछ ऐसी ही विशेषताओं ने वसन्तसेना को उसकी ओर आकर्षित किया।

वसन्तसेना से प्रेम करते हुए भी चारुदत्त में चरित्र-सम्बन्धी दृढ़ता है। वह अपनी विवाहिता पत्नी धूता से उदासीन नहीं है, उससे भी प्रेम करता है। वसन्तसेना के आभूषणों को वह आभ्यन्तर प्रवेश के योग्य नहीं समझता। वह कहता है—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य प्रकाशनारीधृत एष यस्मात्।
तस्मात्स्वयं धारय विप्र तावद्यावन्न तस्याः खलु भो समर्प्यते॥

मृ० क० (३-७)

अर्थात् गणिका के सुवर्णपात्र को हे विदूषक तुम स्वयं रखो। इसे चतुःशाला में मत पहुँचाओ। अनजाने में वसन्तसेना से स्पर्श हो जाने पर वह विदूषक से कहता है—'न युक्तं परकलत्रदर्शनम्'। वह गार्हस्थ्य धर्म का पूर्ण पालन करता है। दशम अंक में वह चाण्डालों से पुत्र-दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करता है। रोहसेन के आने पर वह उसे अपना यज्ञोपवीत देता है। वह एक चतुर नागरिक है। वह जानता है कि प्रिया का अनुनय किस प्रकार किया जाए। वसन्तसेना से वह कहता है—'भवति वसन्तसेने! अनेनाविज्ञानादपरिज्ञातपरिजनोपचारेण अपराद्धोऽस्मि। शिरसा भवतीमनुनयामि।' उसकी प्रार्थना भी गूढ़ व्यंग्य के रूप में उस समय आती है जब वह कहता है 'तिष्ठतु प्रणयः'। वसन्तसेना उसके आशय को समझ जाती है। पंचम अंक में वह वसन्तसेना का स्वागत करता है। बादलों की गर्जना को यथावसर अपने ऊपर प्रसाद मानता है तथा अपने को धन्य समझता है—

भो मेघ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे।
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्॥

मृ० क० (५-४७)

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु ।
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्त ॥

मृ० क० (५-४८)

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥

मृ० क० (५-४९)

अर्थात् हे मेघ ! तुम और अधिक बरसो। तुम्हारे कारण मेरा कामार्त्त शरीर वसन्तसेना के स्पर्श से पुलकित हो रहा है। अविरल वृष्टि युक्त बिजली की चमक वाला यह दुर्दिन सैकड़ों वर्षों तक रहे क्योंकि हम जैसे निर्धनों के लिए दुर्लभ प्रियतमा वसन्तसेना का समागम ऐसे समय में ही हुआ।

उन्हीं मनुष्यों का जीवन धन्य है जो स्वयं घर में आयी हुई कामिनियों के वर्षा जल से भीगे शीतल अंगों का अपने अंगों से आलिंगन करते हैं।

न्यायालय में जब न्यायाधीश उससे वसन्तसेना के विषय में पूछते हैं तब वह लज्जित हो जाता है परन्तु ब्राह्मण होने के नाते अभियोग की स्थिति में उसका यह संकोच क्षम्य कहा जा सकता है।

वह कलाप्रेमी है। उसने रेभिल के संगीत की ताल, लय तथा मूर्छना इत्यादि का विश्लेषण करते हुए सराहना की है। शर्विलक की कलात्मक सेंध को देखकर वह घबराता नहीं वरन् उसकी कलात्मकता को सराहता है। धर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति है। सन्ध्या वन्दन आदि नित्य कर्मों का वह नियमपूर्वक अनुष्ठान करता है। मैत्रेय को देवपूजा का महत्त्व समझाते हुए वह कहता है—

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥ मृ० क० (१-१६)

वह विनोदी भी है। वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड को शर्विलक द्वारा चुराये जाने पर वह कहता है 'बसी चराक —कृतार्थो मत'। वह भाग्यवादी भी है— 'भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति' (१-१३)। यह तो उसकी युक्ति है ही पर चार्वाक से भी उसने कहा है—'स्वं भाग्यैः परिरक्षितोऽसि'। प्रकरण की समाप्ति पर उसने विधि के विधान की दुहाई देते हुए कहा है —यह भाग्य कूपयन्त्र (रहट) की घटिकाओं के समान है जो कभी मानव-जीवन को रिक्त (शून्य) और कभी पूर्ण करता है। साथ ही कभी उन्नत और कभी अवनत करता है।[1] वह शकुन इत्यादि पर भी विश्वास करता है।

---

1. कांश्चित्तुच्छयति 'प्रसक्तो विधि ।—मृच्छकटिक १०।६०

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति ।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥

मृ० क० (९-१०)

अर्थात् कौआ रूखे स्वर से बोल रहा है, मन्त्रियों के सेवक बार-बार बुला रहे हैं, मेरी बांयी आंख बलपूर्वक फड़क रही है। ये अपशकुन मुझे खिन्न कर रहे हैं।

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही,
स्फुरति नयनं वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते ।
शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः,
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥ मृ० क० (९-११)

अर्थात् सभी कुछ अपशकुन हैं। भूमि गीली न होने पर भी पैर फिसल रहा है, बाँई आँख फड़क रही है और बाँई भुजा बार-बार काँप रही है। फिर दूसरे पक्षी भी अनेक बार बोल रहे हैं। यह सब भयंकर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं। इस विषय में कुछ सन्देह नहीं है।

चारुदत्त के विचार इतने स्पष्ट हैं कि किसी भी विषय में उनके ज्ञान की गरिमा देखी जा सकती है। अलंकारपूर्ण निद्रा की परिभाषा कितनी सुन्दर है।

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।
अदृश्यरूपा चपला जरेव मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते ॥

मृ० क० (३-८)

आँखों का सहारा लेनेवाली यह नींद मस्तकप्रदेश से मेरी ओर आ रही है। यह अदृश्य रूपवाली चंचल वृद्धावस्था के समान मनुष्य का बल अपहरण करके वृद्धि को प्राप्त हो रही है।

चारुदत्त के विषय में यह कहना उचित होगा कि वह प्रियदर्शन, लोकप्रिय, उदार, दानी, दयालु, दृढ़ चरित्रयुक्त, कलाप्रिय और धार्मिक प्रवृत्ति का नायक है। यही कारण है कि उसने मिथ्यारोपण से मृत्युदण्ड पाकर भी शकार को मृत्यु से मुक्ति दिलाने के लिए कितना सुन्दर कहा है—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः ।
शस्त्रेण न हन्तव्य उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥ मृ० क० (१०-५५)

अर्थात् यदि अपराध करनेवाला शत्रु शरण में आकर चरणों में गिर जाय तो उसे शस्त्र से न मारकर उपकार के द्वारा मारना चाहिए।

सच तो यह है कि उसका चरित्र वास्तव में अद्वितीय आदर्श है।

वसन्तसेना

"नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्" (सा० द० ६-२२६) इस उक्ति के अनुसार मृच्छकटिक ऐसा प्रकरण है जिसमें कुलस्त्री और गणिका दो नायिकाएँ हैं। कुलस्त्री धूता है और गणिका वसन्तसेना है।[1] वसन्तसेना का ही चरित्र इसमें मुख्य रूप से चित्रित है। नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं। स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री।[2] गणिका साधारण स्त्री है। वह कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है।[3] प्रकरण इत्यादि रूपकों में गणिका को अनुरक्ता दिखाया जाता है।[4] यहाँ वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति ऐसा ही प्रेम दिखाया गया है, वह अन्य गणिकाओं जैसा नहीं है।

यह उज्जयिनी की समृद्धिशालिनी गणिका है। चतुर्थ अंक में उसका वैभव देखकर विदूषक उसकी चेटी से कहता है—"बहुत प्रकार के भवन, पशु, पक्षी-युक्त वसन्तसेना के आठ प्रकोष्ठ वाले भवन को देखकर मुझे सच में विश्वास हो गया है कि मैंने एक ही स्थान पर स्थित स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल लोकमय त्रिभुवन देख लिया है। मेरी वाणी में इसकी प्रशंसा करने की क्षमता नहीं है। क्या यह गणिका का घर है?" इस भाँति इस अंक में मृच्छकटिककार ने उसके वैभव आदि का विशद वर्णन किया है। वह सुन्दरी नवयुवती है और उज्जयिनी का भूषण है। शकार के वसन्तसेना को मारने के लिए विट से कहने पर वह कानों पर हाथ रखकर उसके सम्बन्ध में कहता है—'यदि मैं बाला स्त्री, उज्जयिनी का विभूषण एवं वेश्याओं के विरुद्ध कुलकामिनी के समान प्रेम-परायणा इस निरपराध वेश्या वसन्तसेना को मारता हूँ तो परलोक रूपी नदी को किस नाव से पार करूँगा।[5]

चारुदत्त ने भी उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है—यह तो शरत्कालीन मेघ से आच्छन्न चन्द्रकला की भाँति दृष्टिगोचर होती है।[6]

---

१. वेशोभृतिः सोऽस्यास्तीति वेश्या। तद्विशेषो गणिका।

२. स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।
मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्॥ दशरूपक (२-१५)

३. साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्॥ दशरूपक (२-२१)

४. रक्तैव त्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाश्रये॥ दशरूपक (२-२३)

५. बालां स्त्रियं च ... तरिष्ये। मृच्छकटिक (८-२१)।

६. "[illegible] दृश्यते।" मृच्छकटिक (१-५४)।

शकार के यह कहने पर कि वसन्तसेना को मैंने मारा है, विट करुणा से विलाप करते हुए कहता है—'वसन्तसेना उसके विचार से उदारता का स्रोत है। सौन्दर्य से रति है, सुमुखी है, आभूषणों को भी आभूषित करनेवाली है एवम् सौजन्य की सरिता है।'[1]

वसन्तसेना पर लक्ष्मी की कृपा है। अत धन से निराश्रय होनेवाली आपत्तियों को टालने के लिए वह सदैव उद्यत रहती है। द्वितीय अंक में संवाहक जब उसकी शरण लेने पहुँचता है तब पहले तो वह अपने महल का फाटक बन्द करा देती है पर जब उसे यह ज्ञात होता है कि धनिक के भय से शरण लेने आया है तो वह फाटक खुलवा देती है और अपरिचित होने पर भी वह उसे अभयदान देती है। वह स्वभाव से इतनी उदार है कि कृपणता का अंश उसमें नाममात्र को नहीं है। संवाहक की घबराहट को देखकर वह करुणा से द्रवित हो जाती है और सौम्यता से उसकी आपत्ति जानने की उत्सुकता भी व्यक्त नहीं करती। उसे ऋणमुक्त कराने के लिए वह अपना सोने का कड़ा भेज देती है और कहलाती है कि इसे संवाहक ने ही भेजा है। वह अपने कार्य का श्रेय नहीं चाहती और न उपकार का प्रत्युपकार चाहती है।

चतुर्थ अंक में जब उसे ज्ञात होता है कि शर्विलक सच में मदनिका से प्रेम करता है तो वह अपनी उदारता के ही कारण उसे दासता से मुक्त करके उस को सौंप देती है। सच में वह बड़ी उदार है। सुवर्णभाण्ड धरोहर रखकर कई दिन तक वह चारुदत्त के घर इसलिए नहीं जाती कि कहीं चारुदत्त उसे अति-स्वार्थ न समझ बैठे। चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को सोने की गाड़ी के लिए वह रोता-कलपता नहीं देख सकती और अपने आभूषण दे देती है। उसकी माता बनने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है। उसका वात्सल्य भाव सराहनीय है। चारुदत्त की पत्नी धूता से उसे लेशमात्र ईर्ष्या नहीं है। वह उसके साथ बहुत स्नेह मानती है और बहिन जैसा भाव समझती है। चेटी के द्वारा उसे रत्नावली सौंपते हुए वह कहती है—यह दासी वसन्तसेना आर्य चारुदत्त के गुणों के वशीभूत है। इस प्रकार आप दोनों की भी वशीभूत है। अतः यह रत्नावली आर्या धूता के ही कण्ठ में सुशोभित हो।

वसन्तसेना बुद्धिमती एवं कलानुरक्त है। यद्यपि बोलचाल में उसने प्राकृत का प्रयोग किया है पर वह संस्कृत जानती है। पञ्चम अंक में विदूषक से संस्कृत

---

१. मृच्छकटिक (८-३८)

में समाधान ही नहीं करती वरन् चारुदत्त के विषय में संस्कृत छन्द भी कहती है। वह व्यवहार-निपुण है। जब चारुदत्त उसके साथ भ्रम से परिजन का सा व्यवहार करने के कारण उससे अपराध की क्षमायाचना करता है तब वह भी अपने अपराध की क्षमायाचना करते हुए कहने लगती है—एक वणिक के नाते पक्षद्वार से मकान में प्रवेश करने के कारण अनुचित कार्य होने से मैं अपराधिनी हूँ अत सिर से प्रणाम करके आर्य को प्रसन्न करती हूँ। वह चारुदत्त की गूढ़ एवं व्यंग्य प्रणय प्रार्थना का आशय खूब समझती है। जब चारुदत्त वसन्तसेना से कहता है—यह धरोहर रखने योग्य घर नहीं है। तब वसन्तसेना कितना सुन्दर उत्तर देती है—आर्य! यह असत्य है। योग्य पुरुष के यहाँ धरोहर रखी जाती है, न कि योग्य घर में। वसन्तसेना की इस उक्ति ने चारुदत्त के सम्मान में चार चाँद लगा दिए हैं और इस बात की पुष्टि कर दी कि 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' अर्थात् व्यक्ति का वैशिष्ट्य गुणों से है। वेश प्रसाधन में भी वह कुशल है और अपने केशों को सुगन्धित फूलों से प्रवासित रखती है। शकार उसे मछली खानेवाली कहता है। चित्रकला में वह प्रवीण है। चतुर्थ अंक में चारुदत्त का चित्र, जो उसने मदनिका को दिखाया, सम्भवत उसी का बनाया हुआ है। पंचम अंक में उसके द्वारा किया हुआ वर्णन बड़ा स्वाभाविक एवं मनोरम है। उसकी तर्कशक्ति भी प्रबल एवं उच्चकोटि की है।

चतुर्थ अंक में विदूषक को अपने उद्यान में आया हुआ देखकर स्वयं खड़ी होकर वह उसका स्वागत करती है—हे मेघ! तुम्हारे गरजने, बरसने अथवा वज्र छोड़ने से भी मेरा उतना भय नहीं और हे विद्युत्! मेघ तो पुल्लिङ्ग होने से निष्ठुर है, तू तो अपनी स्त्री जाति का ध्यान रख।[1]

चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना का आंतरिक प्रेम है। वह उसपर आसक्त है। यह भी कहती है—'निर्धन व्यक्ति से प्रेम करने वाली वेश्या निःसन्देह संसार में निन्दनीय नहीं होती।'[2]

वसन्तसेना अपने विचारों में कितनी दृढ़ है यह इसी से ज्ञात होता है कि जब पुष्पकरण्डक उद्यान में शकार उसका गला घोंटने लगता है तो वह चारुदत्त का नाम लेती हुई मरने को उद्यत है, पर शकार की प्रेयसी होना नहीं चाहती।

---

१. गर्ज वा [illegible] न जानासि। मृच्छकटिक (५-११, १२)

२ दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमना: खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति। मृ० क० (द्वि० अं०)

वसन्तसेना उत्सवों में भी आगे बढ़ती हुई चली गयी। उसने कभी साहस नहीं छोड़ा। वह आपत्तियों से घबराने वाली नहीं थी अन्यथा मामुपगम्याथ, दुर्दिन में अभिसरण, पुष्पकरण्डक गमन आदि सभी आपत्ति के [illegible] मध्य में मरणासन्न होते हुए भी फिर सचेत होकर वह चारुदत्त को जीवन पाने के लिए वध्यस्थल पर शीघ्र उपस्थित ही नहीं हो जाती वरन् प्रेम के आवेग से उसके हृदय पर पछाड़ खाती हुई गिर जाती है। दशम अंक में उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है और वह ससम्मान कुलवधू की पदवी को प्राप्त कर लेती है। यही उसके जीवन का लक्ष्य था जिसकी पूर्ति में वह सभी कष्टों को भूल जाती है एवं असीम आनन्द का अनुभव करती है। गणिका को कुलवधू बनाना ही मृच्छकटिककार को अभीष्ट था। वास्तव में नाटक की [illegible] इसी पर निर्भर है। वसन्तसेना में उज्ज्वल चारित्र्य, उदारहृदयता, अनन्य त्याग और अपूर्व प्रेम कूट-कूट कर भरा था। यही आधार थे जिन्होंने उसके गणिका होने की कालिमा को धो दिया।

विरोधी नायक शकार की योजनायें

शकार इस नाटक का प्रतिनायक है।[1] मृच्छकटिककार का यह चरित्र भी विचित्र है। यह प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, क्रूर प्रकृति वाला, पापी और व्यसनी माना गया है।[2]

वह मूर्खता, क्रूरता, कायरता, चपलता और पापवृत्ति आदि दुर्गुणों से पूर्ण है।[3]

प्रथम अंक में विट इसको काणेलीमातः कहता है, काणेली शब्द का कुछ टीकाकारों ने अविवाहिता अथवा व्यभिचारिणी अर्थ किया है। यह राजा पालक का साला है और उसकी अविवाहिता स्त्री (रखैली) का भाई है। इस सम्बन्ध से इसे राजश्यालक कहा गया है। इसे राजा के साथ अपने सम्बन्ध का बड़ा गर्व है। नवम अंक में जब न्यायाधीश इसका अभियोग सुनने का

---

१. धीरोद्धत. पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः—सा० दर्पण (३-१३१)

२ लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपु—दशरूपक (२-९)

३. मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः।
सोऽयमनूढाभ्राता, राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ सा० दर्पण ३-४४
उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुध्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च।
अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहुविकारः ॥ नाट्यशास्त्र ३४-५९

विरोध करते हैं तो उन्हें वह यह कहकर धमकाता है कि मैं अपने बहनोई राजा से कहकर तुम्हें पदच्युत कराकर दूसरे न्यायाधीश की नियुक्ति करा दूँगा। इसको अपने धनी होने का बड़ा गर्व है। अशिक्षित होने से यह शिष्टाचार शून्य है। यह शकारी प्राकृत भाषा बोलता है जिसमें सकार के स्थान पर शकार का उच्चारण होता है। सम्भवतः इसी कारण इसका नाम शकार है। इसके कार्य मनमाने हैं। वह अपने आपको देवपुरुष मनुष्य वासुदेव कहता है। यह वक्र प्रकृति है। इसकी मूर्खता तो इसी से ज्ञात होती है कि इसने पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों के उल्टे सीधे उदाहरण दिये हैं। 'द्रोणपुत्रो जटायु' यह विरुद्ध कथन उसका हास्यास्पद नहीं तो क्या है। 'नमुचा रक्मणा' यह कहना भी एक अनर्थक प्रलाप है। इतने पर भी उसे अपने ज्ञान का भ्रम है। शकार स्थिर स्वभाव का नहीं है। वह दुराग्रही एवं कायर है। उसके निश्चय में दृढ़ता नहीं है। क्षण क्षण भर में उसके विचारों में परिवर्तन दिखाई देता है यहाँ तक कि उसके साथी विट और चेट भी उसकी ओर से शंकित रहते हैं। उन्हें इस बात का भय रहता है कि न जाने यह कभी भी क्या कह बैठे अथवा कर बैठे। अष्टम अङ्क में पहले तो यह विट से गाड़ी में बैठने को कहता है और फिर बाद में उसका अपमान करने लगता है। इसी भाँति स्थावरक (चेट) से चारदीवारी के टूटे भाग से गाड़ी लाने का आदेश देता है। इस प्रकार की उक्तियाँ निश्चय ही उसकी असभ्यता को प्रकट करती हैं।

शकार वसन्तसेना को अपनी प्रेयसी बनाना चाहता है परन्तु वह उसे लेशमात्र भी नहीं चाहती। धन और बल से वह उसे वश में करना चाहता है पर उसे सफलता नहीं मिलती। प्रथम अङ्क में वह विट से कहता है कि मैं वसन्तसेना को बिना लिये नहीं चलूँगा। परन्तु विट के चले जाने पर स्वयं भी वहाँ से चल देता है। ऐसे ही उसके दुराग्रह हैं जिनसे उसका चरित्र दूषित है। वह भीरु है। अष्टम अङ्क में वसन्तसेना को अपनी गाड़ी में देखकर वह डर जाता है। अन्त में मृत्यु के भय से चारुदत्त की शरण में जाकर रक्षा याचना भी करने लगता है। दशम अङ्क में शकार चारुदत्त से कहता है—'भट्टारक चारुदत्त शरणागतो ऽस्मि। तत्परित्रायस्व परित्रायस्व परित्रायस्व। यत्तव सदृशं तत्कुरु। पुनर्नेदृशं करिष्यामि।' इसी से उसकी कायरता व्यक्त होती है।

वह भिक्षुओं का कट्टर विरोधी है। अष्टम अङ्क में वह भिक्षु से कहता है—तिष्ठ, रे दुष्टश्रमणक। तिष्ठ। आपानक मध्य प्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षम् मद्दयामि। अर्थात् दुष्ट श्रमणक ठहर मदिरालय में रखे हुए मद्यपों के रक्तमूलक के समान मैं तुम्हारे मस्तक को भग्न करता हूँ।

वह अपने मित्रों से भी प्रेम नहीं करता और न उनमें विश्वास रखता है।

इन सब बातों के होते हुए भी उसमें सबसे बड़ा दुर्गुण यह था कि उसने यह समझ कर कि मैं राजा का साला हूँ चारुदत्त को मारने की योजना बनाई। वह हृदय का बड़ा कपटी था। वसन्तसेना को वह चाहता था। चारुदत्त उसकी कार्यसिद्धि में बाधक है—ऐसी उसकी धारणा थी पर उसने यह नहीं सोचा कि उसकी यह योजना सफल कैसे हो सकती है। वहीं तो वसन्तसेना का प्रेमी बनना चाहता था पर वसन्तसेना तो उसे नहीं चाहती थी। उधर चारुदत्त और वसंतसेना परस्पर एक दूसरे से प्रेम करते थे। इतना ही नहीं वसन्तसेना ने तो चारुदत्त के लिए बहुत कुछ त्याग की तैयारी और चारुदत्त ने भी उसके लिए कोई कमी उठा कर नहीं रखी। ऐसी दशा में शकार का वसन्तसेना को चाहना निरी मूर्खता नहीं तो और क्या था। उसका स्वभाव दुराग्रही था और वह केवल यही स्वप्न देखता था कि मैं राजा का साला हूँ कोई मेरा क्या बिगाड़ लेगा। अपनी कपट योजना से मैं न केवल चारुदत्त को मारने में सफल हूँगा वरन् सदैव वसन्तसेना के साथ अपना जीवन प्रेम से साथ बिताऊँगा। वह चारुदत्त का हृदय से शत्रु था। वह इतना क्रूर और निर्दयी था कि चारुदत्त को फाँसी पर चढ़ते हुये देखने की कामना साकार करने के लिये उसका मन उतावला रहता था। वसंतसेना को प्राप्त करने के लिये जब सभी प्रयास उसके विफल हो गये तब वह चिढ़ गया और उसे मारने के लिये घृणित योजना बनाते हुये तनिक भी उसे झिझक नहीं हुई। विट और चेट को कपट पूर्वक हटाकर वसन्तसेना का गला अपने आप ही घोंट दिया। विट ने जब इस कुत्सित कृति की भर्त्सना की तो वह उस पर ही हत्या का आरोप मढ़ने लगता है। चेट को वह बाँधकर डाल देता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। अभियोग के मध्य में जब चेट उसके पाप का उद्घाटन करता है तो वह उस पर चोरी का आरोप लगा देता है। वह चाण्डालों से कहता है कि चारुदत्त को पुत्र सहित समाप्त कर दो। यह उसकी क्रूरता की पराकाष्ठा है।

शकार का सारा चरित्र दुर्गुणों से पूर्ण है। वह स्त्री लम्पट, मूर्ख और धूर्त तो है ही साथ ही भावुकता से इतना गिर गया है कि वह मनुष्य रूप में निकृष्ट ही दानव कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। प्रतिनायक के रूप में उसका चित्रण यथार्थ है।

मृच्छकटिक के अन्य पात्र एवं वैशिष्ट्य

किसी भी रूपक में पात्रों की समुचित व्यवस्था अपेक्षित है। रूपक की

सफलता के लिये यही एक आधारशिला है। मृच्छकटिककार ने घटनाओं के पात्र प्रतिपादन में, कथा के क्रमिक विकास में, पात्रों के विन्यास में और पात्रों के अनुसार भाषाविस्तार में दक्षता दिखाई है। इस प्रकरण के सभी पात्र लौकिक भावपूर्ण हैं। चित्रचित्रण कौशल को दिखाने में वे अत्यन्त चतुर हैं। उनका सामाजिक ज्ञान और सूझ बूझ सभी कुछ ठीक है। यहाँ क्रमश पुरुष पात्रों और स्त्री पात्रों का परिचय दिया जा रहा है। प्रस्तावना के आरम्भ में हमारा परिचय सूत्रधार से होता है। यह अभिनयव्यवस्थापक तो है ही साथ ही प्रधान नट भी है।

मैत्रेय चारुदत्त का मित्र है। यह विदूषक है और अपने सम्भाषण से यथा-वसर मनोरञ्जन करता है।

विट शकार का सहचर है। यह सहृदय एवं बुद्धिमान है। वसन्तसेना की सच्ची प्रेम भावना से प्रभावित होकर वह केवल उसकी प्रशंसा ही नहीं करता वरन् यथाशक्ति सहायता भी करता है। कमजोर होने से वह पाप का विरोधी है और इसी से शकार को छोड़कर चला जाता है।

चेट शकार का सेवक है इसे स्थावरक भी कहा गया है। इसे परलोक का भय है। हृदय से यह सज्जन के प्रति स्नेह और आदर दिखाने को प्रयत्न रहता है। यह स्वयं आपत्ति ग्रस्त होने पर भी कोई अनुचित कार्य नहीं करता। चारुदत्त की रक्षा का प्रयास इसे अभीष्ट है।

द्वितीय अङ्क में हमें नवीन पात्र संवाहक के दर्शन होते हैं। यह चारुदत्त का भूतपूर्व सेवक है। जुए में सर्वस्व खोकर निर्वेद से यह बाद में भिक्षु हो जाता है। भिक्षु शब्द से भी इसे सम्बोधित किया गया है।

माथुर सभिक है। यह प्रधान द्यूतकार है। दर्दुरक भी द्यूत प्रेमी है। कर्णपूरक वसन्तसेना का सेवक है। इसका स्वामिभाव सराहनीय है। तृतीय अङ्क में नवीन पात्र शर्विलक से हमारी भेंट होती है। यह मदनिका का प्रेमी है। जाति का ब्राह्मण होने के साथ साथ यह बड़ा साहसी है पर दोष यही है कि यह एक प्रसिद्ध चोर भी है। यह चौर्य विज्ञान में अत्यन्त कुशल है।

चतुर्थ अङ्क में चेट एक नवीन पात्र है। पर यह चेट शकार का सेवक न होकर वसन्तसेना का दास है। इसका वाग्व्यापार सुन्दर है। बन्धुल नामिका युग है। वसन्तसेना के आश्रम में रहते हुये ये अपना जीवन यापन करते हैं। इन्हीं के विषय में इनके मुख से परिचय प्राप्त करिये :—

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः परपुरुषैर्जनिताः पराङ्गनासु ।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजकलभा इव बन्धुला ललामः ॥
मृ० क० (४–२८)

पराये घर में पले हुये, परान्न से पोषित, परपुरुष एवं परस्त्रियों में उत्पन्न पराये धन का उपयोग करने वाले हम बन्धुल गज हाथी के बच्चे के समान स्वच्छन्द विहार करते हैं।

पञ्चम अंक में नवीन पात्र कुम्भीलक की चर्चा है। यह वसन्तसेना का सेवक है।

विट वसन्तसेना का परिचारक है। एक विट और भी है जिसकी पूर्व चर्चा की गई है। वह शकार का सहचर है।

षष्ठ अंक में नवीन पात्र रोहसेन का उल्लेख है। यह चारुदत्त का पुत्र है। यद्यपि यह बालक है फिर भी समझदार है। पितृस्नेह से वशीभूत होकर यह स्वयं उनके स्थान पर प्राणदण्ड लेकर उन्हें मुक्त कराने को उद्यत है। इसी द्वारा बाल्यावस्था में मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी के लिये आग्रह करने के कारण इस प्रकरण का नाम मृच्छकटिक पड़ा।

स्थावरक चेट शकार का दास है। यह उसका गाड़ीवान भी है। नीच कुल में उत्पन्न होते हुये भी निन्दनीय कार्यों के करने में यह भयभीत रहता है। चारुदत्त के वध की घोषणा को सुनकर उसके प्राणों की रक्षा के लिये महल से गिरते हुये इसने अपना कर्तव्य पालन किया।

आर्यक यह गोपाल बालक है। आरम्भ में यह राज्यपालक का बन्दी है। तत्पश्चात् राजा हो जाता है।

वीरक भी राजा पालक का सेनापति है। यह नगर रक्षक है।

चन्दनक भी राज्यपालक का सेनापति और नगर रक्षक है।

अष्टम अंक में भिक्षुक रूपी नवीन पात्र मालूम पड़ता है पर सच में यह नवीन नहीं है। यह बौद्ध सन्यासी है और द्वितीय अंक में पूर्व नायक का संवाहक है। पहले इसकी चर्चा हो चुकी है।

नवम अंक में नवीन पात्र शोधनक से हमारी भेंट होती है। यह न्यायालय का एक सेवक है।

अधिकरणिक यह न्यायाधीश है। यह हृदय से पवित्र है और न्याय प्रिय है। यह स्वभाव से सज्जन है और सज्जनता का आदर करते हैं। दोषों के ढूँढ़ने में और सचाई की खोज में यह तत्पर रहते हैं। यह सब कुछ होते हुये भी

भीरु होने के कारण और लोभवश उचित न्याय नहीं कर पाते । शकार राजा का साला है अत: उससे भय करते हैं ।

श्रेष्ठी यह नगर का एक प्रतिष्ठित सेठ है विवाद निर्णय में यह अधिकरणिक का सहायक (Assessor) है । इसे व्यवहार प्रत्योक्ता भी कहा गया है ।

कायस्थ यह व्यवहार लेखक अर्थात् न्यायालय का लेखक (पेशकार) है ।

दशम अंक में केवल दो नये पात्र चाण्डाल हैं । इनका कार्य अपराधी व्यक्तियों को शूली पर चढ़ाना है । चाण्डाल होते हुये भी ये समझदार हैं । इन्हें जल्लाद भी कहते हैं ।

कुछ पुरुष पात्र ऐसे भी हैं जो मंच पर सामने तो नहीं आते पर उनकी चर्चा यथावसर की गयी है ।

पालक—यह अवन्ती का राजा है ।

रेभिल—यह उज्जयिनी का एक व्यापारी है, चारुदत्त का मित्र है और संगीत शास्त्र का आचार्य है । गाने में अपनी समता नहीं रखता ।

जूर्णवृद्ध—यह चारुदत्त का मित्र है ।

सिद्ध—यह आर्यक की राज्यप्राप्ति का भविष्य वक्ता है ।

स्त्री पात्रों में प्रस्तावना में सूत्रधार के पश्चात् नटी की चर्चा है । यह सूत्रधार की स्त्री है । सम्भाषण कला में यह कुशल है और परिहासप्रिय भी है ।

प्रथम अंक में वसन्तसेना पहली स्त्री पात्र है । जिसकी चर्चा आरम्भ में की गयी है । यह एक गणिका है और इस प्रकरण की नायिका है । मृच्छकटिक की सफलता इस पर बहुत कुछ निर्भर है ।

रदनिका—यह चारुदत्त की परिचारिका है ।

द्वितीय अंक में नवीन पात्र चेटी का उल्लेख है यह वसन्तसेना की सेविका है ।

मदनिका—यह वसन्तसेना की प्रिय दासी है और शर्विलक की प्रेयसी भी है ।

तृतीय अंक में नवीन स्त्री पात्र धूता की चर्चा है । यह चारुदत्त की धर्मपत्नी है और शान्ति की साम्राज्ञी है । चतुर्थ अंक में छत्रधारिणी का उल्लेख है । यह भी वसन्तसेना की परिचारिका है ।

नवम अंक में वृद्धा माता का वर्णन आता है यह वसन्तसेना की माता है ।

पात्रों की संख्या सब से मृच्छकटिक में अधिक है पर सभी अपने अपने स्थान पर ठीक हैं । कोई भी व्यर्थ या भरती का नहीं मालूम होता ।

मृच्छकटिक में नाट्यप्रतिभा का प्रस्फुरण

मृच्छकटिक की कथावस्तु अलौकिक है। इसमें सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन करते हुये सुधारात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है साथ ही नृशंस राजा का शासन चिरकाल तक सम्भव नहीं है इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस परिवर्तन के साथ मृच्छकटिककार के संस्कृत नाट्य लेखन की परम्परा का परित्याग भी एक महत्वपूर्ण क्रान्ति है। मृच्छकटिककार ने जिस साहस के साथ इस ओर पदार्पण किया है वह सराहनीय है। शास्त्रीय मर्यादाओं से युक्त व्यापक सीमा के अन्तर्गत उसने नवीन प्रयोग किये हैं। वेश्यायें पुरातन भारत के नागरिकों के मध्य सम्मान तो पाती रहीं किन्तु किसी कुलीन व्यक्ति के साथ कुल-वधू होने का गौरव उन्हें प्राप्त न था। वारांगनायें प्रेयसी तो हो सकती थीं किन्तु किसी उच्च वर्ग के व्यक्ति की पत्नी होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त न था। शूद्रक ने साहस बटोर कर ब्राह्मण नायक को गणिका युवती वसन्तसेना के साथ पति पत्नी रूप में प्रदर्शित कर तत्कालीन समाज के लिये असम्भव को सम्भव कर दिखाया है। कथावस्तु की पुष्टि के लिये सन्दर्भ में गौण रूप से ब्राह्मण शर्विलक के द्वारा चोरी जैसा निकृष्ट कार्य कराके भी वेश्या दासी मदनिका को वधू के रूप में उसे स्वीकृत कराना भी कलाकार का एक चमत्कार ही है। इतना ही नहीं उसने कल्पित राजा रानी आदि की कृत्रिम प्रेम कथाओं की उपेक्षा कर एक नूतन जगत् का निर्माण किया जिसमें लोक जीवन का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया गया है। सच में मृच्छकटिककार ने निर्भीकता का परिचय दिया है उसका साहस सत्य की ओर बढ़ने में केवल परम्परा के कारण विचलित नहीं हुआ।

कलाकार की गम्भीरता और उसका औचित्य प्रकरण के नाम से ही ज्ञात होता है। उसकी निराली मौलिक प्रतिभा सर्वत्र प्रस्फुरित हो रही है। कालि-दास का काव्यादर्श यदि सुवर्णमय सुवर्ण की उपलब्धि था जैसा कि रघुवंश के प्रथम सर्ग में उनकी उक्ति "हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा" के द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है तो मृच्छकटिककार इसके विरोध में था। उसने स्वर्ण कला के स्थान पर मृत्तिका को कला का रूप दिया। इस भाँति कृति का नाम-करण बाह्य रूप से आकर्षक शीर्षक द्वारा न करके मृच्छकटिक के रूप में किया। कालिदास के नायक नायिका ने जहाँ स्वर्गीय और सामन्तीय वातावरण में साथ दिया वहाँ मृच्छकटिक के नायक नायिका इस धरती के ही पात्र बने। वसन्तसेना शकुन्तला से कम सरल और भोली नहीं थी पर वह यौवन में निर-

प्यार ठुकराई जाती रही यहाँ तक कि समाज का धारणाओं को बदलने के लिये उसे सघर्ष में अपने प्राणों तक को न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत रहना पड़ा। संस्कृत साहित्य में सम्भवतः किसी महिला को इतने बहुत कष्ट का सामना नहीं करना पड़ा। मृच्छकटिककार की दृष्टि में यथार्थवादी होने के नाते मिट्टी की गाड़ी का सोने की गाड़ी की अपेक्षा बड़ा महत्व है। इसी से नायक नायिका के नाम पर अपनी रचना का नामकरण न करते हुये मृच्छकटिक नाम रखा। वास्तव में मिट्टी से धरती के दूर मानव का सम्बन्ध है अतः वही सच्चा जीवन को आकर्षित कर सकती है जिसका सम्बन्ध धरती पर उत्पन्न होने वाले प्रत्येक जीव से हो। सोने का इस दृष्टि से क्षेत्र सीमित हो जाता है। मनुष्य जीवन की गाड़ी भवितव्यता पर निर्भर है। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर मृच्छकटिक नाम समुचित समझा गया। अपने सत्ताईस पात्रों में केवल पाँच को संस्कृत बोलते हुए और शेष को प्राकृत बोलते हुये दिखाकर मृच्छकटिककार ने जनसाधारण वातावरण को प्रस्तुत किया। इससे स्पष्ट है कि उसने नाटकीय परम्परा के अनुसार सामन्तीय वातावरण से अपने को पृथक् दिखाया है।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त छन्दों का जहाँ तक सम्बन्ध है उनको देखने से ज्ञात होता है कि रचयिता को लघु तथा सरल छन्द ही विशेष प्रिय हैं। सबसे अधिक संख्या अनुष्टुप की है। इसके पश्चात् वसन्ततिलका तथा शार्दूलविक्रीडित है। अन्य छन्दों में इन्द्रवज्रा, वंशस्थ तथा उपजाति प्रमुख हैं। प्राकृत के छन्दों में अधिक विभिन्नता प्राप्त होती है। पृथ्वीधर के आधार पर इसमें प्रयुक्त प्राकृत का निर्देश किया गया है। इसके पश्चात् सूत्रधार नटी, वसन्तसेना, वसन्तसेना की माता, कर्णपूरक, शोधनक तथा रदनिका शौरसेनी बोलते दिखाये गये हैं पुनः वीरक तथा चन्दनक अवन्तिका बोलते हैं। विदूषक प्राच्या बोलता है। संवाहक, स्थावरक, कुम्भीलक, वर्धमानक तथा रोहसेन मागधी बोलते हैं। शकार शकारी बोलता है। चाण्डाल चाण्डाली बोलते हैं और जुआरी ढक्की बोलते हैं। प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री तथा पैशाची इन चार प्राकृतों की ही चर्चा की है। इनमें से महाराष्ट्री तथा पैशाची का प्रयोग मृच्छकटिक में नहीं देखा जाता। अवन्तिका, प्राच्या आदि उपभेद परवर्ती वैयाकरणों ने प्रतिपादित किये हैं। कीथ के विचार से पृथ्वीधर की सब प्राकृत भाषायें शौरसेनी तथा मागधी के अन्तर्गत हैं। प्राकृत की बहुलता को देखकर यह निश्चित है कि संस्कृत के किसी अन्य नाटक में प्राकृत का इतना विविध प्रयोग देखने को नहीं मिलता।

संस्कृत रंगमंच की परम्पराओं की भी मृच्छकटिककार ने उपेक्षा की है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार नायक चारुदत्त की प्रत्येक अंक में उपस्थिति नहीं दिखायी है। यद्यपि निद्रा तथा हिंसा का रंगमंच पर प्रदर्शित करना निषेध है पर ऐसे प्रतिबन्धों का पालन इसमें नहीं है। इस दृष्टि से मृच्छकटिक सर्वथा नवीन है। इसे यदि उद्भावना का नाटक (A drama of Invention) कहा जाय तो उचित होगा। अन्य संस्कृत नाटकों ने लौकिक कथानक को न अपनाकर इतिहास एवं पुराण का आश्रय लिया है। यदि कहीं लौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब भी प्रस्तुत किया है तो वह राजाओं, मंत्रियों तथा महलों की घटनाओं तक सीमित रहा है। चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रणय की कथा यथार्थवादी आदर्श चित्र प्रस्तुत करती है।

मृच्छकटिक न केवल विषय चयन में वरन् विषय निरूपण में भी निराला है। परम्परा विरोध की प्रवृत्ति इसमें कई रूपों में देखने को मिलती है। नाट्य-कला के शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन रचयिता ने निःसंकोच किया है। दूसरे अंक में राजपथ पर जुआरी लड़ते हुये दिखाये गये हैं। छठे और नवें अंकों में क्रमश: वीरक-चन्दनक तथा शकार-विदूषक परस्पर झगड़ते हैं और उग्रहिंसा का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तीसरे अंक में शर्विलक का साहसपूर्ण कार्य रात के समय सम्पन्न होता है। मैत्रेय और चारुदत्त वहीं सोते रहते हैं। अष्टम अंक में तरुणी वसन्तसेना का कण्ठ निपीडन होता है और अन्तिम अंक में एक निर्दोष एवं उदारचेता चारुदत्त के सूली पर लटकने का दृश्य उपस्थित होने के साथ साथ एक सती साध्वी नारी के चितारोहण का भयानक एवम् करुणापूर्ण दृश्य प्रस्तुत होने की नौबत आ जाती है। संस्कृत रंगमंच के लिये यह सब कुछ आशातीत है।

इसके चरित्र भी विचित्र हैं। चारुदत्त निर्धन होने के साथ साथ उदार एवम् शिष्ट है। वसन्तसेना गणिका होते हुये भी कुलवधू के गुणों से युक्त है और अपने प्रेमी को मृत्युमुख से बचाकर ही चैन लेती है। चेट, स्थावरक सरल और न्यायप्रिय सेवक है जो एक निरपराध व्यक्ति की प्राणरक्षा में ऊपर अट्टालिका से कूदकर अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। मदनिका एक सच्ची तथा निश्छल सामान्य सेविका है जो यथोचित कार्य करने में संकोच नहीं दिखाती। वीरक पुलिस अधिकारी अपने कर्तव्यों के पालन में इतना कठोर है कि अपने पिता को भी छोड़ने के लिये तैयार नहीं है। शर्विलक ब्राह्मण होते हुये भी चोर तथा विलासिता में अनुरक्त है पर राजनीतिक क्रान्ति का अग्रदूत

है। दर्दुरक निर्धन है पर उसका हृदय अत्याचार के प्रति जल रहा है। दोनों चाण्डाल जन्म और वृत्ति से अवश्य चाण्डाल हैं पर सहृदय हैं। मैत्रेय भी अपने मित्र एवम् स्वामी चारुदत्त के हित में निरन्तर चिन्तित है। दुष्ट चरित्र शकार भी अपने अनुकूल निर्मम, दुर्विनीत तथा हिंसक विचारों से ओतप्रोत है। सच में वास्तविक जीवन को प्रस्तुत करना मृच्छकटिककार की प्रतिभा का परिचायक है।

मृच्छकटिक का वस्तु विन्यास भी अनुपम है। भावपूर्ण घटनाओं की विविधता जैसी इसमें है वैसी अन्य संस्कृत नाटकों में नहीं है। उत्सुकतापूर्ण विस्मय के साथ यह विविधता हर्ष, आश्चर्य, करुणा, भय, हास्य इत्यादि भावों को उत्पन्न करती हुई विलीन हो जाती है। रात को राजमार्ग पर युवती वसन्तसेना का पीछा किया जा रहा है। जुये में हारे हुए एक जुआरी का पीछा करते हुए मारपीट का दृश्य उपस्थित किया गया है। रात के अन्धकार में सन्धिच्छेद किया जाता है। वेश्या के प्रासाद में एक चोर और युवती सुन्दरी की प्रेम लीला का प्रदर्शन भी है। अभिसारिका वसन्तसेना वर्षा और तूफान की अवहेलना करती हुई अपने प्रेमी चारुदत्त से मिलने के लिए अभिसार करती है। गाड़ियों के बदल जाने से पुलिस के दो अधिकारी चरक पर झगड़ा करते हैं। उद्यान में एक सुंदरी कामी महिला की निर्मम हत्या का प्रयास किया जाता है। न्यायालय में अभियोग के समय निर्दोष चारुदत्त के सिर अपराध मढ़ दिया जाता है पर सहसा वह बच जाता है। घटनाओं के विविध रूप एवं भावों की अनुभूति से सभी परस्पर गुंथे हुए हैं।

शूद्रक की एक विशेषता उत्कृष्ट यथार्थवाद है। संस्कृत नाटकों में यथार्थवाद सामान्य रूप से इतना ही दिखायी देता है कि पौराणिक कथा को मानवीय रूप दिया गया है अथवा राजमहल के भीतरी जीवन की कुछ झाँकियाँ दिखायी गयी हैं। वास्तव में संस्कृत रंगमंच पर विशुद्ध यथार्थ कभी प्रदर्शित नहीं किया गया। मृच्छकटिक में सूझबूझ एवं साहस के साथ उत्कृष्ट यथार्थ का आकर्षक चित्रण किया गया है। द्वितीय अंक में जुआरियों का दृश्य अनोखा है। उनके पासे फेंकना, झगड़े का होना, पराजित जुआरी का मन्दिर में भाग कर छिप जाना आदि बातें जीवन की यथार्थता को बताती हैं। इसमें निम्न स्तरीय जीवन की झलक से युक्त यथार्थवाद का यहीं अन्त नहीं होता वरन् विविध घटनाओं दृश्यों एवम् अनेक आकस्मिक घटनाओं में यह निरन्तर सामने आता है। उज्जयिनी का रात्रिकालीन जीवन भी अनुपम है जिसमें राजा के सगे सम्बन्धी तथा प्रिय पात्र मदमाती तथा पत्नियों में अँधेरे में घूमते हैं और गँवार सज्जित गणिका

वसन्तसेना को घेरते तथा परेशान करते हैं। शकिस्थेर का चित्रण मौज़मात्र से युक्त राजपथ पर चलने वाली गाड़ियों का चित्र जिन्हें हांकने वाले बैलों को चिल्ला चिल्ला कर आगे बढ़ रहे हैं यथार्थ-चित्रण के द्योतक हैं। वध्यस्थान पर चारुदत्त को ले जाते हुए चाण्डालों द्वारा राजमार्ग पर समारोह के हृदयविदारक दृश्य वहाँ जनता भीड़ लगा रही है यथार्थवाद के सच्चे प्रतीक हैं। नवें अंक का अभियोग वाला दृश्य एवं दुर्दिन की वर्षा में वसन्तसेना का चारुदत्त के घर के लिए प्रस्थान भी यथार्थवाद का सच्चा चित्रण है। बालमनोविज्ञान की दृष्टि से रोहसेन का मिट्टी की गाड़ी से खेलने को मना कर सोने की गाड़ी से खेलने के लिए मचलना भी स्वाभाविक चित्रण है। डा० भाट के अनुसार यह वास्तविक जीवन से काटा गया एक छोटा टुकड़ा (A slice cut from real life) प्रतीत होता है। इसके विपरीत डा० कीथ का विचार है मृच्छकटिक किसी भी अर्थ में जीवन की नकल (in no sense a transcript form life) नहीं है। अपनी अपनी जगह डा० भाट और डा० कीथ की बातें ठीक हैं। मुख्य चरित्रों में मित्रता, उदारता तथा स्वभाव के साहस के आदर्श स्वरूप को यदि निकाल दें तब तो इसमें जीवन की नकल सचमुच प्रतीत होती है और यदि इसे बना रहने दें तो यह वास्तविक जीवन से दूर बन जायेगा। यह प्रकरण सामाजिक एवं कलात्मक चुनौतियों का एकमात्र परिचायक है जो यथार्थ की ओर ले जाता हुआ आदर्श को प्रस्तुत कर रहा है।

इसकी दूसरी विशेषता हास परिहास की योजना है। यह शब्द सम्बन्धी, चरित्र सम्बन्धी और परिस्थिति सम्बन्धी है। फलस्वरूप हास्य श्लेष और विरक्तता के रूप में प्रकट होता है। ऐसा और मर्मस्थलों को छोड़कर बोलने के निर्देश को मैत्रेय यह समझता है कि उसे अपने पैर उलटने को कहा जा रहा है। पौराणिक पात्रों को शकार द्वारा विपरीत ढंग से उद्धृत करना हास्य के प्रतीक तो हैं ही साथ में उसकी मूर्खताओं को प्रकाशित करते हैं।

चरित्र सम्बन्धी हास्य मैत्रेय और शकार में दिखाई देता है। इन दोनों के चरित्र की विशेषतायें हास्य उत्पन्न करती हैं। मैत्रेय विदूषक परंपरा का परिचायक है इसी कारण उसके चारित्रिक गुण हास्य उत्पन्न करते हैं। स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता के कारण वह अपने को हँसी का पात्र बनाता है। सायंकाल के समय बलि चढ़ाने के लिए घर से बाहर न जाना भी उसकी भीरुता को प्रदर्शित करता है। इसे भी देखकर हँसी आती है। शकार के चरित्र में भी ऐसी विशेषतायें हैं जो कि हास्य उत्पन्न करती हैं। वह भी कायर और मूर्ख

है। जब वह यथास्थान अपना परिचय मेरी बहन के पति राजा पालक के साले के रूप में देता हुआ मंच से कूद जाता है तब हमारी हँसी रोकने से भी नहीं रुकती। परिस्थितिजन्य हास्य की योजना अद्भुत है। पाँचवें अंक में एक प्रहसनपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है जहाँ मैत्रेय और वसन्तसेना के चेट के बीच मनोरंजक दृश्य उपस्थित हो जाता है जिसमें मैत्रेय परिहास का पात्र बनता है। शकार और वसन्तसेना के बीच होने वाले प्रेम के दृश्य भी प्रहसन पूर्ण (Farcical) बन जाते हैं। इसमें शकार प्रेम का प्रदर्शन भी करता है और वसन्तसेना के प्रति हिंसात्मक आचरण भी करता है। दूसरे अंक का जुआरियों वाला दृश्य भी हास्य द्योतक है। द्यूताध्यक्ष माथुर एक अन्य जुआरी के साथ संवाहक का पीछा करता है क्योंकि वह जुए में हारा हुआ सुवर्ण उन्हें नहीं लौटा सका है। संवाहक उनसे बचने के लिए अनेक हास्य चेष्टायें करता है और ये चेष्टायें अत्यन्त विनोदपूर्ण हैं।

मृच्छकटिक रंगमंच पर अभिनय के लिये कहाँ तक सफल है इस संबंध में भी जानना आवश्यक है। घटना विन्यास के संबंध में सामान्य रूप से दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। पहली पद्धति कालक्रमात्मक (Chronological) दूसरी कलात्मक (Artistic) है। कालक्रमात्मक पद्धति में घटनायें एक के पश्चात् दूसरे क्रम से सामने आती हैं। कलात्मक पद्धति में कथा प्रवाह के मध्य अथवा अंत के किसी बिन्दु से नाटककार आरम्भ करता है और पिछली घटनाओं को अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से भिन्न-भिन्न रीतियों में चित्रित करता है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में कलात्मक पद्धति का सुन्दर विनियोग है पर मृच्छकटिक में काल क्रमात्मक पद्धति का अनुसरण है। इतना अवश्य है कि शर्विलकद्वारा पलायन वाली घटना की जानकारी हमें बाद में हुई है। इस सीधी पद्धति के कारण कठिनाई का सामना भी करना पड़ता है। कारण यह है कि कथानक की कुछ घटनायें प्रायः साथ-साथ घटती हैं और कुछ पूर्वापर क्रम से विभिन्न स्थलों में घटती हैं जिससे दृश्यों का आकस्मिक परिवर्तन हो जाता है। अभिनय के समय में इन बातों से बाधायें उपस्थित हुई हैं।

आधुनिक रंगमंच पर इसकी समाप्ति के लिये एक अंक को भिन्न-भिन्न दृश्यों में बाँट देना चाहिये पर संस्कृत नाट्य में अंकगत दृश्य विभाजन की पद्धति प्रचलित नहीं थी। अतः यही होता था कि या तो दृश्यों का अनुमान प्रेक्षकों की कल्पना पर छोड़ दिया जाय या फिर रंगमंच को कल्पित रीति से (Compartmental Division) बाँट दिया जाये जिससे विशेषतः एक अंक के भीतर

जाते थे दृश्य अभिनीत किये जा सकें जो परस्पर मिल जाते हैं अथवा एक ही समय में घटित होते हैं ।[1]

मृच्छकटिक में काव्य प्रतिभा की व्यंजना

संस्कृत नाटकों की रचना दृश्य काव्य के अन्तर्गत की जाती है । अतएव रंगमंच के योग्य प्रदर्शन के साथ उसमें ऐसा नियम किया जाता रहा है जो काव्यात्मक साहित्य से ओत-प्रोत हो । यह निर्विवाद है कि संस्कृत नाटकों में प्रदर्शन योग्य तत्त्व की अपेक्षा काव्योचित सौंदर्य अधिक दिखाई देता है । मृच्छकटिक इस रूप में भी अद्भुत है । इसमें प्रदर्शनीय तत्त्वों की अधिकता है जिसके फलस्वरूप इसकी रंगमंचीय प्रकृति कभी कम प्रतीत नहीं होती फिर भी इसमें काव्यगत सौंदर्य पर्याप्त रूप में है । चुने चुने सुन्दर पदों के प्रयोग से पूर्ण कथावस्तु को अभिव्यक्त करने की कला में मृच्छकटिककार बड़े निपुण हैं । विट ने अभिसार रूप में जाने वाली वसन्तसेना के सम्पूर्ण शील का बड़ी सुन्दरता से चित्रण किया है । 'वसन्तसेना बिना कमल की लक्ष्मी है । कामदेव का ललित अस्त्र है । कुलवधुओं का शोक है । मदनरूपी श्रेष्ठ वृक्ष का मनोरम पुष्प है और सुरत के समय लज्जा की प्रिय सहचरी है ।'[2]

'अनब्जा लक्ष्मी' कहकर वसन्तसेना के तत्त्वपूर्ण सौंदर्य को, काम का ललित अस्त्र कहकर सौंदर्य की आकर्षकता को, कुलवधुओं का शोक कहकर स्त्री से विरहित पुरुषों को अपने पाश में फँसाने की अद्भुत क्षमता को, मदन वृक्ष का कुसुम कहकर सौंदर्य की सुकुमारता को तथा रति समय लज्जा प्रणयिनी कहकर अभिसारिका वसन्तसेना की मोहक माधुरी की अभिराम व्यंजना की गई है ।' मेघों के दर्शन-गर्जन से भयावह रात्रि की प्रतिक्रिया अभिसारिका वसन्तसेना के स्नेहपूर्ण अन्तर्मन में क्या होती है ? इसका रूप सर्वथा नितान्त मोहक ढंग से व्यंजित किया गया है—'हे मूढे ! यदि मेरा कान्त (आकाश) परस्पर सटे, दृढ़ पयोधरों (बादल तथा स्तन) वाली मुग्ध प्रिया के साथ रमण कर रहा है तो इससे तुम्हारा क्या प्रयोजन ? इस प्रकार से ताडना देकर गड़गड़ाते गर्जनों से मुझे अपने अभिसार के लिये मना करती हुई मेरा मार्ग रोकती है जैसे यह मेरी कोपवती सपत्नी हो ।'[3] निरन्तर पयोधरता का भाव है ऐसे पयोधर

---

1. Dr. Bhat Preface to Mrcchakatika, p. 142-51.
2. अनब्जा ———— अनुगता । मृ० क० ५।१२ ।
3. मूढे ———— सपत्नी । मृ० क० ५–१५ ।

अर्थात् मान अथवा रोष तो इतने पुष्ट एवं विकसित हैं कि उनके बीच में लेशमात्र भी अन्तर अथवा खाली जगह नहीं है। वसन्तसेना को देखकर ये निविड़ बादलों से अपने पुष्ट पयोधरों को मान ही जाती है। ऐसे लगता है कि जैसे रात अपने उमड़ते हुए यौवन में आकाशरूपी प्रियतम से रूठकर खड़ी है और उसके अभिसार से चिढ़कर मार्ग रोक रही है। विद्वानों ने इस पद्य की व्याख्या में यह अर्थ लगाया है कि कवि रात्रि तथा वसन्तसेना को परस्पर सपत्नी बना रहा है और यह दिखा रहा है कि यदि रात्रि अपने कान्त के साथ रमण कर रही है तो वसन्तसेना को उसके लिये दुःख नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका अर्थात् रात्रि रूपी प्रियतमा का भी तो वही अधिकार है। काले की एतद्विषयक टिप्पणी रोचक है।[1]

वास्तव में निशा सपत्नी है नहीं कोप उसका सपत्नी जैसा है। रजनी का प्रियतम आकाश ही है जिसके विशाल क्रोड में वह अपने मेघरूपी पुष्ट स्तनों के साथ लिपटी हुई है।

वर्षा की धाराओं के गिरने एवं बिजली चमकने के दृश्य का वसन्तसेना ने सुन्दर वर्णन किया है। सजल तमाल पत्रों के तुल्य इन मेघों से सूर्य एकदम घिर गया है जैसे आकाश ने उसे पी लिया हो। वर्षा की धाराओं से बिंधकर वल्मीक ऐसे पीड़ित हो रहे हैं जैसे बाणों की बौछार से हाथी पीड़ित हो जाता है। बादलों की अट्टालिकाओं में संचरण करने वाली बिजली ऐसी शोभा दे रही है मानों स्वर्ण निर्मित दीपक जगमगा रहा हो। मेघों द्वारा बलपूर्वक हटायी जाकर ज्योत्स्ना उसी प्रकार दूर भाग गयी है जैसे दुर्बल पति की पत्नी दूसरों के द्वारा बलपूर्वक अपहरण कर ली जाती है।[2]

एक एक चित्र देखने योग्य है। सूर्य को आकाश पी गया है। अस्त होते हुए सूर्य को आकाश द्वारा अदृश्य बताया गया है। वर्षा की धाराओं तथा बाणों में साम्य दिखाना भी वास्तविक है। हाथियों के बाण वर्षा से पीड़ित होने के समान वल्मीकों का वृष्टि धारा से पीड़ित होना दिखाकर कवि ने वल्मीकों के सम्बन्ध में मानवीकरण का सुन्दर उपयोग किया है। बिजली काञ्चनदीपिका

---

१. 'It is not a happy idea to make the night Charudatta's beloved and Vasant's rival There is nothing to support such a supposition except the quibbling on'.

M.R. Kale (Ed.) Mricchakatika, Notes p 102

२. एतावदं ·· मेघैर्हृता, मृ० क० ५।२०।

कही जा रही है। बिजली का छुप छिपकर चमकना तथा कांचनदीपिका का जगमगाना दोनों दृश्य सादृश्य रूप में सुन्दर हैं। इसी प्रकार ज्योत्स्ना को वनिता बताना और उसे मेघों द्वारा बलपूर्वक अपहृत दिखाना दुर्बल पति की पत्नी के हरने के समान है। यह सारी कल्पना भावक एवं मनोरम है। ज्योत्स्ना का पति चंद्रमा मेघों के सामने कितना दुर्बल है।

बादलों में बिजली चमकने तथा उनसे पानी की धाराओं के पृथ्वी पर गिरने का दृश्य भी कितना मनोरम है।

बिजली के चमकीले धागों से जिनकी कमर कसी हुई है ऐसे पानी की धारायें बरसाने वाले बादल परस्पर झपटने वाले हाथियों के समान मेघराज इन्द्र की आज्ञा से मानो रजत की रस्सियों से पृथ्वी को ऊपर उठा रहे हैं।[1]

कवि की कल्पना भी कैसी विचित्र है। काले उमड़ते बादल काले मतवाले हाथी हैं। बिजली की चमकती लकीरें ऐसी शोभित हैं जैसे चमकीली रस्सियों से बादलों की कमर कसी हुई हो। हाथियों की कोख में सोने की जंजीरें लगी हैं। इससे बिजली की चमकती हुई लकीरों का आभास होता है। जल की गिरती स्वच्छ धारायें रजत की रस्सियाँ हैं और इतनी तेजी से धारायें भूमि पर गिर रही हैं कि उनका क्रम टूटता नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह चमकीली रस्सियाँ नीचे आकर पुनः पृथ्वी को ऊपर खींच रही हैं। ये धारायें आकाश से कब अलग होती हैं और पृथ्वी को कब छूती हैं इसका दर्शक को प्रतिभास नहीं होता। धारासार वर्षा का क्षण में यह सुन्दर वर्णन है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द में वर्षा वाले आकाश का नाचना, हँसना, युद्ध करना इत्यादि अनेक कार्यों का चित्रण है।[2]

आकाश बिजली से नाच रहा है, सैकड़ों बगुलों की पंक्तियों से हँस रहा है, इन्द्रधनुष से जलधाराओं के बाण छोड़कर युद्ध कर रहा है, गड़गड़ाहट की ध्वनि से गर्जन कर रहा है, पवन के द्वारा क्षुब्ध होकर घूम रहा है और सर्पसदृश बादलों से काले धुएँ की राशियाँ छोड़ रहा है।

इस वर्णन की विशेषता यह है कि इसमें वर्षा से पूर्ण आकाश का कल्पनाओं सहित सुसज्जित चित्रण है। बिजली, बगुले, इन्द्रधनुष, वारिधारा, वज्रघोष, वायु का दुर्दिन प्रवाह एवं काले बादल सभी का यथार्थ वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

---

१. एते हि ''''''समुद्धरन्ति, मृ० क० ५।२१।
२. 'विद्युद्भि —''''''अम्बरम्', मृ० क० ५-२७।

मृच्छकटिक में काव्यप्रतिभा की व्यंजना बड़ी उत्कृष्ट है। इसमें यदि एक ओर वर्षा का दुर्दिन जैसा काव्यात्मक सुन्दर वर्णन है तो दूसरी ओर वसन्तसेना के प्रकोष्ठों का गद्यात्मक समीचीन विवेचन है। निश्चय ही शूद्रक का भाषा पर पूर्ण अधिकार है।

मृच्छकटिक मे प्रकृति चित्रण

मृच्छकटिक में कुछ स्थानों पर विशेषतः पंचम अंक में बाह्य प्रकृति का भी चित्रण किया गया है। कुछ समीक्षकों का विचार है अष्टम अंक में पुष्प-करण्डक उद्यान का सुन्दर चित्रण सम्भव था पर उसकी उपेक्षा की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओं के प्राधान्य के कारण इधर ध्यान नहीं दिया गया। ठीक भी है विस्तृत प्रकृति वर्णन से घटनाओं की स्वाभाविक गति में बाधा ही नहीं पड़ती वरन् कथा वस्तु का स्वरूप भी गौण प्रतीत होने लगता है। अतः कभी कभी प्रकृतिवर्णन की उपेक्षा जानबूझ कर की गयी सी ज्ञात होती है। पंचम अंक में वर्षा का वर्णन नाटकीय विचार से अधिक बढ़ गया है। काव्य की दृष्टि से तो इसको अत्यन्त मनोरम कहा जा सकता है।

उद्दीपन विभाव के रूप में मृच्छकटिककार ने प्रकृति वर्णन को अपनाया है। एक दो स्थानों पर प्रकृति का सुन्दर चित्रण बहुत आकर्षक है। प्रथम अंक में चन्द्रोदय का वर्णन अद्वितीय है।

तरुणी के कपोल के समान गौरवर्ण चन्द्रमा राजमार्ग का दीपक बनकर अपनी किरणों से दूध की धाराओं के समान प्रतीत होता है।[1]

घनान्धकार में मेघों से निकली हुई रजतमयी श्वेतजलधारा का वर्णन भी बड़ा स्वाभाविक है जो विद्युत की चमक से क्षणभर को दिखायी देती है और फिर दृष्टि से ओझल हो जाती है।

चिपकते हुए चांदी के द्रव जैसी बिजली रूपी दीपक की लौ में कभी कभी दिखायी देने वाला वर्षा का धारा-प्रवाह आकाश रूपी वस्त्र से टूट कर गिरते हुए छोर जैसा प्रतीत होता है।[2]

मेघाच्छादित आकाश के चित्रण में भी कल्पनाओं का जाल देखने योग्य है।

पक्षपटह, विधि द्वारा विचित, आकाश वायु द्वारा छिन्न मेघों से, आकाश के कोनों से, उड़ते हुए हंसों के, अमृत मथन के वेग से फेंके हुए आस्वादयुक्त

---

1. उदयति ... पतन्ति। मृ० क० (१-५७)।
2. एता ... पतन्ति। मृ० क० (५-४)।

के, नगरों के एवं उन्नत अट्टालिकाओं के समान सुशोभित हो रहा है।[1]

सघन अंधकार का भी प्रस्तुत किया हुआ चित्र अत्यन्त मनोरम है।

अन्धकार अंगों में व्याप्त हो रहा है। आकाश अंजन बरसा रहा है। दुष्टों की सेवा की भाँति मेरी दृष्टि भी व्यर्थ हो रही है।[2]

इस भाँति के स्वाभाविक प्रकृति चित्रण से यह निश्चित हो जाता है कि मृच्छकटिक प्रकृति चित्रण के लिए रूपकों में आदर्श रूप है। इसके रचयिता प्रकृति के उपासक थे। अधिकांश स्थल ऐसे भी मिलेंगे जहाँ मृच्छकटिक का प्रकृति-चित्रण अलंकारों में इतना दब गया है कि उसकी स्वाभाविकता ही समाप्त हो गयी है। पाँचवें अंक में इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

अंक के आरम्भ में ही सांगरूपक अलंकार के द्वारा मेघ का कृष्ण से साम्यभाव दिखाया गया है।

कज्जलपूर्ण महिष के पेट के समान एवं भ्रमर के समान कृष्णवर्ण का मेघ विद्युत कान्ति से निर्मित पीताम्बर पहने हुए साथ ही बकपंक्तिरूपी शंख धारण किये हुए वामनरूपी दूसरे विष्णु के सदृश यह आकाश में व्याप्त होने को प्रवृत्त हो गया है।[3]

मेघ से आच्छादित आकाश को कहीं धृतराष्ट्र के मुख के समान बताया गया है।

धृतराष्ट्र का मुख भी आँखें न होने से अन्धकारपूर्ण था। इधर आकाश में भी सूर्य चन्द्रमा के बादलों में छिप जाने से अँधेरा है।[4] ऐसे स्थानों पर प्रकृति वर्णन की अपेक्षा अलंकारों का होना काव्यत्व की दृष्टि से प्रधान बन गया है। जहाँ प्रकृतिचित्रण उद्दीपन के रूप में है वहाँ मानव हृदय के साथ उसका मनोरम सामञ्जस्य है। वसन्तसेना के हृदय को मेघों ने विदीर्ण कर दिया है। एक तो यह दुर्दिन में अभिसरण कर रही है दूसरे बगुला शब्द करता हुआ घाव पर नमक सा छिड़क रहा है।

अर्थात् वियोगियों के हृदय में एक ओर गरजते हुए बादल और चमकती हुई बिजलियाँ वैसे ही वेदना उत्पन्न कर रही हैं, उस पर भी वन के समय

---

१. ससर्जनैरिव . . .. वसुधा। मृच्छकटिक (५-५)
२. लिम्पतीव पता। मृच्छकटिक (१-३४)
३. मेघो . . .. प्रवृत्तः। मृच्छकटिक (५-२)
४. एतद् ...... गता। मृच्छकटिक (५-६)।

बजने वाले नगाड़े के समान यह दुष्ट बुद्धि मयूरा वर्षा की रट से मार्ग पर गमक छिड़क रहा है।[1]

वसन्तसेना फिर मेघ को धमकी देती है कि तुम्हें लज्जा नहीं आती जो प्रियतम के घर जाती हुई मुझे हाथों से स्पर्श करते हो।

अर्थात् हे जलधर प्रियतम के घर जाती हुई मुझे तुम गर्जन से डराकर निर्लज्जता से अपने धारा रूपी हाथों से छू रहे हो[2]।

अहिल्यायाम्पी इन्द्र को वह इसी भाँति उलाहना देती है।

अर्थात् जिस प्रकार गौतम की स्त्री अहिल्या पर हे इन्द्र! आपने मिथ्या भाषण किया था कि मैं गौतम हूँ उसी प्रकार चारुदत्त के लिए कामातुर मेरे दुःख को समझकर इस बाधक मेघ को भी रोक दीजिये।[3]

वसन्तसेना अपने विचार में कितनी दृढ़ है यह उसके निम्न वचन से ज्ञात होता है। उसने इन्द्र को चेतावनी देते हुए कहा है—

हे इन्द्र! चाहे बिजली भी कितनी कड़के, वर्षा भी मूसलाधार हो किन्तु तुम कामिनियों को प्रियतम के प्रति जाते हुए नहीं रोक सकते।[4]

कहीं कहीं तो प्रकृति वर्णन श्लेष एवं रूपक से पुष्ट होकर चमक उठा है। वायु के तुल्य वेगवान् अविरल जलधारा से बाणरूपी वृष्टि करता वाला युद्ध के नगाड़ों जैसा शब्द करता हुआ एवं चञ्चल पताका रूपी विद्युत से युक्त मेघ मैत्र्य रहित वायु के नगर के मध्य विजयी राजा के समान आकाश में चन्द्रमा की किरणों को हर लेता है।[5]

प्रकृति वर्णन के सम्बन्ध में यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि प्रकृति की ओर से मृच्छकटिक प्रणेता उदासीन थे। एक कारण इस सम्बन्ध में अलंकार हो सकते हैं क्योंकि जहाँ-जहाँ प्रकृति वर्णन है वहाँ अलंकारों की भरमार दिखाई देती है पर देखा यह गया है कि संस्कृत में कवियों ने प्रकृतिवर्णन जहाँ-जहाँ भी किया है वहाँ-वहाँ या तो श्लिष्ट वर्णन है या फिर अन्य अलंकारों का आश्रय लिया है। महर्षि कवि वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में प्रकृति वर्णन करते

---

१ एतैरेव ... ...प्रतिपथ्। मृ० क० (५-१८)।
२ जलधर. ... परामृशसि। मृ० क० (५-२८)।
३ यद् गतम्। मृच्छकटिक (५ १०)।
४. गर्ज वर्ष। मृच्छकटिक (५-३१)।
५. पवनचपलवेग ' धारो। मृच्छकटिक (५-२०)।

समय अलंकारों का आश्रय लिया है। उपमा, रूपक आदि उनके प्रकृति वर्णन में यहाँ वहाँ बिखरे हुए दिखाई देते हैं।

मृच्छकटिककार का प्रकृति वर्णन वास्तव में मनोरम प्रतीत होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसमें केवल वर्षाकाल का ही वर्णन है।

मृच्छकटिक में भावचित्रण एवं वर्णन वैचित्र्य

भावचित्रण

भावों की मृदुलता ने मृच्छकटिक के काव्य सौन्दर्य में अभूतपूर्व वृद्धि की है। इसका मुख्य कारण यह है कि मृच्छकटिक के निर्माता ने इसमें मानवीय भावों का स्वाभाविक चित्रण किया है। चारुदत्त जैसा अत्यन्त उदार व्यक्ति अपने वैभव और सम्पत्ति के आगे मैत्रीभाव को अधिक महत्त्व देता है। जब वह यह देखता है कि मित्रों का समागम भी इसके कारण शिथिल हो जाता है तो वह व्याकुल हो उठता है।[1]

शर्विलक चौर्य कार्य के सम्बन्ध में सोचता है कि इस कर्म को भी क्यों न अच्छा कहा जावे जिसमें स्वाधीनता का समावेश है और अश्वत्थामा जैसे महारथी ने भी इस कार्य का मार्ग प्रदर्शित किया है।[2]

चोर के सन्देहग्रस्त मनोगत भाव का भी वर्णन कवि ने सुन्दर किया है।[3]

नारी के हृदयचित्रण में तो मृच्छकटिक का प्रणेता अत्यधिक सफल हुआ है। दुर्दिन में अभिसरण करनेवाली वसन्तसेना को विट उपपत्नी के सदृश प्रिय-

---

१. सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
   भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
   एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
   यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति॥ मृ० क० (१-१३)

२. कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते
   विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत्।
   स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि-
   र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना॥ मृ० क० (३-११)

३. यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मा
   सम्भ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।
   तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा
   स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः॥ मृ० क० (४-२)

मिलन में बाधक बनती है। अत: वह उसे उपालम्भ देती हुई है।[1]

मेघों का शब्द उसे और भी चिढ़ानेवाला लगता है।[2]

वैसे तो पुरुष स्वभावत: कठोर होता है। वह नारी के हृदय की वेदना क्या समझ सकता है पर आश्चर्य तो यह है कि वसन्तसेना के प्रति विद्युत भी समवेदना नहीं रखती। उपालम्भ के रूप में उसी को वसन्तसेना व्यक्त करती है।[3]

इसी भाँति अनेक स्थलों पर मानवभावनाओं का सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण मृच्छकटिक में किया गया है। ऐसा लगता है कि जैसे इसके निर्माता ने अपनी अनुभूति द्वारा मानव हृदय में घुसकर अनेक सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त किया है।

वर्णन वैशिष्ट्य

मृच्छकटिक में मानव जीवन की दशाओं का भी मार्मिक चित्रण है। दरिद्रता यदि अपनी चरम सीमा पर है तो वसन्तसेना के कुबेर सदृश वैभव का भी वर्णन है। सेंध के स्वरूप का विवेचन और उसके भेदों का वर्णन भी मन में कुतूहल उत्पन्न करता है—द्यूतकर्म का विशद वर्णन भी सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है। संवाहक के शब्दों में चारुदत्त यदि प्रियदर्शन है तो आर्यक के विचारों के अनुसार उसकी दृष्टि रमणीय है। वसन्तसेना उसके रूप सौंदर्य पर मोहित हो जाती है। न्यायाधीश ने भी चारुदत्त के सौंदर्य वर्णन में कहा है।[4]

चारुदत्त की ऊँची नासिका एवं विशाल दोनों आँखें वेश सहित मुख को धारण करता है। निश्चय ही यह अकारण दोषारोपण का पात्र नहीं है।

---

१ मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र।
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥ (५-१५)

२. प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीषि शठधी क्षारं क्षतेऽक्षिपन् ॥ मृ० क० (५-१८)

३. यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अपि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥ (५-३२)

४. घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रम्।
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ॥ मृ० क० (९-१६)

विट ने वसन्तसेना की ललित गति का भी यथार्थ चित्रण करते हुए कहा है मानो रेशमी वस्त्रों के अञ्चल को हवा में फहराती हुई एवं रक्तकमलों की कलियों को धरती पर बिखेरती हुई तीव्र गति से कहाँ जा रही हो।[1]

शर्विलक के स्वगत कथन में प्रगाढ़ निद्रा में विलीन व्यक्ति का स्वाभाविक चित्र भी मनोरम है।[2]

प्रगाढ़ निद्रा के कारण श्वास और आँखों की स्थिति सामान्य है एवं शरीर के अंग भी शय्या से नीचे लटक रहे हैं। यदि निद्रा कृत्रिम होती तो दीपक का प्रकाश उसके लिये सह्य नहीं होता।

मृच्छकटिक में कला समायोजन

मृच्छकटिक एक ऐसा रूपक है जो दस अंको में समाप्त हुआ है। अन्य संस्कृत नाटकों की अपेक्षा इसका कथानक बड़ा अवश्य है पर आदि से अन्त तक यह कुतूहलपूर्ण है। वसन्तसेना के प्रासाद कक्षों का और दुर्दिन का वर्णन भले ही विस्तृत हो पर है उच्च कोटि का।

प्रकरण का पूर्व भाग यथार्थवादी वातावरण को बनाने में सहायक है। जिस संवाहक ने द्यूत के क्रम में वसन्तसेना की विहार में सेवा-शुश्रूषा की थी उसका बौद्ध भिक्षु रूप यहीं से आरम्भ होता है फिर शर्विलकोद्देश प्रकरण मदनिका का शर्विलक से प्रेम का आधार बना और चारुदत्त का सत्यनिष्ठ चरित्र प्रकाश में आया।

---

१. किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना,
रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
रक्तोत्पलप्रकर कुड्मलमुत्सृजन्ती,
टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा॥ मृ० क० (१–२०)
आधुनिक काल की भाँति मृच्छकटिक काल में भी नव युवतियाँ वर्णसाम्य का ध्यान रखती थीं। यही कारण है कि वसन्तसेना लाल रेशमी वस्त्रों के साथ लालकमल पुष्प ही धारण किये हुये है। यह इस बात का प्रतीक है कि प्राचीन काल से ही रंगों का सादृश्य शृङ्गार की वेषभूषा के लिये सुन्दर एवं आकर्षक माना जाता रहा है।

२ निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते,
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
गात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं,
दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि॥ मृ० क० (३–१८)

अभिनय की दृष्टि से नाटक को संक्षिप्त करने के लिये एक नया रूप भी दिया जा सकता है। इसके द्वारा चारुदत्त के भावों को यथावत रखते हुये दिखाना सम्भव है। आभूषण की धरोहर, उसकी चोरी तथा पुनः प्राप्ति एवं चारुदत्त वसन्तसेना के मिलन को मिलाकर आरम्भ से मनोरञ्जक रूप में भी इसका प्रस्तुत करना सम्भव है। इस रूप में विस्तृत वर्णन और अनावश्यक विस्तार को रोका जा सकता है। ऐसी रचना रंगमंच के विचार से तो सर्वथा उपयुक्त होगी किन्तु मृच्छकटिककार को अभीष्ट न होगा। उन्होंने तो इसे विभिन्न रुचियों के पात्रों से अनेक प्राकृत भाषाओं में काव्योचित वर्णनों से अलंकृत किया है। यदि इन सब बातों का ध्यान रखते हुये इसकी दो कथानकों में विभाजित किया जाय तो उसमें केवल एक ही दोष होगा वह यह कि इसको दो बैठकों में प्रस्तुत किया जा सकेगा। इस रूप में प्रथम अंक से पंचम अंक तक एक कथानक और छठे अंक से दसवें अंक तक दूसरा कथानक प्रस्तुत करना समीचीन होगा। प्रथम रूप में चकित वसन्तसेना का मिलन चारुदत्त से कुछ भिन्न परिस्थितियों में दिखाकर समाप्ति करना सम्भव है। दूसरे रूप में पुष्पकरण्डक उद्यान की चर्चा करते हुये राजनैतिक विद्रोह के साथ वसन्तसेना का कुशलपूर्ण रूप दिखाया जा सकेगा।

नाटक के समस्त कलेवर को देखते हुए यह कह सकते हैं कि इसके विभिन्न अंक अथवा दृश्य एक निश्चित योजना में परस्पर गुँथे हुए हैं। यों इसके दो कथानकों में थोड़ा सी काट दी पहला भाग भले ही निरपेक्ष रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है पर दूसरा भाग पहले भाग से स्वतन्त्र रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। रचना से उत्पन्न होने वाला प्रभाव पृथक् रूप में नहीं वरन् समग्र रूप में विभिन्न दृश्यों के संयोग वश ही सामने आता है। यदि नाटक के विस्तार को कुछ काट छांट करके कम किया जाय तो उसकी मौलिकता को अवश्य आघात पहुँचेगा।

सच तो यह है कि पश्चिमी नाटकों से समकक्ष भारतीय संस्कृत नाटकों को तुलनात्मक दृष्टि से रखना एक असफल प्रयत्न है। भारतीय नाटकों की एक विशेष अपनी शैली है जिससे वहाँ पश्चिमी नाटकों के आचरण एवं वातावरण की तुलना में रखना उचित नहीं है। पश्चिमी नाटक यूनानी नाट्य कला की त्रिविध अन्वितियों (Three Unities) के आधार पर निर्भर है। इसे मृच्छकटिक की कसौटी पर सर्वथा नहीं कसा जा सकता। पाश्चात्य नाटक केवल कथानक को महत्त्व देते हैं जबकि भारतीय संस्कृत नाटकों में काव्यात्मक

सौन्दर्य और शिल्पशैली का भी लालित्य सम्मिलित रहता है। इसमें न केवल रंगमंच की अपेक्षित सजावट ही होती है वरन् साहित्य प्रतिभा के प्रदर्शन का आनन्द सहृदयों को भरपूर होता है। फिर इस रचना में अनेक विषयों तथा प्रयोजनों की पूर्ति का प्रयास किया गया है। प्रस्तावना में इसकी सूचना स्पष्ट है।[1] मृच्छकटिककार का संयोजन कौशल निश्चय ही प्रभावकारी है।

वस्तुविन्यास कला भी मृच्छकटिक की निराली है। इसमें प्रत्यक्ष [illegible] के स्थान पर परोक्ष प्रणाली को अपनाया गया है। इसी कारण इसके पूर्ण रसास्वाद को समझने के लिए बाहर से भीतर की ओर जाना पड़ता है। वस्तु-विन्यास की इसी परोक्ष पद्धति को मृच्छकटिककार ने स्वीकार किया है।

एक ओर इसके पात्र चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणयकथा के पोषक हैं तो दूसरी ओर असम्बद्ध से प्रतीत होते हैं। इन पात्रों के साथ सम्बद्ध नायक नायिका के सम्बन्धों को हम जब भीतर की ओर समेटते हैं साथ ही उनके मित्रों और सहचरों के अस्फुट चित्रों को समन्वित चित्र के अन्दर सम्मिलित करते हैं तब चारुदत्त और वसन्तसेना के निजी सम्बन्ध की गूढ़ शक्ति एवं गहराई की हमें जानकारी हो जाती है। यहाँ नायक और नायिका दोनों के चरित्रों में अनेक अच्छे गुणों का चित्रण हुआ है और उन्हें पारस्परिक आकर्षण का विशिष्ट आधार बनाया गया है। यथार्थवादी होते हुए भी इसकी आधार-भूत भावना आदर्शवादी है।

मृच्छकटिक की शैली मनोरम है। दूसरे अंक में तीन जुआरी सड़क पर परस्पर झगड़ते हुए दिखायी देते हैं। पर शीघ्र ही उनमें से एक वसन्तसेना के प्रासाद में प्रवेश करता है और हमें ज्ञात है कि यह संवाहक है और चारुदत्त का स्वामिभक्त सेवक है। उसके द्वारा चारुदत्त का नाम सुनते ही वसन्तसेना मन्त्र-मुग्ध सी हो जाती है। चारुदत्त विषयक सम्भाषण से उसे सन्तोष प्राप्त होता है। एक ओर चारुदत्त की दरिद्रता से संवाहक असहाय सा द्यूतक्रीड़ा में प्रवृत्त होकर चरित्रभ्रष्ट हो जाता है। फिर शीघ्र ही दूसरी ओर वसन्तसेना की स्नेहपूर्ण उदारता से बौद्ध श्रमण वृत्ति स्वीकार कर लेता है। अन्त में यही जब वसन्तसेना को कण्ठनिपीडित देखता है तो उसकी सेवा सुश्रूषा से न केवल उसके प्राणों की रक्षा करता है वरन् उसकी हत्या के मिथ्या आरोप के अभियोग में पवित्र चारुदत्त को भी फाँसी के तख्ते पर लटकने से बचाता है।

---

१. मृच्छकटिक १।६-७

वसन्तसेना के अलङ्कारों का प्रसंग भी मुख्यकथानक के आरोहावरोह में वैशिष्ट्यपूर्ण है। ये आभूषण कभी अन्तिम प्रकरण का संकेत नहीं देते वरन् वस्तुविन्यास कुछ इस प्रकार से सम्पन्न हुआ है कि घटनाएँ अन्तिम प्रकरण की ओर न होकर विमुख होती दिखाई देती हैं। तृतीय अंक के सन्धिच्छेद के प्रकरण में शर्विलक को अभिलाष भरी सेंध लगाने की तत्परता में ही दिखाई गयी है। अन्त में उसकी प्रेयसी मदनिका का उल्लेख है। यह सब देखकर सहसा समझ में नहीं आता कि सन्धिच्छेद का कथानक से क्या सम्बन्ध जाये बनेगा। आभूषणों की चोरी कथावस्तु को आगे बढ़ाने की अपेक्षा बाधित ही करती है। संयोग से ही यह आभूषण वसन्तसेना के घर में पहुँच जाते हैं। इसी भाँति बड़े घुमाव के साथ कथानक की अर्थपूर्ति देखने को मिलती है। पुनः घटनाएँ मनमाने ढंग से परस्पर उलझ कर सुलझती जाती हैं। ये आभूषण आगे बालक के मनोरंजन के लिए उसके खिलौने की गाड़ी में रख दिये जाते हैं। संयोग से नवें अंक में अधिकरणियों के समक्ष मैत्रेय की कोख से नीचे गिरकर ये सबको चकित कर देते हैं। इन्हीं अलङ्कारों को गले में बाँध कर चारुदत्त वध्य स्थल पर पहुँचता है। इस भाँति अलङ्कार कथानक के विकास के साथ संबद्ध प्रतीत होते हैं।

मुख्य कथानक के साथ उपकथानक भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तु संघटन का सबसे सुदृढ़ एवं मुख्य भाग राजनीतिक षड्यन्त्र है। सभी पात्र सज्जन आर्यक के साथ सहानुभूति रखते हैं एवं दुष्ट पालक से घृणा करते हैं। शर्विलक का साहस भी कितना अदम्य है कि वह एक ओर यदि घर की दीवारों को तोड़ने में कुशल है तो दूसरी ओर बन्दीगृह की भी दीवारों को तोड़ने में और आर्यक को मुक्त कराने में सर्वथा सफल रहा है। सम्भावित राजनैतिक विद्रोह के संकेत तो कथानक के पूर्वार्द्ध में ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं पर छठे अंक से इसका रूप निर्धारित दिखाई देता है। आर्यक की चर्चा सातवें अंक में है। अभिनय की दृष्टि से रंगमंच पर आधिपत्य चारुदत्त का ही रहता है। वही बन्दीगृह से भागे हुए आर्यक के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता है और उसे सुरक्षा का आश्वासन देते हुए मंगल कामना करता है। आर्यक तो केवल अपने व्यवहार से आभार प्रकट करता है। यद्यपि राज्यपरिवर्तन की दृष्टि से आर्यक कम महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु उसके कार्य प्रकाश चारुदत्त के केवल सहयोगी रहे हैं। प्रकट रूप में तो अवसर के सभी साधन चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रेमकथा को पूर्ण रूप देने में सफल हुए हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि आर्यक की विजय का श्रेय

चारुदत्त का वरद हस्त था। आर्यक ने सत्तारूढ़ होकर चारुदत्त को न केवल दण्ड-मुक्त किया वरन् उसे कुशावती का राज्य सौंपकर वैभव एवं सम्मान प्रदान किया। हमारी सारी ममता चारुदत्त के प्रति है क्योंकि उसके बिना आर्यक का दर्शन राजा के रूप में हमें नहीं मिलता। फिर न तो वसन्तसेना की प्राणरक्षा में और न चारुदत्त को फाँसी के तख्ते से हटाने में राजनीतिक क्रांति किसी प्रकार से सहायक सिद्ध होती। वन में वसन्तसेना संवाहक के द्वारा रक्षित हुई जिसे वह स्वतः उपकृत कर चुकी थी। चारुदत्त भी यथासमय वसन्तसेना के पहुँच जाने के फलस्वरूप वध्यस्थान से लौटने में सफल होता है। अतः राज्य-क्रांति का मुख्य प्रणय कथा की पूर्ति में कोई विशेष योगदान नहीं है वैसे दोनों कथायें परस्पर सम्मिलित रूप में समाप्त हुई हैं और प्रधान कथानक में परोक्ष उप-कथानक सुन्दर ढंग से विलीन हुआ है। डा० कीथ जैसे विद्वानों का यह कथन कि दोनों कथाओं के कारण नाटक में अन्विति का ह्रास हुआ है उचित नहीं जँचता।

> "These merits and the wealth of incidents of the drama more than compensate for the over luxuriance of the double intrigue and the lack of unity, which is unquestionable."[1]

प्रयोजन कथा के विचार से वस्तु विन्यास का एक आधारभूत सिद्धांत यहाँ भाग्य लीला भी है। आरम्भ में शकार एवं उसके सेवकों द्वारा अँधेरे में नगर की गलियों में घूमती हुई वसन्तसेना संयोग से चारुदत्त के घर जाकर उसमें प्रवेश करके बच जाती है। जुआरियों वाले दृश्य में संवाहक संयोग से वसन्तसेना के घर में पहुँच जाता है और सभिक के अत्याचार से मुक्त हो जाता है। प्रवहण विपर्ययवाला समस्त क्रम नियति के खेल पर निर्भर है। आर्यक का चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़ जाना और वसन्तसेना का शकार की गाड़ी पर चढ़ जाना सब कुछ भाग्य का चक्र ही कहा जा सकता है। इससे बढ़कर और क्या कहा जाय कि विदूषक की काँख में दबे आभूषण चारुदत्त के अभियोग के सुनने के समय न्यायालय में नीचे धरती पर खिसक पड़ते हैं। अन्त में यह जानते हुये कि निरपराध चारुदत्त शूली पर लटकाया जायेगा सभी की सहानुभूति उसके साथ है पर कोई आशा कहीं से भी उसके बचने की नहीं दिखाई देती। न्यायाधीश भी विवश होकर उसे न बचा सके। शकार को भी आशा न थी कि वसन्तसेना जीवित होगी। अतः चारुदत्त का शूली पर लटकना निश्चित ही था और यह

1. A. B. Keith : The Sanskrit Drama p 136.

चाण्डालों द्वारा वध निमित्त वहाँ पहुँचा भी दिया गया था पर यह नियति नटी का खेल है कि सहसा संवाहक बौद्ध भिक्षु के साथ वसन्तसेना चारुदत्त के समक्ष उपस्थित हो जाती है और शकार की सारी योजनाओं पर पानी फिर जाता है। 'सत्य विजयते नानृतम्' वाक्य यहाँ पूर्णतया चरितार्थ होता है और ईश्वर के प्रति विश्वास की दृढ़ता में जनता की आस्था जगती होती है। फिर ईश्वर के अस्तित्व में तर्क-वितर्क की अपेक्षा नहीं होती। एक ओर चाण्डाल के हाथ से तलवार का अचानक गिर जाना और दूसरी ओर सामने संवाहक श्रमण के साथ वसन्तसेना का खड़ा दिखाई देना क्या भाग्य पर विश्वास का प्रतीक नहीं है?

उस समय चारुदत्त ने कहा है—प्रिये तुम्हारे ही कारण मृत्यु मुख में जाती हुई यह मेरी देह तुम्हारे ही द्वारा रक्षित हुई है। अहो प्रिय समागम का कैसा प्रभाव है मरकर भी कौन जीता है?[1]

विवाह के समय जिस प्रकार प्रियतमा की प्राप्ति के अवसर पर वर की सजावट होती है उसी प्रकार का यह लाल वस्त्र और माला है। वध के समय की नगाड़ों की ध्वनियाँ विवाह के समय की बाजों के ध्वनियों के समान मोहक बन गयी हैं।[2]

क्रूर दाण्डिक भी इस समय कहने को विवश हो जाता है कि गुण से आगत नौका के समान सुशोभित प्रियतमा वसन्तसेना ने विपत्ति रूप अपार महासागर से चारुदत्त को पार कर दिया। अतएव राहु के ग्रहण से मुक्त चन्द्रिकायुक्त चन्द्र के समान प्रिया युक्त चारुदत्त को बहुत दिनों के बाद देख रहा हूँ।[3]

कलाकार का प्रयास यह दिखाने में स्तुत्य है कि उसने अथक परिश्रम को विफल नहीं दिखाया और साथ ही विपरीत आचरणों द्वारा ईश्वर के प्रति विश्वास में कमी नहीं आने दी। कथानक की सफलता के नाते उसने बीच बीच में सामाजिकों की अनुमानित विचार धारा को बदल कर भाग्य के सहारे अपनी लक्ष्य पूर्ति में सफलता प्राप्त की है।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त छन्द वैशिष्ट्य

मृच्छकटिक में संस्कृत और प्राकृत दोनों का प्रयोग है। प्राकृत यहाँ अनेक रूपों में देखी जाती है। श्लोक संस्कृत और प्राकृत दोनों में ही पर्याप्त रूप में हैं। छन्दों की विविधता दोनों प्रकार के पद्यों में देखने को मिलती है।

---

१. त्वदर्थमेतद्…… पुनर्मिलेत। मृच्छकटिक १०-४३।
२. रक्तं तदेव…… समाला। मृच्छकटिक १०-४४।
३. दिष्ट्या…… मुखम्। मृच्छकटिक १०-४९।

इन छन्दों के देखने से ज्ञात होता है कि लघु तथा सरल छन्द ही कवि को विशेष प्रिय है। स्वभावतः प्रिय छन्द श्लोक अनुष्टुप् है। यह छन्द निम्न पात्रों के लिये उपयुक्त है और कथोपकथन की प्रगति को आगे बढ़ाने के लिये अनुकूल पड़ता है। इसका प्रयोग ८१ बार हुआ है। दूसरा प्रिय छन्द मनोहर वसंततिलका है। यह ३९ बार प्रयुक्त हुआ है। शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग ३२ बार किया गया है। अन्य महत्वपूर्ण छन्दों में इन्द्रवज्रा का प्रयोग २९ बार, वंशस्थ का ९ बार और दोनों के मिश्रितरूप उपजाति का प्रयोग ५ बार देखने को मिलता है। पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी, विद्युन्माला, वैश्वदेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा और हरिणी तथा एक विषमवृत्त का प्रयोग भी हुआ है। आर्या के इक्कीस उदाहरण हैं। इनमें एक गीति भी सम्मिलित है जिसके प्रथमार्ध तथा परार्ध में तीस मात्रायें हैं। दो उदाहरण औपच्छन्दसिक के हैं प्राकृत छन्दों में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। आर्या शैली के ५१ तथा अन्य प्रकार के ४४ पद्य प्रयुक्त हुए हैं।[1] विविध छन्दों के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिककार का छन्द रचना पर स्वाभाविक अधिकार था।

मृच्छकटिक के अध्ययन की आवश्यकता एवं उपयोगिता

संस्कृत के नाटक प्रायः महाभारत एवं रामायण पर आश्रित हैं। अतः इनमें अधिकांश में आदर्शवाद की झलक है। किसी में आदर्श प्रेम है तो किसी में आदर्श त्याग है। दोनों के सामञ्जस्य से मृच्छकटिककार ने अपनी ऐसी कृति प्रस्तुत की जिसमें यथार्थवाद के सहारे एक नवीन आदर्शवाद अपनाया गया। यही कारण है कि इसने सभी के हृदय में स्थान ग्रहण किया। यदि यह कहा जाये तो अनुचित न होगा कि संस्कृत के सभी नाटकों के पढ़ने के पश्चात् जिस आनन्द की उपलब्धि एवं ज्ञान प्राप्ति नहीं होती मृच्छकटिक को पढ़कर वही सुलभ हो जाती है। इसमें प्रणय के साथ तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक दशा का वास्तविक चित्रण है।

काव्य कला की दृष्टि से सरल छन्दों का प्रयोग, सुन्दर प्रकृतिवर्णन, न्यायालय का यथार्थ चित्रण, धार्मिक स्थिति एवं कार्यकलाप के आधार पर पात्रों का समुचित चरित्र चित्रण आदि सभी कुछ इसमें सुन्दर है।

नाट्यकला की दृष्टि से देखा जाए तो यह सर्वश्रेष्ठ है। प्रायः सभी संस्कृत नाट्यप्रेमियों ने उत्तम श्रेणी के जनसमुदाय को अपने नाटकों का पात्र बनाया है पर शूद्रक ने प्रथम बार मध्यम श्रेणी के लोगों को अपने नाटक का पात्र चुना

1. ए० बी० कीथ अनु० डा० उदयभानु सिंह संस्कृत नाटक, पृष्ठ १४१।

है। उसके पात्र प्रतिदिन हमारी भाँति सड़कों पर और गलियों में चलते फिरते पाते हैं। इसे संकीर्ण प्रकरण भी इसी लिए कहा जाता है कि इसमें लुच्चे, जुआरी, चोर, विट और वेश्याओं की चर्चा है। आख्यान तथा वातावरण की यथार्थ वादिता और स्वाभाविकता के कारण ही इसकी पाश्चात्य आलोचकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इसकी उपयोगिता इसलिये भी और बढ़ी कि यह न केवल संस्कृत नाटकों में वरन् विश्व नाटक साहित्य में अपने ढंग की अनुपम कृति है। परस्पर के भेदभाव को मिटाकर बिखरे हुये समाज को एक सूत्र में गूँथने के लिये जो आदर्श यथार्थवाद के आधार पर शूद्रक ने प्रस्तुत किया है वह सच में सराहनीय है।

मृच्छकटिक पर कुछ आक्षेप एवं उनका निराकरण

मृच्छकटिक को गहराई से देखने पर कोई आक्षेप उचित नहीं प्रतीत होता। पञ्चम अंक में वर्षावर्णन से यह कहना कि कथावस्तु की एकता भंग हुई है और नाटकीय व्यापार में शिथिलता आई है सर्वथा भ्रम है। प्रकृति वर्णन तो सामयिक होने से स्वाभाविक है फिर कवि हृदय होने से शूद्रक वर्षा काल की मनोहरता से रीझ उठता है।[1] इसके द्वारा तो वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति प्रेम और उद्दीप्त हुआ है।

(क) डाक्टर राइडर[2] के अनुसार मृच्छकटिक एक लम्बा प्रकरण है पर उसके कथानक पर विचार किया जावे तो वह अनुचित प्रतीत नहीं होता फिर आनन्द का वेग तो निरन्तर बना ही रहता है।

(ख) डा० राईडर का फिर यह कहना कि इसमें दो रूपकों की सामग्री है इसलिये ठीक नहीं लगता कि उनके अनुसार कथावस्तु के विभाजन से मृच्छकटिक का सौंदर्य नष्ट हो जाता है।

(ग) डा० राईडर शर्विलक, मैत्रेय और मदनिका को विश्व के नागरिक मानते हैं और चारुदत्त, वसन्तसेना इत्यादि को भारतीय (हिन्दू) समझते हैं पर ऐसा कहते हुये वह यह ध्यान नहीं रखते कि शर्विलक मैत्रेय तथा मदनिका भी तो भारतीय चरित्र हैं। सम्भवतः वह यह समझते हों कि इनके कार्यकलाप भारतीयेतर नाटकीय पात्रों से मेल खाते हों पर गम्भीर दृष्टि इसका समर्थन नहीं करती।

आज भी माथुर जैसे सभिक तथा उसके सहयोगी न केवल कलकत्ता और बम्बई की गलियों में दिखाई देते हैं वरन् लन्दन के ईस्ट एण्ड में भी वे

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास (शूद्रक)
२. डा० जी० के० भट्ट : प्रीफेस टु मृच्छकटिक (८-शूद्रक)

घूमते हुये देखे जा सकते हैं। यहाँ जुआरियों का अड्डा (गैम्बलिंग हैम) जाल की पुलिस की नजर बचाकर दिन दहाड़े चला करता है।

मृच्छकटिक की यह भी एक विशेषता है कि इसमें संस्कृत के अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक पात्रों का समावेश है। कथानक को देखते हुए इनका औचित्य सार्थक है।

'शूद्रक ने अपने प्रकरण में सत्ताईस पात्रों का सन्निवेश किया है जो एक ऐसी जमात है जिसमें समाज के लगभग प्रत्येक स्तर तथा प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं पर विशेषता यह है कि मृच्छकटिक के समस्त पात्र अपनी वर्गगत विशेषतायें रखते हुये ऐसे रूप में चित्रित हुये हैं जिससे उनकी वैयक्तिक विशिष्टता भी झलक जाती है।"[1]

मृच्छकटिक की प्रमुख विशेषतायें

संस्कृत रूपकों में मृच्छकटिक का अपना एक शास्त्रीय विशिष्ट स्थान है। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि अनेक प्रसिद्ध भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस पर उत्तम टीकायें और विस्तृत भूमिकायें लिखकर इसे गौरव प्रदान किया। आज इस पर कई अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसकी विशेष चर्चा है। फिर संस्कृत साहित्य का कोई इतिहास ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें इस पर प्रकाश न डाला गया हो। समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं के लेखों से भी इसकी विविध विशेषतायें सामने आती रहती हैं।

यह सब कुछ होते हुये भी प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का एकमात्र उद्देश्य मृच्छकटिक का विस्तृत विवेचन है जिसके अन्तर्गत उसका शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनैतिक मूल्यांकन किया गया है।

इसके विवादास्पद लेखक शूद्रक के सम्बन्ध में भी यहाँ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत प्रकरण में यथार्थ जगत् का चित्रण जहाँ तक सफल हुआ है इसकी भी इसमें एक झलक है।

चारुदत्त नाटक से मृच्छकटिक का साम्य, कथावस्तु की मौलिकता एवं इसके नाम की सार्थकता भी इसमें स्पष्ट की गई है। नाटकीय अन्वितियों का औचित्य भी दिखाया गया है।

प्रधान नायक एवं नायिका के विवेचन के साथ विरोधी नायक की कुचेष्टाओं पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। मृच्छकटिककार की नाट्य प्रतिभा

---

1. डा० रमाशंकर तिवारी : महाकवि शूद्रक (वशिष्ट टिप्पणियों के अन्तर्गत)।

एवं काव्य प्रतिभा की व्यंजना के साथ प्रकृति चित्रण, भावचित्रण एवं तत्कालीन स्थापत्य कला का भी इसमें सुन्दर विवेचन है।

नाट्यशास्त्र के प्रसंग में शास्त्रीय विशेषताओं से युक्त मृच्छकटिक में अर्थ प्रकृतियाँ, कार्यावस्थायें और सन्धियाँ समीचीन रूप से दिखाई गई हैं। पूर्वरंग नान्दीपाठ, सूत्रधार, प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि का भी इसमें सम्यक् विवेचन है। छन्द, रस, अलंकार और वृत्तियों का वैशिष्ट्य दिखाते हुये इसमें ध्वनि एवं वक्रोक्ति की भी चर्चा है।

भाषा के विचार से इस प्रकरण के पात्र तीन प्रकार के हैं संस्कृत भाषा-भाषी, प्राकृतभाषी एवं मौनी। इसका भी इसमें विवेचन है।

मृच्छकटिक कालीन धार्मिक स्थिति का परिवर्तित रूप भी इसमें बौद्धों का अभ्युदय दिखाते हुए चित्रित किया गया है। इस युग में प्राचीन संस्कृत का स्वरूप बदलने लगा था। पुराने आदर्शों के परिवर्तन स्वरूप नवीन भावनायें उद्भूत होती जा रही थीं। वर्णव्यवस्था के अनुसार अपने कार्यों की सीमायें टूट चुकी थीं। ब्राह्मण भी व्यापार करने लगे थे। आर्थिक दृष्टिकोण प्रधान होता जा रहा था। इसकी व्याख्यान यहाँ विस्तृत चर्चा है। समाज के उत्थान में भव मौलिक परिवर्तन हो रहा था। जाति बन्धन शिथिल हो चुके थे। विवाह में नवीन आदर्श एवं वेश्याओं की स्थिति में नवीनता का समावेश एक नई क्रान्ति के द्योतक थे। द्यूत, चोरी एवं मद्यपान का आविष्य समाज को अवनति की ओर किस भाँति ले जा रहा था इन सब पर भी इसमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

मृच्छकटिक कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ भी आये दिन बदलने से डाँवाडोल थीं। स्वेच्छाचारिता पराकाष्ठा पर थी। क्रान्ति की योजनायें बनतीं और बिगड़ती थीं। पदाधिकारी एवं प्रशासक कर्तव्यपरायण एवं निष्ठावान नहीं थे। न्यायाधीशों को न्याय में स्वच्छन्दता नहीं थी। यह सब भी इसमें स्पष्ट किया गया है।

इन सबके साथ-साथ प्रकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं। वैज्ञानिक और साहित्यिक शिक्षा दोनों का ही इस समय प्रचार था। धर्मविद्या,, भवननिर्माण-विधि, संगीत विद्या, वास्तुकला, चित्रकला और शिल्पकला आदि सभी का उस युग के जन समुदाय को यथोचित ज्ञान था। इन सब का इस शोध में सम्यक् विवेचन है। सच तो यह है कि तत्कालीन हिन्दू राज्य और विविध प्रभावों का यह नाटक एक संकलित उदाहरण है।

सोपान विश्लेषण

मृच्छकटिक सच में तत्कालीन समाज का एक वास्तविक प्रतिबिम्ब है। भास ने यद्यपि चारुदत्त लिखकर इस दिशा में मार्ग का प्रदर्शन तो किया पर न जाने किन अज्ञात कारणों से उन्होंने उसकी कथावस्तु को अधूरा ही छोड़ दिया। शूद्रक का प्रयास इस सम्बन्ध में स्तुत्य है जिसने क्रान्तिदर्शी कथानक के रूप में वास्तविकता को प्रस्तुत करने का अदम्य साहस दिखाया। जो रूपक केवल प्रणय कथा व्यक्त करने वाले साधन मात्र समझे जाते थे मृच्छकटिककार ने उनको एक नया मोड़ दिया। अपने प्रकरण में उन्होंने कुछ ऐसी समन्वय भावना दिखाई जहाँ यह प्रणयकथा व्यक्तिगत रूप से राजाओं एवं समृद्ध पुरुषों की चर्चा का विषय न बनकर समाज के जनसाधारण का अंग बनी।

प्रस्तुत प्रकरण के नायक, नायिका, प्रतिनायक एवं सभी पात्र अपने-अपने स्थान पर बड़े कुशल एवं मर्यादित विशेषताओं से युक्त हैं।

मृच्छकटिक के कथाविन्यासिक शिल्प की चर्चा में उसके संयोजन के विषय में यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि प्रकरण अपनी जगह विस्तृत होते हुए भी दो कथाओं से सम्बन्धित होने के कारण वस्तुविन्यास के विचार से प्रशंसनीय है। नाम भी इसका सारगर्भित है फिर भाषा, अलंकार और छन्द भी कम महत्व-पूर्ण नहीं हैं। यह प्रकरण कुछ ऐसी परिस्थितियों में आगे बढ़ता है जिसमें सहसा भाग्य सम्बन्धी चमत्कारों से कथानक आशा के विपरीत परिवर्तित होता गया है। विचारपूर्वक देखा जाय तो आद्योपान्त विवरण भाग्यशीलता पर ही निर्भर है।

रंगमंचीय विधान जिस रूप में पहले से चला आ रहा था उसका भी अति-क्रमण यहाँ देखने को मिलता है। शास्त्रीय रंगमंच के विधान की उपेक्षा कर मृच्छकटिककार ने इस ओर एक क्रान्तिकारी चरण बढ़ाया है। विषय विन्यास की दृष्टि से यह अपने में सर्वथा पूर्ण है। सभी अंकों के कथानक अपने अपने स्थान पर सर्वथा ठीक हैं पर शास्त्रीय परिभाषाओं की सीमा का उल्लंघन कर अद्भुत रूप में चरित्र सृष्टि करना मृच्छकटिककार की नाटकीय प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। घटनाओं का तारतम्य यहाँ हर्ष, आश्चर्य, करुणा, भय, हास्य इत्यादि से समाविष्ट है वहीं उत्सुकता और विस्मय को भी उत्तेजित करता है।

इसका यथार्थवाद भी वास्तव में सराहनीय है जो वास्तविकता से आदर्श की ओर ले जाते हुए समाज सुधार की ओर प्रवृत्त करता है। घटना विन्यास से समन्वित काव्य कथात्मक और कलात्मक पद्धति भी देखने योग्य है। पहली

पद्धति में घटनायें उसी क्रम से विन्यस्त होती हैं जिसमें वे एक के बाद निरंतर घटित होती गई हैं। कलात्मक पद्धति में कथाप्रवाह के मध्य अथवा अंत में किसी बिन्दु से नाटककार प्रारम्भ करता दिखाकर पिछली घटनाओं को अत्यंत महत्त्वपूर्ण ढंग से भिन्न-भिन्न रीतियों से उल्लिखित करता गया है। फिर इसकी यह भी विशेषता रही है कि इसमें संस्कृत नाटकों की भाँति कथावस्तु के साथ-साथ काव्यात्मक सौंदर्य भी यथास्थान वर्णित है। दरिद्रता का वर्णन, पयोदकोप दुर्दिन का विवेचन, वसन्तसेना विषयक अलंकृत चर्चा एवम् उसके प्रासादों का उल्लेख इसके कलेवर को विस्तृत कर देता है। वर्षा वर्णन में प्रकृति चित्रण की अपूर्व झलक देखने को मिलती है। दरिद्र वर्णन, चौर्यचित्रण एवं वसन्तसेना के हृदयोद्गार भावात्मक दृष्टि से इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

सम्पूर्ण कथानक की दृष्टि से यदि कुछ उपर्युक्त बातों को अनावश्यक समझा जाये तो रचना की दृष्टि से अवश्य उसे उपयुक्त बताया जा सकता है पर इन सबके अभाव में उसमें कृत्रिमता ही दिखायी देगी स्वाभाविकता नष्ट हो जायेगी। अतः कथानक को संक्षिप्त करते समय इन सबका प्रलोभन भी छोड़ा नहीं जा सकता।

छंदों की दृष्टि से संस्कृत एवम् प्राकृत पद्यों में प्रसिद्ध छंदों को अपनाकर कवि ने अपनी विज्ञता का परिचय दिया है। विद्युन्माला छंद[1] का प्रयोग तो इसी में देखने को मिलता है अन्य अभिजात्य नाटक में उपलब्ध नहीं होता।

मृच्छकटिककार ने बहुत निकट से जीवन की गहराई को देखते हुए अपने उद्गारों का प्रदर्शन किया है। उसका अभिप्राय एक कलात्मक कृतित्व रूप प्रदर्शित करना नहीं था वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें आवश्यक उपादानों का समावेश भी उसे अभीष्ट था।

१. द्रव्य लब्ध द्यूतेनैव, दारा मित्र द्यूतेनैव।
दत्त भुक्त द्यूतेनैव, सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥ मृ०क० २८।

द्वितीय अध्याय

मृच्छकटिक का शास्त्रीय विवेचन

प्रथम-सोपान

नाट्य-शास्त्र एवं मृच्छकटिक

ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर यह निश्चित है कि नाट्य का शास्त्रीय निरूपण अलंकार विवेचन से कहीं प्राचीन है। पाणिनि के समय में ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे जिनमें नटों की शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनय से सम्बन्धित विषय थे। इनके सूत्रों में शिलालि और कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्र इसके साक्षी हैं।[1]

पतञ्जलि ने महाभाष्य में कंसवध तथा बलिबन्धन नामक नाटकों के अभिनय की चर्चा की है[2]। भरत के सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्र में अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध चार अलंकार, दस गुण, एवं दस दोषों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है। इस भाँति अलंकार शास्त्र नाट्यशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में पहले से नाट्यग्रन्थों में है। सर्वप्रथम भामह को इसे स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय है। इन्होंने पहले से स्वीकृत अलंकार शास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। मेधावी रुद्र नामक आचार्य का तो स्पष्ट ही उल्लेख है। काव्यादर्श की टीका के अनुसार उसकी रचना से पूर्व काश्यप तथा वररुचि आदि आचार्यों के द्वारा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। इसी की दूसरी टीका श्रुतानुपालिनी के अनुसार काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी दण्डी तथा भामह के पूर्ववर्ती निःसन्देह प्राचीन आलंकारिक थे परन्तु इनके मतों और ग्रन्थों से आज भी परिचय सम्भव नहीं हो सका। वैसे इस सम्बन्ध में कौटिल्य का अर्थशास्त्र साक्षी है जिसके राजशासन के प्रकरण में अर्थक्रम परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणों का उल्लेख है। भामह तथा दण्डी में

---

१. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। कर्मन्दकृशाश्वादिनि।

२. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।

—महाभाष्य भाग २, पृष्ठ ३४,३६ (कीलहार्न का संस्करण),

उपलब्ध अलंकार शास्त्र सामग्री कालक्रम से भरत से अर्वाचीन भले ही हो, पर सिद्धान्त दृष्टि से भरत से अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार अलंकार शास्त्र का आरम्भ विक्रम संवत् से अनेक शताब्दी पूर्व हुआ यह निश्चित है।

काव्योदय पहले नाटक के रूप में था। इसलिए प्रथमतः अलंकार शास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था, पर आगे चलकर जैसे-जैसे साहित्य उन्नत हुआ उसमें नाटक का अन्तर्भाव होने लगा। अतः संस्कृत के अलंकार शास्त्र का इतिहास सुविधा हेतु निम्न तीन अवस्थाओं में अध्ययन के लिए सक्षम है।

१ पूर्वावस्था जब अलंकार शास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था।

२ दूसरी अवस्था जब दोनों पर स्वतन्त्र विचार होता था।

३. तीसरी अवस्था जब नाट्यशास्त्र अलंकार शास्त्र के अन्तर्गत था।

तीसरी स्थिति में साहित्य शास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया और नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत भास, कालिदास, अश्वघोष आदि प्रसिद्ध नाटककारों की रचनायें सुविख्यात होने लगीं। यद्यपि इन रचनाओं का जन-साधारण पर अच्छा प्रभाव पड़ा फिर भी कृतियाँ सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से प्रमुख न थी मृच्छकटिक इस विचार से एक नई रचना है।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्रीय विधान तथा मृच्छकटिक

भरतमुनि नाट्यशास्त्र के प्रणेता हैं। इनका ग्रन्थ नाट्यशास्त्र केवल इस शास्त्र का आदि ग्रन्थ नहीं है वरन् यह अलंकार शास्त्र का विश्वकोष है जिसमें नाट्योत्पत्ति, नाट्यगृह, अलंकार, छन्द, नृत्यकला, रस, अभिनय तथा संगीत आदि का विस्तृत सुन्दर वर्णन है। यद्यपि भरत के पहले अलंकार शास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी, फिर भी अलंकार और रस के सर्वप्रथम विवेचन का श्रेय भरत को ही दिया जाता है। श्री राजशेखर की काव्यमीमांसा के आधार पर काव्य के १८ अधिकरणों में रूपक निरूपण नामक अधिकरण लिखने का श्रेय भरत को है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में स्वयं ब्रह्मा नाटक की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह पंचम वेद (नाट्यवेद) सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है।[1] इस सूत्र को आगे ब्रह्मा ने और भी अधिक स्पष्ट किया है।[2] तात्पर्य यह है कि इस वेद में धर्मात्मा और ज्ञानियों की ही चर्चा नहीं है, अपितु इसका विषय

१. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। ना० शा० (१-१०७)

२ क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः॥ ना० शा० (१-१०८)

सभी के हित और सुधार में है। अब तक के विद्वान् भरत को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानकर एक प्राचीन काल्पनिक मुनि के रूप में समझा जाता है। इन्हीं के नाम पर नाटक के प्रयोक्ता नट भी भरत मुनि के नाम से संस्कृत साहित्य में विख्यात हैं। भरत का नाट्यशास्त्र इनके सिद्धान्तों का ही द्योतक अनेक लेखकों एवं अनेक शताब्दियों का संग्रह ग्रन्थ है। इनके द्वारा रचित मूल ग्रन्थ नहीं है।[1] विशुद्ध एवं विश्वसनीय संस्कृत सीरीज काशी से प्रकाशित भरत के नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय हैं और लगभग पाँच हजार श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध हैं। कहीं-कहीं अध्याय ६,७ तथा २८ में कुछ गद्य भाग भी हैं। कहीं आर्या छन्दों के साथ छठे अध्याय में रस निरूपण के अवसर पर कुछ सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने अपनी कारिकाओं की पुष्टि में अनुवंश्य (शिष्य परम्परा से आने वाले श्लोक) उद्धृत किये हैं जिनकी रचना भरत से भी प्राचीन है। नाट्यशास्त्र का विषय विवेचन बड़ा विस्तृत तथा व्यापक है पर साथ ही छन्दःशास्त्र, अलंकार शास्त्र, संगीत शास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रों का भी विवरण इसमें उपलब्ध है। यह एक प्रकार से प्राचीन ललित कलाओं का विश्वकोष है। जिसमें एतत्सम्बन्धी सभी सामग्री उपलब्ध है।

नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय को देखने से ज्ञात होता है कि कोहल नामक किसी आचार्य का भी इसमें योगदान है। भरत ने कहा भी है—

शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति।

श्री कोहल के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में शाण्डिल्य, वत्स तथा धूर्तिल नामक नाटक के आचार्यों के नाम भी उल्लिखित हैं।[2] आदिभरत तथा वृद्धभरत के भी नाम इस प्रसंग में आते हैं।

मात्र प्रमाण के आधार पर प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था, परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्र विषय की सुगमता के लिये उसका आधा ही भाग है।

भरत एवं नाट्यशास्त्र के निर्माण का विषय शोधपूर्ण है, पर कवि कालिदास द्वारा भरत के सम्बन्ध में निम्नकथन इस बात का पोषक है कि वह कालिदास से पूर्व के थे

---

१. श्री बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (ऐतिहासिक विकास)।
२. नाट्यशास्त्र ३६।२४।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ॥

विक्रमोर्वशीय, अंक २, श्लोक १७

वर्तमान नाट्यशास्त्र में शक, यवन, पल्लव तथा अन्य वैदेशिक जातियों के वर्णन से भरत नाट्यशास्त्र का रचनाकाल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में सम्भव है।

नाट्यशास्त्रान्तर्गत विषयों का यथावसर मृच्छकटिक प्रकरण में सुन्दर समन्वय है अतः उसी पर आधारित इसका अपना वैशिष्ट्य भी सांगोपांग है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र एक लक्षण ग्रन्थ है तो अन्य रूपकों के साथ मृच्छकटिक लक्ष्य ग्रन्थ है।

नाट्यकला की दृष्टि से विचारणीय वस्तु रस तथा पात्र

अंग्रेजी शब्द ड्रामा ही संस्कृत साहित्य में रूपक नाम से प्रसिद्ध है। नाटक रूपक का एक प्रमुख भेद है जो उसके दस प्रकारों में से एक है। यह काव्य के अन्तर्गत है। काव्य के दो प्रकार श्रव्य और दृश्य हैं। पहले का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से और दूसरे का सम्बन्ध देखने के नाते चक्षु से है। श्रव्यकाव्य यदि अध्ययन कक्ष की वस्तु है तो दृश्यकाव्य रंगमंच की वस्तु है। इसका लक्ष्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों का मनोरंजन और उनमें रसोद्बोध उत्पन्न करना है। यही दृश्य काव्य रूपक कहलाता है। इसमें नट पर तत्तद् पात्र का आरोप कर लिया जाता है। रूपकों के दस भेद वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर किये जाते हैं। किसी एक रूपक प्रकार की कथावस्तु (Plot) उसका नायक, नायक की प्रकृति तथा उसका प्रतिपाद्य रस उसे अन्य रूपक प्रकारों से भिन्न करता है। दशरूपककार की पद्धति के अनुसार पहले वस्तु, नेता तथा रस का विश्लेषण आवश्यक है। इन तीन भेदकों के विषय में अविस्तर यह समझा जाता है कि ये नाटक के वैसे ही तीन तत्त्व हैं जैसे अरस्तू ने रूपक के ६ अंग माने हैं। अरस्तू के मतानुसार रूपक के ६ अंग इतिवृत्त, आचार, वर्णन शैली, विचार, दृश्य तथा गीत हैं। कुछ विद्वान् इन्हें तत्त्व न मानकर भेदक कहते हैं और रूपक के तत्त्व उनके मत से कथा, व्यापार और रस-निर्वेद हैं। इन्हीं तीनों में अरस्तू के रूपक के छहों अंग अन्तर्भावित हो जाते हैं।

नाटक अथवा प्रकरण का साम्य वैषम्य एवं मृच्छकटिक की प्रकरण नाट्यविधा

नाट्य सम्बन्धित दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं :—एक रूपक और दूसरा उपरूपक। साहित्यदर्पण के अनुसार रूपक दस प्रकार के हैं और उप-

रूपक बारह प्रकार के हैं। रूपक के भेद हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अंक और ईहामृग[1]।

उपरूपक के भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विला-सिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका।

नाटक का वृत्तान्त लोकविख्यात होना चाहिये। इसका नायक धीरोदात्त गुणयुक्त होने के साथ साथ प्रख्यात वंश का राजा अथवा कोई दिव्य पुरुष होना चाहिये। इसमें शृङ्गार और वीर में से कोई एक रस अंगी अथवा प्रधान होना चाहिये। दूसरे रस अंगरूप में होते हैं। कुछ लोगों के मत में करुण और शान्त रस नाटक में अंगी हो सकते हैं। इसमें नाटकों की पाँचो सन्धियाँ और कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं।

प्रकरण में कवि कल्पित लौकिक वृत्तान्त होता है। इसका नायक धीर प्रशान्त गुणयुक्त कोई ब्राह्मण अमात्य अथवा वणिक होता है। इसमें नायिका कुलीन स्त्री और वेश्या में से कोई एक होती है। कभी-कभी दोनों ही होती हैं। इस प्रकार नायिका के आधार पर प्रकरण तीन प्रकार के होते हैं। जिस प्रकरण में दोनों प्रकार की नायिकायें होती हैं उसमें कितव (धूर्त) द्यूतकार, वणिक, विट, चेट आदि भी मंच पर आते हुए दिखाये जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मृच्छकटिक एक प्रकरण है, क्योंकि इसमें प्रकरण के सभी लक्षण मिलते हैं। नाटक का इसमें कोई लक्षण नहीं मिलता अतः इसे नाटक न कहकर प्रकरण ही कहना उचित है। दशरूपककार और दर्पणकार ने भी इसे प्रकरण ही माना है।

---

1. (क) नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा।
   ज्ञेयः समवकारश्च भवेत् प्रहसनस्तथा ॥
   'महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास' अग्निपुराणम्, पृ० स० ४९०, १९६६
   चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।

   (ख) नाटकं प्रकरणं च नाटिकाप्रकरणमप।
   व्यायोगः समवकारो भाण- प्रहसन डिम. ॥
   अंक ईहामृगौ वीथी चत्वार सर्ववृत्तय।
   त्रिवृत्तय परे त्वष्टौ कैशिकी परिवर्जनात् ॥ सूत्र ३१२-४
   श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र—नाट्यदर्पण।

प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त होता है। मृच्छकटिक का नायक ब्राह्मण चारुदत्त भी धीर प्रशान्त है। इसकी कथावस्तु भी नाटक की भाँति प्रख्यात नहीं है वरन् कविकल्पित है। मृच्छकटिक का कथानक शूद्रक के मस्तिष्क की सुन्दर उपज है। इतिहास, पुराण आदि में यह प्रसिद्ध नहीं है। अत: प्रकरण के अनुकूल इसकी कथावस्तु लौकिक वृत्तान्त के रूप में कविकल्पित है।[1]

मृच्छकटिक की नाट्यविधा शास्त्रसम्मत है। इसमें वस्तु के विचार से कथानक और संविधानक दोनों ही सर्वथा उचित हैं। कथावस्तु में अर्थ प्रकृतियों का समन्वय, कार्यावस्थायें, सन्धियाँ और उनके अंग शास्त्रीय दृष्टि से यथास्थान सुव्यवस्थित हैं।

संविधानक के विचार से पूर्वरंग, नान्दीपाठ, सूत्रधार इत्यादि सभी का औचित्य नि:सन्देह युक्तियुक्त है। किसी प्रकार की कहीं कोई शिथिलता इसकी नाट्यविधा में देखने को नहीं मिलती। सुगठित रूप से क्रमानुसार उनका औचित्य सराहनीय है।

वस्तु के दो भेद : कथानक और संविधानक

वस्तु के दो भेद कथानक और संविधानक रूपक के अन्तर्गत हैं। इसे कथा, इतिवृत्त एवं कथावस्तु आदि नाम से पुकारते हैं। यह वस्तु दो प्रकार की है—एक आधिकारिक और दूसरी प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु मूलवस्तु है। प्रासंगिक कथावस्तु गौण है। रूपक में नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध

---

१. अ—भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्॥
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि क्वचिद् द्वयम्॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्यूतकारादि विट चेटक संकुलः॥

साहित्य दर्पण (६।२२४)

आ—प्रकरणं वणिग्विप्र सचिवस्वाम्यसंकरात्।
मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम्॥
दासश्रेष्ठिविटैर्युक्तं क्लेशाढ्यं तच्च सप्तधा।
अस्यैव फलवस्तूनामेकद्वित्रिविधानतः॥

ना०द० सूत्र ११७ (१) ६६ (२) ६७

होने के कारण आधिकारिक वस्तु कही जाती है। इसका प्रमुख स्थान है। प्रासंगिक वस्तु आधिकारिक वस्तु की सहायिका है और उसे गति देने वाली है। उदाहरण के लिये मृच्छकटिक में चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणय कथा आधिकारिक वस्तु है और आर्यक पालक की कथा प्रासंगिक है।

पताका एवं प्रकरी भेद से प्रासंगिक वस्तु भी दो प्रकार की है। पताका उसे कहते हैं जहाँ कथा काव्य या रूपक में बराबर चलती है और सानुबन्ध होती है। इस पताका कथावस्तु का नायक प्रसंग से होता है जो आधिकारिक वस्तु के नायक का साथी होता है एवं उसमे गुणों में कुछ ही न्यून होता है। इसे पताका नायक कहते हैं। जो कथा काव्य या रूपक में कुछ काल तक चल कर रुक जाती है वह प्रकरी है।

कथानक के क्रम में यह वस्तु पाँच अर्थ प्रकृतियों पाँच अवस्थाओं और पाँच सन्धियों में विभक्त हो जाती है। इस भाँति कथानक सशक्त बना रहता है।

अभिनय की दृष्टि से भी वस्तु का बड़ा महत्व है। दृश्य काव्य रंगमंच की वस्तु है। उसमें रंगमंच की आवश्यकता के अनुसार, दृश्यों का नियोजन करना होता है। वह पूर्वरंग, नान्दीपाठ, सूत्रधार, प्रस्तावना, विष्कम्भक, प्रवेशक, पताकास्थानक, आकाशभाषित इत्यादि से उसकी सम्यग् व्यवस्था करते हुए उसे सजोता जाता है। मृच्छकटिक में इसका समुचित निर्वाह है।

कथावस्तु की मीमांसा

मृच्छकटिक की कथावस्तु के पूर्वार्द्ध का आधार यदि दरिद्र चारुदत्त मान लें तो भी उत्तरार्द्ध तो निश्चय ही मृच्छकटिक के प्रणेता की अभूतपूर्व कल्पना है। यह रूपक लोकप्रसिद्ध प्रेम घटना को लेकर लिखा गया है। उपकारी व्यक्ति कष्टों को सहकर और सङ्कटों में फँसकर भी सत्यपथ का ही अनुसरण करते हैं। यही इस नाटक का वास्तविक आधार है। आचार विचारों की शुद्धि जीवन की सफलता के लिये आवश्यक है। चारुदत्त सदाचरण के बल पर ही विजयलक्ष्मी को प्राप्त करता है और वसन्तसेना सच्ची प्रणयिनी बनकर चारुदत्त को अपना-कर कृतकृत्य हो जाती है।

प्रकरण के उत्तरार्द्ध में तात्कालिक सामाजिक और राजनैतिक दशा का उल्लेख करना ही वस्तुतः नाटककार का ध्येय रहा है। उसी को उसने ऐतिहासिक आधार पर इस प्रकार साँचे में ढाला है कि उसकी मौलिकता सर्वसम्मत है। रूपक की सफलता न केवल कथावस्तु पर ही निर्भर है वरन् चरित्र-चित्रण, सामाजिक स्थिति, राजनैतिक दशा, भाषा और काव्यशैली आदि पर बहुत कुछ आधारित है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था के विषय से भी कथावस्तु को बड़ा बल मिला है। ब्राह्मणों के व्यापारिक कार्य को अपनाने से एक नवीनता सी प्रतीत होती है। बौद्ध धर्म का प्रचलन भली-भाँति उस समय था, पर वैदिक साहित्य भी कम सम्मानित नहीं था। राजनैतिक दशा भी इस समय डावाँडोल थी। छोटे-छोटे राजा परस्पर एक दूसरे के राज्य को हड़पने को उद्यत थे। शासकों को अपने कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता न थी। राजा का आदेश सर्वमान्य था। चारुदत्त के निर्दोष होने पर भी उसे प्राणदण्ड घोषित कर दिया गया, पर राज्य परिवर्तन से वह सङ्कट से मुक्त हो गया।

मृच्छकटिक की कथावस्तु की अन्य प्रकरण एवं नाटकों से तुलना करने पर यह निश्चित हो जाता है कि यह प्रकरण सर्वथा अद्वितीय है।

(क) कथावस्तु में अर्थप्रकृतियों का समन्वय

भारतवर्ष के विभिन्न आचार्यों के अनुसार कथावस्तु की बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नाम की पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं।[1]

१ बीज कथानक और वाञ्छित फल के मूलकारण को कहते हैं।

२ बिन्दु अवान्तर घटनाओं से विच्छिन्न मूलकथा को पुनः जोड़नेवाली शक्ति या घटना को कहते हैं।

३. पताका मूलकथा के अन्तर्गत किसी बड़े प्रासंगिक इतिवृत्त को कहते हैं।

४. प्रकरी मूलकथा के अन्तर्गत किसी छोटे प्रासंगिक इतिवृत्त को कहते हैं।

५ कार्य कथा में साध्य विषय को कहते हैं।[2]

---

१ अ—बीज बिन्दु पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात्॥
आ० वि कृष्णद्वैपायन व्यास-अग्निपुराणम्, ११ ४९१, संस्करण प्रथम १९६६, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी।

आ—बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि।
कल्प्यम् हेतव पञ्च चेतना चेतनात्मका॥ ना० द० (सूत्र २६-२८)

२ स्तोकोद्दिष्ट कार्यमात्री हेतुर्बीज प्ररोहणात्। (सूत्र २६)
हेतोश्छेदेऽनुसन्धान बहूनां बिन्दुरा प्रबन्धात्। (सूत्र १४।१२)
आविमर्श पताकाव्यापेन न परार्थता। (सूत्र १०)
प्रकरी चेतनाचितृकी चकमोऽप्यप्रयोजन। (सूत्र ११)
साध्ये बीज सहकारी कार्यम् ना० द० (सूत्र १५)

मृच्छकटिक के प्रथम अंक में वसन्तसेना का पीछा करते समय शकार की "भावे ! भावे !" एशा गब्भदाशी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालु-दत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि।[1] इत्यादि उक्ति इस नाटक का बीज है। द्वितीय अंक के आरम्भ में वसन्तसेना और मदनिका के संवाद में इसी बात की फिर चर्चा आ जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक की कथा प्रारम्भ होने से पहले ही किसी दिन नगर के कामदेवायतनोद्यान में वसन्तसेना और चारुदत्त की पहिले देखा-देखी हुई। उसी दिन से दोनों में एक दूसरे से प्रेम हो गया। इस स्थिति में चारुदत्त की अपेक्षा वसन्तसेना अधिक आतुर हुई। यही कारण है कि इस कथा में स्थायी समागम की प्राप्ति का अधिक प्रयत्न वसन्तसेना की ओर से होता है।

इस नाटक की कथावस्तु के बीज के सम्बन्ध में स्पष्ट पता नहीं चलता। द्वितीय अंक के आरम्भ में मदनिका वसन्तसेना के साथ बातचीत के सिलसिले में कहती है—'अज्जिए। किं सो ज्जेव ? जेण सरणागदा अब्भुववण्णा'[2] फिर सर्व प्रथम अंक में शकार की इस उक्ति में इस नाटक का बीज है। यहाँ यह संकेत है कि वसन्तसेना उसे नहीं चाहती वरन् कामदेवायतनोद्यान के गमन से लेकर वह सखि चारुदत्त से प्रेम करने लगी है।

द्वितीय अंक में कर्णपूरक के वृत्त में कर्णपूरक वसन्तसेना को चारुदत्त से प्राप्त जाती कुसुमवासित प्रावारक देता है। वसन्तसेना उसे पहचान कर बहुत प्रसन्न होती है। यहीं से पुन मूलकथा का आरम्भ होता है। अतः कर्णपूरक के वृत्त को इस कथा का बिन्दु समझना चाहिये।

तृतीय अंक में सेंधच्छेद की घटना घटती है। यहीं से शर्विलक का चरित्र आरंभ होता है। पहले तो शर्विलक चारुदत्त के घर चोरी करता है परन्तु पीछे वह चारुदत्त का सहायक बन जाता है। शर्विलक की कथा का मदनिका प्राप्तिरूपी फल चतुर्थ अंक में ही प्राप्त हो जाता है फिर भी यह वृत्तान्त मूल-कथा के अन्त तक रहता है। अन्त में शर्विलक ही इस बात की घोषणा करता

---

१. भाव भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारु-दत्तस्य अनुरक्ता न मां कामयते।

२. आर्ये किं स एव ? येनार्या शरणागताभ्युपपन्ना।

है कि राजा ने वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू मान लिया है।[1] इस कारण इसको मूलकथा की पताका मानना ठीक होगा।

सप्तम अंक में पारिव्राजक भिक्षुक की कथा आरम्भ होती है। इस भिक्षु को संवाहक के रूप में हम द्वितीय अंक में देखते हैं। सम्भवतः यह वही परिव्राजक है जिसे कर्णपूरक हाथी से बचाता है। संवाहक के रूप में वह कुछ दिनों तक चारुदत्त का भृत्य रहा। परिव्राजक होने के बाद भी वह वसन्तसेना और चारुदत्त का सहायक बना रहता है। इस भिक्षु के वृत्तांत को मृच्छकटिक की कथा की प्रकरी मानते हैं। इसके अतिरिक्त चन्दनक के वृत्तान्त को भी मूल-कथा की प्रकरी कह सकते हैं। यद्यपि वह राजा पालक का सेवक है फिर भी चारुदत्त का प्रशंसक है।

आरम्भ में मृच्छकटिक को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि वसन्तसेना को चारुदत्त की प्राप्ति ही इसका मुख्य कार्य है, पर विचार करने से ऐसा नहीं लगता। वसन्तसेना एक गणिका है। वह स्वतन्त्र जीवन यापन करती है। वह चारुदत्त से प्रेम करती है और चारुदत्त भी उसे चाहता है। ऐसी स्थिति में दोनों का समागम सुलभ है। वे जब चाहें मिल सकते हैं पर वसन्तसेना सुशिक्षित है। प्रथम अंक के अंत में चारुदत्त के साथ बातें करते समय वह अपने मन में 'स्वगतम्—चतुरो मधुरो च अयम् उपन्यासो　पावा अनुसरन्ति' कहती है[2]। इससे प्रतीत होता है कि उसके लिए चारुदत्त के साथ वहीं रहना सम्भव है परन्तु वह इस अवसर को टाल देती है। वह अपना अलंकार धरोहर रखकर चली जाती है। द्वितीय अंक के आरम्भ में मदनिका के साथ उसके वार्तालाप से यह बात स्पष्ट है कि चारुदत्त के साथ उसके मिलन में कोई बाधा नहीं है। वह यदि चाहे तो दूती भेजकर चारुदत्त को बुला सकती है परन्तु वह जानबूझकर ऐसा नहीं करती। पंचम अंक में तो वह अभ्याहूत रूप से चारुदत्त के घर पहुँच जाती है और एक रात उसके साथ निवास भी करती है। यदि केवल वसन्तसेना और चारुदत्त का मिलना ही इस नाटक का मुख्य कार्य होता तो पंचम अंक के आगे नाटक को बढ़ाना व्यर्थ था,

---

१　आर्ये वसन्तसेने! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति

मृ० क० दशम अंक

२　स्वगतम्—चतुरोमधुरश्चायमुपन्यास　'पावा अनुसरन्ति'। संस्कृत अनुवाद मृ० क० प्र० अं०।

पर ऐसा नहीं किया गया। आगे के बढ़े हुए कथानक से मालूम होता है कि वसन्तसेना और चारुदत्त का मिलनमात्र इस नाटक का मुख्य कार्य नहीं है। इस नाटक का अन्तिम उद्देश्य तो दशम अंक में मालूम होता है। जब वहाँ राजा आर्यक ने वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू स्वीकार कर लिया है। यही इस नाटक का रहस्य है। अन्यथा द्वितीय अंक में वसन्तसेना चारुदत्त को सूती भेजकर नहीं बुलवाती। वह इस बात से डरती है कि कहीं अपनी हीन आर्थिक दशा से लज्जित होकर अपना मुँह छिपाने के लिए चारुदत्त किसी अज्ञात स्थान में न चला जाये। यदि कहीं ऐसा हो गया तो स्थायी समागम असम्भव हो जायेगा। षष्ठ अंक के आरम्भ में वसन्तसेना अपने को चारुदत्त के महल के अन्दर चतुःशालक में देखकर आनन्दमिश्रित आश्चर्य में पड़ जाती है। उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ सा ज्ञात होता है कि चारुदत्त के हृदय में मेरे लिए गणिका की अपेक्षा ऊँचा स्थान है क्योंकि उस समय के नियमों के अनुसार गणिका उच्च वर्ग के पुरुष के महल के अन्दर चतुःशालक में नहीं जा सकती थी। इसी अवसर पर चेटी के साथ वार्तालाप के प्रसंग में जब उसे मालूम होता है कि चारुदत्त के घर से उसके चले जाने पर घर के लोगों को बड़ा सन्ताप होगा तो वह कहती है कि यहाँ से जाने से पूर्व मैं स्वयं अत्यन्त सन्तप्त हो जाऊँगी। इससे इस बात की स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वह चारुदत्त के घर को नहीं छोड़ना चाहती वरन् उसकी वधू बनकर यहीं रहना चाहती है। वह चारुदत्त की भार्या धूता के साथ बहिन का सम्बन्ध मानती है और अपने को चारुदत्त और धूता की गुण निर्जिता दासी कहती है। आगे इसी अंक में वह चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को पुत्रक के नाम से पुकारती है। पहले तो उसे रोहसेन बालक होने के कारण अपनी माता स्वीकार करने में हिचकिचाता है पर वसन्तसेना उसकी सच्ची मा बनने के लिए झटपट अपने आभूषण उतारकर उसी सोने को गाड़ी बनवाने के लिए दे देती है। ये सब बातें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि वसन्तसेना के मन में चारुदत्त की वधू बनने की अभिलाषा है। यह अभिलाषा बने रहना ही इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य है जिसकी पूर्ण सिद्धि दशम अंक में दिखायी गई है।

(ख) कार्यावस्थायें उनका विश्लेषण तथा विवेचन

भारतीय विद्वानों के अनुसार कथावस्तु के कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं जिन्हें आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम के नाम से पुकारा

जाता है।[1]

मृच्छकटिक के प्रथम अंक में शकार अपने साथियों के साथ रात के अंधेरे में वसन्तसेना का पीछा करते हुए चारुदत्त के घर के पास पहुँचता है। इसी समय विदूषक रदनिका के साथ बाहर जाने के लिए घर का दरवाजा खोलता है। अवसर पाकर वसन्तसेना अपने आँचल की हवा से रदनिका के हाथ का दीपक बुझा देती है और चुपके से भीतर घुस जाती है। चारुदत्त वसन्तसेना को रदनिका समझ कर उसे रोहसेन को भीतर ले जाने के लिए कहता है। वह रोहसेन को ओढ़ने के लिए अपना प्रावारक फेंकता है। वसन्तसेना प्रावारक की सुगन्धि से मस्त होकर मन ही मन चारुदत्त के यौवन की सराहना करती है। इससे वसन्तसेना की उत्सुकता प्रकट होती है। इसी समय विदूषक और रदनिका बाहर से लौट आते हैं। विदूषक चारुदत्त से कहता है कि जिसे तुम रदनिका समझ रहे हो वही वसन्तसेना है। चारुदत्त वसन्तसेना को पहचानकर उसके सौन्दर्य और यौवन की सराहना करता है। इससे चारुदत्त की उत्सुकता व्यक्त होती है। इस उत्सुकता की पराकाष्ठा चारुदत्त की उक्ति 'भवतु तिष्ठतु प्रणयः' से होती है। इस उक्ति का सामान्य अर्थ तो यह है कि प्रेम बना रहे पर इस उक्ति के बाद वसन्तसेना जो कुछ अपने मन में (स्वगतम्) कहती है उससे प्रतीत होता है कि वह इस उक्ति को चारुदत्त की ओर से अभीष्ट प्रार्थना समझती है। इस प्रकार प्रथम अंक में वसन्तसेना की अम्महे। "जादी कुसुम वासिदो पावारओ"[2] इत्यादि पंक्ति से उसी की "चदुरो मधुरो अ अअं अलआवो"[3] इत्यादि दूसरी उक्ति से उसी के कथोपकथन में वसन्तसेना और चारुदत्त की परस्पर प्रथम उत्सुकता प्रकट होती है। अतः इस अंक को नाटक का आरम्भ कहना उपयुक्त है।

प्रथम अंक में यद्यपि वसन्तसेना 'तिष्ठतु प्रणयः' से व्यक्त होने वाली चारुदत्त की अभीष्ट प्रार्थना स्वीकार नहीं करती फिर भी उसके घर आने-जाने

---

१. अ—आरम्भस्य प्रयत्नस्य प्राप्तिसद्भाव एव च।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पंचमः॥
महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास-अग्निपुराणम्—पृ० ४९१ प्र० संस्करण १९६६ चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।

आ—आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमाः।
नेतुर्वृत्ते अवस्थाः स्युः पञ्चावस्था भव क्रमात्॥ ना० द० (सूत्र १७-१४)

२. अहो जाती कुसुमवासितः प्रावारकः। सं० अनुवाद

३. चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः। सं० अनुवाद

का बहाना बनाते रखने के लिये उसके घर अपने आभूषण छोड़ जाती है। चारुदत्त को अपने प्रेम-पाश में फँसाने के लिये वसन्तसेना का यह प्रथम प्रयास है। द्वितीय अंक में मदनिका के साथ वसन्तसेना के वार्तालाप से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतः प्रथम अंक में वसन्तसेना की 'भोदु, एवं दाव भणिस्सं'[1] इत्यादि उक्ति से अंक के अन्त तक अलंकारन्यास की घटना को इस नाटक की प्रथमावस्था का आरम्भ[2] कहना चाहिये। यह अवस्था पंचम अंक के अंत तक चली जाती है। द्वितीय अंक में कथा लेशमात्र भी आगे नहीं बढ़ती। तृतीय अंक में चारुदत्त के घर से अलंकार चोरी हो जाते हैं। चतुर्थ अंक में वे वसन्तसेना के हाथ लग जाते हैं। इसी अंक में चारुदत्त के द्वारा अलंकारों के बदले भेजी हुई रत्नावली भी उसे प्राप्त हो जाती है। पंचम अंक में वसन्तसेना अलंकार और रत्नावली लेकर चारुदत्त के घर पहुँच जाती है। वहाँ उसकी चेटी यह कहकर अलंकार सौंप देती है कि मेरी स्वामिनी आपकी भेजी हुई रत्नावली जुए में हार गई है। उसके बदले ये अलंकार ग्रहण करिये। चारुदत्त को फँसाने के लिये वसंतसेना का यह दूसरा प्रयास कह सकते हैं। यही सब विचारते हुए प्रथम अंक की अलंकारन्यास की घटना से लेकर पंचम अंक के अन्त तक मुख्यकथा का 'कार्य यत्न'[3] की अवस्था के अन्तर्गत समझना चाहिये।

छठे अंक के आरम्भ से दसवें अंक के उस भाग तक जहाँ चारुदत्त को मारते समय चाण्डाल के हाथ से खड्ग छूट जाता है और वसंतसेना आकर कहती है—'अज्जा एसा अहं मन्दभाइणि जाए कारणादो एसो वावादीअदि'[4], इस कथ्य को प्राप्त्याशा का प्रतीक है। कथा के इस अंक में फलप्राप्ति आशा और निराशा की अवस्था में रहती है। छठे अंक के आरम्भ में चेटी के द्वारा वसन्तसेना को यह ज्ञात होने पर कि चारुदत्त पुष्पकरण्डक उद्यान गया है और उसे भी वहीं भेजने के लिये कह गया है, उसे चारुदत्त के मिलने की आशा हो जाती है। तदनन्तर प्रवहण परिवर्तन के पश्चात् जब वह शकार के पास पहुँचती है तो उसकी आशा निराशा में परिणत हो जाती है। इस भाँति चारुदत्त को को भी उद्यान में यह आशा रहती है कि वसन्तसेना गाड़ी में बैठकर उससे मिलने आयेगी पर संयोग से जब गाड़ी में आर्यक गोपाल दारक आता है और

---

१. भवतु, एवं तावत् भणिष्यामि।

२. फलमौत्सुक्यमारम्भः।

३. प्रयत्नो व्यापृतो त्वरा। ना० द० (पृष्ठ ११)

४. आर्या एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते। सं० अनु०

चारुदत्त के लिये न्यायालय में प्राणदण्ड का आदेश हो जाता है तो उसकी आशा निराशा में परिवर्तित हो जाती है। फिर जब चाण्डाल के हाथ से खड्ग छूट कर गिर पड़ता है और वसन्तसेना भिक्षु के साथ वहाँ आ जाती है तो पुनः दोनों में आशा का संचार हो जाता है। बस यही प्राप्त्याशा है।[1]

दसवें अंक में चाण्डाल की 'त्वरितं आ पुनरेपासपदत्ता चिकुरभारेण' (दं॰ अनु॰) इत्यादि उक्ति से शकार की 'आश्चर्यं। प्रत्युज्जीवितोऽस्मि' (स॰ अनु॰) उक्ति तक कार्य की नियताप्ति की दशा रहती है। वसन्तसेना के आते ही चारुदत्त की प्राणरक्षा और नायक नायिका का मिलन निश्चितप्राय हो जाता है। इसके पश्चात् शर्विलक के मुख से आर्यक के द्वारा चारुदत्त को फाँसी की सजा देने वाले दुष्ट राजा पालक के मारे जाने का वृत्तान्त जानकर नायक-नायिका के मन में कार्यसिद्धि की आशा और बलवती हो जाती है। वसन्तसेना के जीवित आ जाने तथा राजा पालक के मारे जाने के कारण शकार भी शक्ति-हीन होकर चारुदत्त की शरण में आता है। इस भाँति धीरे-धीरे सभी संकटों के टल जाने से कथा के उपर्युक्त अंश में मुख्य कार्य अधिकाधिक नियताप्ति[2] की दशा में बढ़ जाता है। इधर दशम अंक की समाप्ति होते होते चारुदत्त समय पर पहुँचकर धूता को अग्नि में कूदने से बचा लेता है और आर्यक द्वारा वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू स्वीकार किये जाने की घोषणा कर दी जाती है। बस यही कथा का फलागम है।[3] इस भाँति कथावस्तु के कार्य की पाँचों अवस्थाओं का सम्बन्ध निर्वाह यहाँ सुचारु रूप से हुआ है।

(ग) सन्धियाँ और उनके अंग

भारतीय शास्त्रों में नाटकों के अनुकूल नियमों का विवेचन पूर्ण वैज्ञानिक है। अन्य शास्त्रीय सामग्री के साथ-साथ रूपकों में पाँच सन्धियों का विवेचन आवश्यक है। मृच्छकटिक में ये पाँचों सन्धियाँ बहुत ही समीचीन हैं।[4]

---

१. फल सम्भावना किंचित् प्राप्त्याशा हेतु मात्रतः। ना॰ द॰ (सूत्र ४०)

२. नियताप्तिरपायाना भावात् कार्यनिर्णय। ना॰ द॰ (सूत्र ४१)

३. साम्यादिष्टार्थ सम्पूर्तिर्नायकस्य फलागमः। ना॰ द॰ (सूत्र ४२)

४. अ—मुख प्रतिमुख गर्भो विमर्शश्च तथैव च।
तथा निर्वहणं चेति क्रमात् पंचैव सन्धयः॥
महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास-अग्निपुराणम् पृ॰ ४९१ प्र॰ सं॰ १९६६
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी

इन पाँच सन्धियों के नाम हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। मृच्छकटिक की कथावस्तु के ये स्थूल खण्ड कहे जा सकते हैं। बीज और आरम्भ को मिला देने पर मुखसन्धि[1] होती है। बिन्दु और यत्न को मिलाने पर प्रतिमुखसन्धि[2] होती है। गर्भसन्धि पताका और प्राप्त्याशा को मिला कर होती है, पर इस सन्धि में पताका का होना अपेक्षित नहीं है। विमर्श सन्धि में प्रकरी और नियताप्ति होती है, पर यह नहीं कि इस सन्धि में प्रकरी का होना अनिवार्य हो। निर्वहण सन्धि में कार्य और फलागम आवश्यक है।

मृच्छकटिक में यथास्थान सन्धियाँ जैसी देखी जाती हैं उन्हीं का स्वरूप निम्नलिखित रूप से यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम अंक से लेकर वसन्तसेना की 'चतुरेयमपुरुषायमुपन्यास' (प्र० अ) इत्यादि स्वगतम् की उक्ति तक मुखसन्धि है। इसी अंक में वसन्तसेना की आर्या 'यद्येवमहमार्यस्य' (प्र० अ०) इत्यादि प्रश्रयम् की उक्ति से लेकर पंचम अंक की समाप्ति तक प्रतिमुखसन्धि है। षष्ठ अंक के आरम्भ से लेकर दशम अंक के उस स्थान तक जहाँ चारुदत्त के हाथ से खड्ग छूट जाता है वसन्तसेना की—'आर्या एताः मन्दभागिनो यस्याः कारणादेव व्यापाद्यते' उक्ति तक गर्भसन्धि है।[3]

दशम अंक में ही चारुदत्त की 'त्वयि का पुनरेषा' इत्यादि उक्ति से लेकर शकार की 'आश्चर्यं प्रत्युज्जीवितोऽस्मि' (द० अ) उक्ति तक विमर्श सन्धि है।[4] इसी दशम अंक में नेपथ्ये कलकल—इत्यादि से अंक की समाप्ति तक निर्वहण सन्धि है।[5]

नाट्य की कथावस्तु के भागों के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने कोई चर्चा नहीं की किन्तु पाश्चात्य विद्वान इसके पाँच भाग मानते हैं। उनके विचार से

यथा—मुख प्रतिमुख गर्भो विमर्शनिर्वहणान्वमी।
सन्धयो मुख्यवृत्तस्याऽवस्थानुगा क्रमात् ॥ ना० द० (सूत्र ४३)

१ मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्तिरसाश्रयः ना० द० (सूत्र ४४)

२. प्रतिमुखं क्रियारम्भस्य बीजोद्घाट समन्वित ॥ ना० द० (सूत्र-४५)

३. बीजस्योन्मुखता गर्भो लाभालाभगवेषणे ॥ ना० द० (सूत्र ४६)

४. उद्भिन्न साध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभि. । ना० द० (सूत्र ४७)

५. सबीजविकृतावस्था. नानाभावा मुखादयः।
एकार्थयोजिता यस्मिन् यत्नो निर्वहणो मुखम् ॥ ना० द० (सूत्र ४८)

इन भागों के नाम आरम्भ, आरोह, वेग, अवरोह और परिणाम हैं। आरम्भ उस भाग को कहा जाता है जहाँ द्वन्द्व की उत्पत्ति होती है। आरोह कथा का वह भाग है जहाँ उलझनें बढ़ती ही जाती हैं। वेग वह बिन्दु अवस्था है जहाँ उलझनें अपनी सीमा को पार करती हुई दिखायी देती हैं। इसके आगे कथा का उतारचढ़ाव आरम्भ हो जाता है। अवरोह कथा का वह भाग है जहाँ उलझनें एक एक करके सुलझने लगें और कथा तेजी के साथ परिणाम की ओर अग्रसर होती हुई दिखायी दे। यथार्थ में इनके हृदय को ही परिणाम कहते हैं। यह फल इष्ट या अनिष्ट दो रूपों में सम्भव है। पाश्चात्य देशों में कथावस्तु सुखान्त या दुःखान्त दो रूपों में देखी जाती है पर भारतीय रूपकों में कथावस्तु सुखान्त पायी जाती है। यही कारण है कि यहाँ सदा इष्टप्राप्ति ही परिणाम होता है।

मृच्छकटिक के अध्ययन करने पर हमें यह पाँचों बातें समुचित रूप से यथावसर देखने को मिलती हैं।

प्रथम अंक के आरम्भ से चारुदत्त की—'भवतु विषण्णु प्रभव' उक्ति तक कथा का आरम्भ कहा जा सकता है। वसन्तसेना की (स्वगतम्) 'चतुरोमधुरश्चा-यमुपन्यासः (सं० अनु०) इत्यादि उक्ति से लेकर दशम अंक में चाण्डाल की 'आर्य चारुदत्त। स्वामिनियोगोऽपराध्यति न खलु वयं चाण्डालाः. तद् स्मर यत् 'स्मर्तव्यम्' उक्ति के बाद चारुदत्त की 'किं बहुना' इत्यादि उक्ति तक कथा का आरोह कहना उचित है।

दशम अंक में ही चाण्डाल की (सकरुणमाकृष्य) 'आर्य—चारुदत्त। वसतौ भूत्वा सम तिष्ठ' (सं० अनु०) इत्यादि उक्ति से लेकर—'प्रथम भवतु एव पूर्व' (इत्युभौ चारुदत्तं भूमौ समारोपयितुमिच्छतः) चारुदत्त (प्रवर्तति—इत्यादि पुनः पठति) तक कथा का वेग कह सकते हैं। इसी अंक में भिक्षु और वसन्त-सेना की 'आर्यौ मा तावद् मा तावद्'। (सं० अनु०) उक्ति से लेकर शकार की 'आश्चर्यं प्रत्युज्जीवितोऽस्मि' (सं० अनु०) उक्ति तक कथा का अवरोह दिखायी देता है। इसके पश्चात् (नेपथ्ये कलकलः) से दशम अंक की समाप्ति तक कथा का परिणाम है।

संविधान की दृष्टि से मृच्छकटिक की मीमांसा

शास्त्रीय विधान के अनुसार शृंगार मृच्छकटिक का अंगीरस है। यथावसर करुण, हास्य और बीभत्स रसों से उसका सुन्दर समन्वय भी यहाँ हुआ है। नान्दी से प्रारम्भ कर प्रस्तावना तक सभी का इसमें विधिवत् उपयोग हुआ है। अंकों के योजना सम्बन्धी नियमों का इसमें उचित पालन है। अंक की घटना

निर्धारित समय के अन्तर्गत एक दिन से अधिक समय में समाप्त नहीं हुई है।[1] प्रवेशक अथवा विष्कम्भक का जहाँ एक ओर इसमें अभाव है वहाँ दूसरी ओर भरतवाक्य का समुचित विधान है।

कुछ बातों में इसमें शास्त्रीय विधान की उपेक्षा भी है। कुलवधू तथा गणिका दोनों का रंगमंच पर एक साथ मिलना शास्त्रनिषिद्ध है।[2] फिर भी धूता और वसन्तसेना का मिलन दिखाया गया है। इस विषय में किंवदन्ती है कि सप्तम संदर्भ नीलकण्ठ नामक अन्य व्यक्ति का प्रक्षिप्त अंश है। अतएव शूद्रक इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। जहाँ तक प्रकरण के नाम का सम्बन्ध है वह भी नायक-नायिका[3] के नाम पर न रखकर स्वेच्छा से छठे अंक के एक छोटे से प्रसंग के आधार पर, जहाँ मिट्टी की गाड़ी की चर्चा है, मृच्छकटिक नाम रखा है। रूपक के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक अंक में नायक का चरित्र अवश्य आना चाहिये, पर मृच्छकटिक के दस अंकों में से चार अंकों (द्वि०, च०, ष० एवं सप्तम) में चारुदत्त के चरित्र की चर्चा ही नहीं है।

इन सबके साथ-साथ व्यापक रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शास्त्रीय विधान का यदि मृच्छकटिक में अतिक्रमण है तो उसका पालन भी है। राज्यविद्रोह और पालक के वध का परोक्ष रूप से आभास कराते हुए नायक-नायिका का प्रस्तुत प्रकरण में अन्तिम सुखद मिलन दिखाया है। इस रूप में मृच्छकटिककार ने ग्रन्थ में भारतीय साहित्य मर्यादा की रक्षा करते हुए अपने पाण्डित्य का परिचय दिया है।

पूर्वरंग, नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना आदि का यथावसर मृच्छकटिक में सुन्दर वर्णन है।

नान्दीपाठ का वैशिष्ट्य

रूपक के आदि में मङ्गलाचरण के रूप में दर्शकों और पाठकों की रक्षा के लिए इष्टदेव से की हुई प्रार्थना नान्दी कहलाती है।

---

१. एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ।—दशरूपक (३-३१)

२. वृत्तान्ते यत्र भवेत् न तत्र वेश्याङ्गना कार्या ।
यदि वेशयुवतियुक्तं न कुलस्त्रीसङ्गमो भवेत्तत्र ।।—नाट्यशास्त्र (२०।५५-५६)

३. नायिका नायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु । यथा मालतीमाधवादि ।
—साहित्यदर्पण (६, १४२)

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥ ना॰ शास्त्र (५।१०७)

नाटक के आरम्भ में बारह अथवा आठ पद, शब्द या वाक्यों से अलङ्कृत नान्दी का सूत्रधार को चाहिये कि मध्यम स्वर से पाठ करे ।

मृच्छकटिककार ने नाटकोचित शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए अपने प्रकरण को नान्दीपाठ से आरम्भ किया है । आरम्भ में आर्या वृत्त द्वारा आशीर्वाद के रूप में शंकर की समाधि और फिर अनुष्टुप् वृत्त द्वारा आशीर्वाद के साथ नीलकण्ठ के गले में पड़ी गौरी की भुजलता का मनोरम वर्णन किया है ।

नान्दीपाठ[1] वास्तव में प्रस्तुत नाटक के कथानक की निर्दोष ध्वनि को व्यक्त करता है । यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि उसके द्वारा कथानक की मुख्य रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है । बात कुछ भी हो, पर आलोचक नाटककारों ने एकमत से यही दिखाया है कि संस्कृत का प्रत्येक नाटक अपने नान्दीपाठ द्वारा नाटकीय वस्तु का समुचित प्रकाशन करता है ।

मृच्छकटिक में नीलकण्ठ और गौरी क्रमशः नायक और नायिका के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं । उनका मिलन नान्दीपाठ के अनुष्टुप् के द्वितीय चरण द्वारा व्यक्त किया गया है । 'श्यामाम्बुदोपम' और 'विद्युल्लेखा' द्वारा यह सूचित होता है कि जैसे कोई आपत्ति का प्रभावाक्रान्त आया हो । एक ओर काले बादल और उनमें बिजली की रेखा इस बात की द्योतक है कि नायक चारुदत्त के आपद्ग्रस्त जीवन में वसन्तसेना बिजली की किरण के समान उसे आलोकित करती रही । दूसरी ओर शिव के लिये नीलकण्ठ कहना, जिसमें उनके विषपान का अभिप्राय गुप्त है इस बात का द्योतक है कि जैसे उन्होंने विष को पीकर दूसरों को अहित से बचाया और स्वयं भी विष को गले से न उतार कर अपना हित किया, ठीक उसी प्रकार इस नाटक के नायक का भी यही गुण है कि उसने औरों का अहित न होने दिया और अन्त में स्वयं का भी हित किया पर एक मर्यादित रूप में, अर्थात् वसंतसेना को इस भाँति अपनाया कि औरों के सम्बन्ध भी पूर्ववत् रहें और कहीं किसी का अनौचित्य प्रतीत न हो ।

सूत्रधार एवं उसका नाटकीय औचित्य

प्रत्येक संस्कृत नाटक में सूत्रधार की चर्चा आरम्भ में आती है । नाटक

---

१. Dr G. B Devasthali : Introduction to the Study of Mrichchhakatika p. 45

का आरम्भ नान्दीपाठ से होता है और यह नान्दीपाठ सूत्रधार[1] द्वारा किया जाता है। मृच्छकटिक में भी पद्यावली नामक नान्दीपाठ सूत्रधार करता है। किसी-किसी नाटक में यह नान्दीपाठ के पश्चात् चला जाता है तथा दूसरा प्रधान नट जिसे स्थापक[2] कहते हैं कवि और उसकी कृति का परिचय देता है। मृच्छकटिक में सूत्रधार ही स्थापना का कार्य करता है। यह सूत्रधार भारती वृत्ति[3] का आश्रय लेता है और कवि का परिचय देते हुए कथ्यार्थ की सूचना देता है।

नट का यह वाग्व्यापार, जो अधिकांश संस्कृत भाषा में होता है, भारती वृत्ति कहलाता है। यह चार वृत्तियों में से एक है।[4] भारती वृत्ति के चार अंग

---

१. (अ) सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः। तदुक्तम्—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥

मृ० क० पृ० ३ पादटिप्पणी, चौखम्बा वाराणसी।

अर्थात् नाट्यवस्तु का प्रयोग करने वाला सूत्रधार होता है।

(आ) मातृगुप्ताचार्य कृत सूत्रधार का लक्षण—

चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभाषासमावृतः।
नानाभाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्।
नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारदः।
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः॥
छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः।
तत्तद्गीतानुगलय कलातालावधारणः॥
अवधार्य प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः।
एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते॥

२. पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारे निवर्तते।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत् काव्यमास्थापयेत् ततः॥—सा० द० (६-२६)

३. या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारतीनाम भवेत्तु वृत्तिः॥

—भ० ना० शा० (२२-२५)

४. भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः।
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः॥

—ना० दर्पण (सूत्र १५५।) १०१

होते हैं—प्ररोचना, वीथि, प्रहसन और आमुख। प्ररोचना का अभिप्राय नाटक, आदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को आकृष्ट करना है। मृच्छकटिक के आरम्भ में 'एतत्कवि किल ... शूद्रको नृप.' यह प्ररोचना है। इसमें कवि की प्रशंसा है तथा काव्यार्थ की भी सूचना भी दे दी गयी है। रूपक में सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रकृत वस्तु की ओर कतिपय संकेत करता है और मैत्रेय के प्रवेश की सूचना भी देता है। दशरूपक के अनुसार यह प्रस्तावना तीन प्रकार की है—कथोद्घात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय। साहित्यदर्पण के अनुसार प्रस्तावना पाँच प्रकार की है—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है। अभिनय वस्तु की सूचना देकर अथवा नाटकीय पात्र का प्रवेश कराने के पश्चात् सूत्रधार रंगमंच से चला जाता है और प्रस्तावना समाप्त हो जाती है। प्रस्तावना के पश्चात् वास्तविक नाटकीय कार्य आरम्भ होता है। इसमें दो प्रकार की घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं—दृश्य और सूच्य। दृश्य वे सरस घटनाएँ हैं जिनका नायक से सम्बन्ध होता है और जिनका रंगमंच पर अभिनय किया जाता है। ऐसी घटनाओं का समावेश अंकों में किया जाता है। प्रत्येक अंक में प्रायः एक ही दिन में, एक ही प्रयोजन से किये गये कार्यों का समावेश होता है।

सूच्य घटनाएँ वे हैं जो नीरस होती हैं एवं वर्षपर्यन्त चलने वाली होती हैं तथा अंकों में दर्शनीय नहीं होतीं। यदि कथाप्रवाह के लिये आवश्यक होता है तो ऐसी घटनाओं की अर्थोपक्षेपकों (अर्थ की सूचना देने वाले भाग) के द्वारा सूचना मात्र दी जाती है। ये अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। विष्कम्भक इत्यादि का विशद विवेचन साहित्य दर्पण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है। यहाँ चूलिका (नेपथ्य से वस्तु की सूचना) का मृच्छकटिक में यत्र तत्र पर्याप्त प्रयोग किया गया है, पर अन्य विभागों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

संस्कृत नाटकों की समाप्ति भरत-वाक्य से होती है। भरत-वाक्य नाटक की समाप्ति पर दिया जाता है और इसे भरत वाक्य कहते हैं। भरत का अर्थ नट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नाट्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भरत के नाम पर इस अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरत वाक्य रख दिया गया है। इसमें आश्रयदाता राजा या स्वयं कवि के कल्याण की कामना की जाती है अथवा सामान्यतया प्रजामात्र के कल्याण की कामना की जाती है।

'मृच्छकटिक के भरत वाक्य में व्यापक रूप से प्राणिमात्र के कल्याण की कामना की गई है—'जगन्मात्र मोदताम्'। साथ ही ब्राह्मणों के सदाचारी होने और राजाओं के धर्मनिष्ठ होकर भूमिपालन करने की भी मंगलकामना है।

अभिनययोग्य रंगमंच

संस्कृत रूपकों के अभिनय के लिए बने भारतीय रंगमंच और उसके विकास पर दृष्टिपात भी आवश्यक है। अभिनय वास्तव में नाट्यकला का सर्वप्रमुख तत्व है जिसके लिये रंगमंच की उपयुक्तता बहुत आवश्यक है। भाषा के समान यह कहना कठिन है कि इसका आरम्भ कब हुआ।

नेपथ्य भी रंगमंच का आवश्यक भाग है जहाँ (परदे के पीछे) सब पात्र एकत्र होते हैं और नाटक में भाग लेने के लिए तैयार रहते हैं। प्रेक्षकों के समक्ष जिस स्थानविशेष पर अभिनय किया जाता है वह रंगपीठ कहलाता है। इन दोनों के मध्य का भाग रंगशीर्ष कहलाता है जहाँ कि पात्र नेपथ्य से आकर विश्राम करते हैं।[1]

भारतीय रंगमंच की आकृति पर विचार करने से यह रंगशीर्ष विशेष महत्वपूर्ण ज्ञात होता है। इसकी स्थिति में पात्रों के आने-जाने का रहस्य दर्शकों को सरलता से ज्ञात नहीं होता था। अभिनय सम्बन्धी कुछ आवश्यक पदार्थों के रखने की व्यवस्था भी इसकी सहायता से हो जाती थी। यूरोपीय विद्वानों ने स्वर्ग और पाताल के दृश्य अभिनय की दृष्टि से अनुपयोगी बताये हैं। ये भी रंगशीर्ष के दुर्मंजिले होने से सहज में अभिनय के योग्य हो जाते हैं। यहाँ से आता हुआ पात्र उड़ने का अभिनय कर सकता है।

प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था बहुत कठोर थी। यही कारण था कि रंगमंच के समक्ष बैठने वाले दर्शकों के लिए वर्णों के अनुकूल स्थान नियत थे। इस स्थान के संकेत के लिए ब्राह्मणों के लिए पुष्परंग का, क्षत्रियों के लिए लाल रंग का, वैश्यों के लिए पीले रंग का तथा शूद्रों के लिए नीले रंग का स्तम्भ गाड़ा जाता था। इसी प्रकार राजपुरुषों, स्त्रियों एवं बालकों के बैठने के लिए पृथक् पृथक् स्थान निर्धारित किये जाते थे। प्रेक्षागृह के पूर्व भाग में राजा का आसन होता था। उसके बायीं ओर मंत्री, कवि, ज्योतिषी एवं व्यापारीवर्ग तथा दाहिनी ओर महिलायें बैठती थीं। राजपुरुष तथा बच्चों के स्थान उत्तर में और राजभृत्य, भट, आलोचक एवं रक्षकों के स्थान किनारे पर नियत थे। संसार

---

१. नेपथ्य स्वापवनिका रंगभूमिः प्रधानगम् (अमर-नाट्यवर्ग)

में भारतीय रंगमंच का इतना विकसित और विस्तृत रूप प्रारम्भिक अवस्था में ही पाया जाना निःसन्देह संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त गौरव-पूर्ण एवं रुचिकर विषय है।

भारतवर्ष के यशस्वी सम्राट् महाराज हर्षवर्धन का राज्यकाल सन् ६०६ से ६४८ ई० तक माना जाता है। इस समय भरत मुनि की नाट्यप्रणाली का पर्याप्त प्रचार रहा। यवनों के आक्रमण एवं प्रभुत्व स्थापित होने के अनन्तर संस्कृत को राजकीय प्रोत्साहन मिलना समाप्त हो गया और उत्तरोत्तर नाट्यकला के साथ-साथ शास्त्रीय रंगमंच की रूपरेखा भी बदलती गयी। केवल जनसाधारण में राम तथा कृष्ण के जीवन पर तथा अन्य धार्मिक कथाओं के आधार पर नाटकों का अभिनय चलता रहा। इसके लिये किसी विशेष मंच का विधान न था। अब तो कोई भूमि मैदानों या बाजारों में भी उत्सव मना लेते हैं। यूरोप-वासियों के सम्पर्क से हमारे देश में यूरोपीय संस्कृति के आधार पर रंगमंचों की स्थापना हुई। फिर इस समय तो सिनेमा के प्रभाव से स्थिति ही बदल गयी। यथार्थ में सिनेमा आजकल इस दिशा में नाटक का पूर्णतम विकसित रूप है।

मृच्छकटिक में रंगमंचीय विधान का अतिक्रमण

दृश्य काव्य के अन्तर्गत केवल पढ़े जाने वाले नाटकों को पाठ्यनाटक (Closet Drama) कहते हैं। इनके लेखक यदि स्वच्छन्द हैं और कहीं कुछ नाटकीय नियमों की उपेक्षा भी करते हैं तो वे इतने अखरने वाले नहीं होते जितने कि दर्शनीय, क्योंकि ये क्रियमाण दर्शकों की रुचि के प्रतिकूल होने से अरुचिकर हो जाते हैं। अतः रंगमंच के लिये वे ही नाटक उपयुक्त होते हैं जिनकी कथावस्तु अधिक विस्तृत नहीं होती। कथोपकथन भी लम्बे न होकर सीमित होते हैं और दृश्यों का विभाजन भी रंगमंच के अनुकूल होता है। यह अवश्य है कि मृच्छकटिक शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत एक प्रकरण है पर कहीं-कहीं इसमें सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है। संस्कृत रंगमंच की परम्पराओं का अतिक्रमण भी उनमें से एक है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार नायक चारुदत्त प्रत्येक अंक में उपस्थित नहीं होता। निद्रा और हिंसा का रंगमंच पर अशोभनीय प्रदर्शन भी किया गया है। प्रेम-सम्बन्ध में भी मृच्छकटिककार का साहस सराहनीय है। शास्त्रीय मर्यादा के प्रतिकूल दुर्दिन की वर्षा में चारुदत्त तथा वसन्तसेना का परस्पर आलिंगन दिखाया गया है। सूत्रधार प्रारम्भ में संस्कृत में बोलना प्रारम्भ कर फिर नटी से प्राकृत में बोलने लगता है। ये सब बातें पाठक को भाव से मिलीं अवश्य, पर उनका इनमें निःसंकोच अनुपम साहस

प्रदर्शित किया है। यही उसकी एक महत्ता है जहाँ उसने शास्त्रीय विधान के आगे झुकते हुए विधान के औचित्य को प्रकट किया है। वैसे मृच्छकटिक को जब दृश्य रूपक की कसौटी पर परखते हैं तो सर्वथा सफल पाते हैं। इसकी कथावस्तु इतनी विस्तृत है कि इसका अभिनय एक बैठक में सम्भव नहीं है। यद्यपि कथावस्तु प्राणपूर्ण है, फिर भी उसमें एक दोष यह है कि वह पूर्ण रूप से सम्बद्ध नहीं है। चतुर्थ अंक में विदूषक ने वसन्तसेना के भवन का इतना अधिक विस्तृत वर्णन किया है जिससे सामाजिक दर्शक ऊब जाते हैं। पंचम अंक में वर्षा-वर्णन भी स्वाभाविक रूप से कुछ अधिक हो गया है।

षष्ठ अंक में चारुदत्त का सोई हुई वसन्तसेना को छोड़कर प्रातः पुष्पकरण्डक उद्यान में चले जाना भी ठीक नहीं जँचता। केवल यही कहा जा सकता है कि पंचम अंक की कथा को आगे की कथा से सम्बद्ध करने के लिये यह एक माध्यम है। अष्टम अंक के अन्त में शकार का यह कहकर उद्यान से चल जाना कि मैं अब न्यायालय में जाकर मुकदमा करूँगा किन्तु वहीं दूसरे दिन पहुँचना असंगत प्रतीत होता है। नवम अंक में न्यायाधीशों के बार-बार पूछने पर चारुदत्त का मौन रहना भी एक प्रकार की कमी को व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त शकार की असम्बद्ध उक्तियाँ भी कुछ खटकने वाली हैं। रंगमंच पर प्रत्यक्ष में शर्विलक का चारुदत्त के यहाँ सेंध लगाना भी कुछ अच्छा नहीं समझा जाता। स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्द भी ठीक नहीं लगते। इन्हीं दोषों से कथावस्तु की रोचकता कम हो जाती है। डा० राइडर का कहना है कि मृच्छकटिक में समरूपता (Proportion) का अभाव है, फिर भी यह बहुत विस्तृत है।[1]

कथोपकथन वैसे तो कई स्थानों पर विस्तृत है, पर विदूषक ने वसन्तसेना के भवन-वर्णन में तो अतिशयोक्ति कर दी है। ऐसा लगता है कि जैसे किसी गद्य काव्य का वर्णित विषय हो।

दृश्यों के समुचित विभाजन का जहाँ तक सम्बन्ध है, मृच्छकटिक के प्रत्येक अंक में अनेक दृश्य हैं। कई दृश्यों की योजना एक ही समय में की गयी है। दो दृश्यों को एक ही समय में रंगमंच पर दिखाया गया है। प्रथम अंक में एक ओर चारुदत्त के घर का दृश्य प्रस्तुत किया गया और दूसरी ओर वसन्तसेना का अनुसरण करते हुए शकार का दृश्य भी चित्रित किया गया है।

---

1. M R Kale : Mrichchhakatika, Introduction, p. 55.

सच में इन सब बातों के होते हुए भी मृच्छकटिक की अत्यन्त रोचक और आकर्षक कथा के सामने यह आक्षेप नगण्य है। क्रिया-व्यापार की गतिशीलता इसमें पायी जाती है। अभिनय के विचार से यह है भी आवश्यक। यदि कुछ अंशों को छोड़ दिया जाय, जैसे वर्षा-वर्णन, भवन-वर्णन आदि तो यह कथा संक्षिप्त हो सकती है। दृश्य विभाजन का क्रम भी थोड़े परिवर्तन से अभिनय के अनुकूल किया जा सकता है। इस भाँति यह सर्वथा सम्भव है कि मृच्छकटिक के कलेवर को नया रूप देते हुए उचित परिवर्तन के साथ उसे अभिनय-योग्य बनाया जाय। डा० देवस्थली ने मृच्छकटिक के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहने के पश्चात् अन्त में इसकी प्रशंसा ही की है —

"If then by dramatic poems is meant drama not fit for the stage, we must differ from Ryder and say that Sanskrit plays are dramas with poetic charms and qualities added to them."[1]

सोपान विश्लेषण

यों तो रूपक का आरम्भ वैदिक काल से ही हो जाता है। फिर उसे धीरे-धीरे इतना महत्व दिया जाने लगा कि उस विषय पर ही पृथक् से स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। भरत मुनि का नाट्य शास्त्र इस दिशा में एक ज्वलन्त प्रमाण है। वैसे तो इसमें नाट्योपयोगी सभी विषयों पर सुन्दर विवेचन है, पर नाट्यकला की दृष्टि से विचारणीय वस्तु, रस तथा पात्र का समीचीन वर्णन है। इनका सुन्दर समन्वय रूपक की एक ऐसी नींव है जिसपर ही सब कुछ आधारित है।

रूपक के भेद नाटक को संभवतः मृच्छकटिककार ने अपनी कथावस्तु के लिए उपयुक्त नहीं समझा। अतः प्रकरण के रूप में उसको प्रदर्शित किया। संस्कृत प्रकरणों में मृच्छकटिक एक सफल प्रकरण है। इसकी नाट्यविधा सर्वथा समुचित है।

कथानक और संविधानक की दृष्टि से हम उसके औचित्य को स्वीकार करते हैं। मृच्छकटिक एक प्रकार से दो आत्माओं का एक प्रतिबिम्ब है जिसके आरम्भ में भावदर्शित चारुदत्त का प्रकाश है तो आगे मृच्छकटिक का मध्यमार्ग है।

१. Dr G B Devasthali Introduction to the Study of Mrichchhakatika, p 132.

मृच्छकटिक में रंगमंच पर चारुदत्त और वसन्तसेना का चुम्बन की चर्चा में आलिंगन और धूता कुसमधु एवं वसन्तसेना गणिका का परस्पर मिलन यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से उपयुक्त नहीं समझे जाते, पर आज के सिनेमा-संसार में यह सब मान्य है। छायाचित्रकारों का तो यह विश्वास है कि बिना इसके चित्र में जीवन नहीं आता।

द्वितीय-सोपान

नाट्यशास्त्र के दो अंग : पात्र और रस

पात्र और रस रूपक के प्रमुख अंग हैं। पात्रों में नायक और नायिका प्रधान हैं। नायक को नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का कहा गया है। ये चारों भेद नायक की प्रकृति के आधार पर हैं। यद्यपि ये चारों नायक धीर तो होते हैं पर धीरत्व के अतिरिक्त इनमें अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषतायें क्रमशः ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत होती हैं।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। मृच्छकटिक में जैसे चारुदत्त का शकार है।

विदूषक संस्कृत नाटक का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। हास्य और व्यंग्य से यह नाटकीय मनोरंजन का साधन बनता है। कभी-कभी यह तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय देता है। यह ब्राह्मण जाति का होता है और प्राकृत भाषा बोलता है।

विट एक ऐसा पात्र है जो वेश्याओं के व्यवहारादि से परिचित होता है और कलाप्रवीण होता है।

नायक की भाँति नायिका का भी अपना महत्त्व है। यह स्वीया, अन्या और साधारण्या के नाम से अपने अर्थ को चरितार्थ करती हुई तीन प्रकार की होती है। सामान्या से विशेष अभिप्राय साधारण स्त्री या गणिका से है। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना गणिका है।

कथावस्तु को प्रगतिशील बनाने के लिये रूपक में और बहुत से पात्र होते हैं। मृच्छकटिक में अन्य पात्रों का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। अपने-अपने स्थानों में सभी कुशल हैं। यह एक ऐसा प्रकरण है जिसमें पात्र संख्या बहुत अधिक है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में रस सर्वोपरि है। बिना रस के सब नीरस है।

इसकी व्यंजना दृश्य काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। दृश्य काव्य में नटों का यही उद्देश्य है कि उनके अभिनय द्वारा सामाजिकों में रसोद्बोध हो। काव्य के पढ़ने, सुनने अथवा रूपक के रूप में दर्शन से जिस आनन्द का अनुभव हमें होता है वही आनन्द रस कहलाता है। भरत मुनि के अनुसार इस रस को निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से होती है। 'विभावानुभावव्यभि-चारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' (नाट्यशास्त्र)।

बार-बार देखने पर या सुनने पर मन पर बनी हुई भावग्रन्थि काव्य में वर्णित विभावादि द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाती है। ये भाव चेतन और अचेतन मन को कुछ समय के लिये एक करके उनके बीच के व्यवधान को हटाकर हमें हृदय की उस चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं जहाँ हम मनोराज्य में विचरण करते हुए 'परम आनन्द की अनुभूति' करते हैं। रसज्ञों के मत में यह आनन्द, जिसे रस की संज्ञा दी गयी है, लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, दिव्य है तथा ब्रह्मास्वादसहोदर है।

नाट्यशास्त्र में रसों का विवेचन एवं मृच्छकटिक में उनका औचित्य

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार रस रूपक का मुख्य अंग है। पाश्चात्य समीक्षकों ने प्रभावाभिव्यक्ति को ही नाटक का जीवन बताया है। आलोचकों का कहना है कि इन दोनों में बहुत समानता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से सहृदयों को उत्पन्न होने वाली अलौकिक आनन्द की अनुभूति ही रस है। रूपकों का प्रयोजन इसी रस की प्रतीति कराना है। विविध रूपकों में रसों की प्रधानता और अप्रधानता भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। प्रकरण में शृङ्गार रस प्रधान अथवा अंगी होता है तथा अन्य रस उसके अंग बनकर रहते हैं। शृंगार के दो रूप हैं। एक सम्भोग अथवा संयोग शृङ्गार और विप्रलम्भ अथवा वियोग शृंगार। मृच्छकटिक में संभोग शृङ्गार ही अंगी रस है एवं विप्रलम्भशृङ्गार, करुण, हास्य, भय, बीभत्स, वीर और शान्त आदि उसके अंग हैं।

मृच्छकटिक की कथावस्तु इस प्रकार है कि इसमें यथास्थान अन्य रसों का भी वर्णन होता है। वसन्तसेना का गला जब घोट दिया जाता है और वह मूर्छित हो जाती है तब बीभत्स रस का प्रादुर्भाव होता है। खुण्टमोडक हाथी की भगदड़ के समय भयानक रस का रूप उपस्थित हो जाता है। अष्टम अंक के आरम्भ में बौद्धभिक्षुओं की उक्तियों में शान्त रस प्रवाहित होते दिखता है। शर्विलक की उक्तियों में शूरवीरता एवं चारुदत्त के वर्णन में दानवीरता का

आघात होता है। मध्याह्ने पञ्चम में कर्णपूरक द्वारा भिक्षु की रक्षा किये जाने पर अद्भुत रस देखने को मिलता है।

(क) शृङ्गार

प्रथम अङ्क के चतुर्थ दृश्य में नायक नायिका प्रथम बार ही परस्पर मिलते हैं। यहाँ सम्भोग शृङ्गार का उदय स्पष्ट है। यह सम्भोग अनेक उपमानों के साथ पंचम अङ्क में पूर्ण हुआ है।

द्वितीय अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका का सम्भाषण आरम्भ होता है। इस दृश्य में विप्रलम्भ शृंगार की प्रतीति होती है। यहीं वसन्तसेना की उदारता और चारुदत्त के प्रति उसका प्रेम अभिव्यक्त होता है।

चतुर्थ अङ्क के प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और मदनिका चारुदत्त के चित्र के सम्बन्ध में वार्तालाप करती हैं। यहाँ विप्रलम्भ शृंगार का आभास मिलता है।

पंचम अङ्क के तृतीय दृश्य में विट और वसन्तसेना दुर्दिन का वर्णन करते हुए चारुदत्त के यहाँ पहुँचते हैं। चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त और वसन्तसेना फिर मिलते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ सम्भोग शृङ्गार को पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति दिखायी देती है।

षष्ठ अङ्क के प्रथम दृश्य में चेटी और वसन्तसेना का सम्वाद चलता है। यहाँ चारुदत्त से पुनः मिलने के लिये वसन्तसेना की उत्सुकता व्यक्त होती है। इस भाँति कई स्थानों पर सम्भोग और विप्रलम्भ सामने आते हैं।

आरम्भ में सम्भोग शृङ्गार का उदय विप्रलम्भ इत्यादि से पोषण प्राप्त करता हुआ अन्त में परिपाक दशा को पहुँच जाता है। अतः यहाँ सम्भोग शृंगार अंगीरस है। शकार का वसन्तसेना के प्रति अनुराग, उसका पीछा करना, अनुनय करना और प्रेम प्रदर्शित करना इत्यादि शृंगाराभास हैं।

सम्भोग शृंगार की भाँति वियोग शृंगार भी मृच्छकटिक में अनेक स्थलों पर सुन्दरता के साथ व्यक्त हुआ है। द्वितीय अङ्क के आरम्भ में वसन्तसेना विशेष उत्कण्ठित है। दृश्य में कुछ सोच रही है (हृदयेन किमप्यभिलषन्ती) और स्नान आदि में भी उसकी रुचि नहीं है। यह शून्यहृदयता सी किसी की कामना करती हुई प्रतीत होती है। चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में वसन्तसेना चारुदत्त के चित्र की रचना में निमग्न दिखाई देती है। पञ्चम अंक के आरम्भ में जब विदूषक चारुदत्त से गणिका प्रसंग छोड़ने की बात करता है तो उस समय वसन्तसेना के प्रति चारुदत्त की उत्सुकता प्रकट होती है।

(स्वगतम्) 'न युक्तमार्यो हासी यम' साथ में विरह की वेदना भी व्यक्त होती है।

(प्रकाशम) 'असमर्थे परित्यक्ता ननु त्वमेव सा मया'

मृ० क० (५-१)

पञ्चम और षष्ठम अंक में दोनों ओर से भूह की उत्कण्ठा व्यक्त होती हुई दिखाई देती है। इस प्रकार मृच्छकटिक में विप्रलम्भ शृङ्गार का भी बहुत सुन्दर चित्रण है।

रस-विवेचन करते हुए यह कहना सर्वथा उचित होगा कि मृच्छकटिक में शृङ्गार रस के साथ साथ करुण और हास्य रस का सुन्दर समन्वय है। अन्य रस नहीं के बराबर हैं फिर भी बीभत्स भयानक, वीर, अद्भुत और शान्त रस के दर्शन यथास्थान होते हैं।

भारतीय साहित्य में नाटक का एक ही प्रकार है और वह है सुखान्त। मृच्छकटिक में समाप्ति नायक नायिका के मिलन के साथ दिखायी गयी है। अतः यह सुखान्त प्रकरण है।

(ख) हास्य एवं परिहास योजना

हास्य रस का भी मृच्छकटिक में सुन्दर विवेचन है। सच तो यह है कि हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से मृच्छकटिक का संस्कृत नाटकों में महत्वपूर्ण गौरवपूर्ण स्थान है। शूद्रक द्वारा यह हास्य पृथक्-पृथक रूपों में इसमें व्यक्त हुआ है। विनोदी तथा हास्यप्रिय विदूषक और शकार के अनेक कार्यों एवं संवादों से समस्त प्रकरण में हास्य की व्यंजना हुई है। सारा हास्य शकार के मूर्खतापूर्ण कार्यों से व्यक्त हो रहा है। हास्योत्पादन तो विदूषक के द्वारा भी हुआ है, पर वह शकार की भाँति मूर्खतापूर्ण नहीं है। कहीं कहीं विरोधपूर्ण परिस्थितियों द्वारा जैसे द्वितीय अंक के द्वितीय दृश्य में द्यूतकारों के झगड़े में हास्य रस का पुट है एवं वहाँ उसका भी स्थूलकाय माता के वर्णन में हास्य की झलक है। वीरक एवं चन्दनक का आपस में जातिसूचक संकेत देना भी हास्य को बढ़ावा देने वाली घटनायें हैं। कभी-कभी व्यंग्यपूर्ण उक्तियों से भी यह प्रकट होता है जैसे—

'भवति किं युष्माकम् यानपात्राणि वहन्ति' इत्यादि से मधुरहास्य अभिव्यक्त होता है। यह भी देखा गया है कि अद्भुत प्रश्नोत्तर द्वारा जैसे वसन्तसेना के पेट और विदूषक के प्रश्नोत्तरों से हास्य रस प्रस्फुटित होता है। इस अवसर पर विदूषक की मूर्खता एवं उसके पद-परिवर्तन पर 'सेना वसन्त' के

कहने से भी हास्यरस का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं कुछ तथ्यों के आधार पर मृच्छकटिक संस्कृत के उन सर्वोत्तम नाटकों में है जिनमें हास्यरस वास्तविक रूप से व्यंजित हुआ है। इसका एक मात्र कारण यह भी है कि अन्य नाटकों की अपेक्षा मृच्छकटिक में सरलता और स्वाभाविकता अधिक दिखायी देती है। गम्भीरता और हास्य इन दोनों का परस्पर विरोध है। इसमें अन्य नाटकों जैसी गम्भीरता नहीं है। यही कारण है कि हास्य रस को इसमें समुचित स्थान मिला है।

संभवत मृच्छकटिक के निर्माता को हास्य रस विशेष प्रिय है अथवा वह इसका आरम्भ विनोद के साथ करना चाहता है। इसीलिये प्रस्तावना में हास्य रस की झलक दिखायी देती है।

(घ) करुण

करुण का आविर्भाव अभीष्ट की हानि से होता है। इसके चित्रण से सहृदय करुण रस का आस्वादन करते हैं। प्रथम अंक में चारुदत्त के वैभव-नाश और दरिद्रता का करुण शब्दों में दयनीय चित्रण अंकित किया गया है। कितनी सुन्दर उक्तियाँ हैं :—

सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ।

मृ० क० (१–१०)

अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ।

मृ० क० (१–११)

इसी भाँति रदनिका के भूमि-पतन में, अलंकारों की चोरी का समाचार सुनकर धूता की मूर्छा में, तत्पश्चात् वसन्तसेना अथवा मदनिका की मूर्छा में एवं चारुदत्त के प्राणदण्ड की घोषणा हो जाने पर रोहसेन और धूता के अनुगमन की बात सुनते ही चारुदत्त के मूर्छित होने इत्यादि के वर्णनों में करुणरस का वर्णन देखा गया है। शकार के द्वारा वसन्तसेना का गला घोटने पर जब वह मूर्छित हो जाती है तब विट शोकमग्न होकर जो विलाप करता है उसमें तो करुण रस का अत्यन्त सुन्दर परिपाक हुआ है जैसे—

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता ।

मृ० क० (८–३८)

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित है कि इस प्रकरण में शृंगार अंगीरस है। इस प्रकरण की यह विलक्षणता है और सम्भवतः यही इसकी विशेषता है कि आरम्भ में इसमें संयोग और फिर विप्रलम्भ और समाप्ति पर फिर संयोग

दिखायी देता है। करुण, भयानक, अद्भुत और बीभत्स इसके अंगीरस हैं। शर्विलक और आर्यक की उक्तियों से बीच-बीच में वीररस की भी झलक मिल जाती है। यथास्थान चिन्ता, ग्लानि, निर्वेद आदि संचारी भावों का भी समावेश इसे रुचिकर बना देता है।

रूपक की विशेषता यह है कि दर्शक या श्रोता देखने या सुनने पर उसके सुखान्त या दुःखान्त का अनुमान न लगा सकें। उसकी सम्भावनायें भ्रमपूर्ण बनी रहें। इस दिशा में मृच्छकटिक एक ऐसा रूपक है जो अपने वैशिष्ट्य के कारण कसौटी पर खरा उतरता है। इसके पढ़ने पर पाठकों को मध्य में यह निश्चय नहीं होता कि इसकी समाप्ति सुखान्त है अथवा दुःखान्त।

मृच्छकटिक का अंगीरस

मृच्छकटिक का अंगीरस शृंगार है। यह संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूपों में इसमें प्रयुक्त हुआ है। चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम से इसकी अभिव्यक्ति हुई है। वसन्तसेना यद्यपि गणिका होने के नाते सामान्य नायिका है और सामान्य नायिका का प्रेम रस कोटि तक न पहुँचने से रसाभास कहलाना चाहिए, पर अन्त में वसन्तसेना के कुलवधू पद पर पहुँच जाने से प्रेम रसकोटि तक पहुँच जाता है। वसन्तसेना के हृदय में गुणवान रूपयौवनसम्पन्न चारुदत्त को देखकर प्रेम का अंकुर उत्पन्न होता है। चारुदत्त भी उसके रूप पर मुग्ध होने लगता है। इस भाँति द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अंक में विप्रलम्भ शृंगार के अभिव्यंजक भावों से संयोग की पुष्टि होती है जिसके फलस्वरूप इधर पंचम अंक में वसन्तसेना अभिसारिका बनकर चलती है और उधर आकाश पर छाये मेघों से चारुदत्त का प्रेम उद्दीप्त हो उठता है, वह कहने लगता है :—

> भो मेघ, गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे।
> संस्पर्शरोमांचितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्॥
>
> मृ० क० (५-४०)

इतना ही नहीं, वसन्तसेना के पहुँचने पर वह उसका आलिंगन करके अपने कोमल भावों को इस रूप में प्रकट करता है—

> धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम्।
> आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति॥
>
> मृ० क० (५।४९)

इसके पश्चात् भी षष्ठ अंक के आरम्भ में वसन्तसेना की और सप्तम अंक में चारुदत्त की मिलने की उत्कण्ठा तीव्र बनी रहती है, पर दैव के विधान से

वसन्तसेना का मोटन, चारुदत्त पर अभियोग और मृत्युदण्ड उन्हें परस्पर वियोग की चरम स्थिति पर वैसे ही पहुँचाते हैं वैसे ही पुनर्मिलन हो जाता है और चारुदत्त कहने लगता है—

अहो प्रभावः प्रियसमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत ।

मृ० क० (१०-४१)

इस भाँति यहाँ सम्भोग शृङ्गार विप्रलम्भ इत्यादि से पुष्ट होकर अन्त में परिपक्वस्थिति में पहुँचकर पुनः सम्भोग रूप में परिवर्तित हो जाता है।

रूपक में अलङ्कार, गुणरीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि का समन्वय

रूपक के कुछ ऐसे अंग हैं जिनसे उसके कलेवर में सौन्दर्य-वृद्धि की स्थिरता बनी रहती है। शास्त्रीय विधान के साथ साहित्यिक रुचि में अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि का अपना विशिष्ट स्थान है।

अलंकार नाट्य-सौन्दर्य को चमत्का देते हैं। कलाकृति का सौन्दर्य आभूषणों से जैसे निखर उठता है वैसे ही नाट्य वस्तु भी इसके द्वारा चमक उठती है। अलंकार से वस्तु सजीव हो उठती है। इसका सामान्य रूप है वैचित्र्य। इसके लिए कवि की प्रतिभा की आवश्यकता है। आचार्य मम्मट के अनुसार कटक, कुण्डल आदि जैसे अनेक प्रकार के आभूषण हैं वैसे ही अलंकार शब्द तथा अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म हैं। अस्थिर इसलिये कहा गया है कि इसके बिना भी काव्य में काव्यत्व रहता है। गुणों के समान इनकी स्थिति निश्चित नहीं होती। ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से ऐसा है, पर अलंकारवादी आचार्य तो काव्य में अलंकार को विशेष महत्व देते हैं। मृच्छकटिक में स्वाभाविक ढंग से अनेक अलंकार यथावसर प्रयुक्त हुए हैं। बलपूर्वक उन्हें लाया नहीं गया है। ये अलंकार अर्थव्यञ्जना में सहायक होकर काव्यसौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, काव्यलिङ्ग विशेषोक्ति एवं समासोक्ति आदि अलंकारों की इसमें सुन्दर अभिव्यक्ति है।

अलंकारों की भाँति गुणों का भी काव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार तो अस्थिर हैं, पर गुण स्थिर हैं। यथा, शौर्य आदि गुण जैसे शरीर से सम्बन्धित न होकर आत्मा से सम्बन्धित हैं वैसे ही काव्य में ये गुण रस से सम्बन्धित हैं। अतः गुण मुख्य रस के ही धर्म होते हैं। ये गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अंतरङ्ग धर्म हैं। अलंकार का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ से है इसलिये ये काव्य की शोभा बढ़ाने वाले बाहरी धर्म हैं। काव्य का सर्वदा गुणयुक्त होना आवश्यक है, पर अलंकार का उसमें होना आवश्यक नहीं। अतः गुणों के विषय में

यह कहना सर्वथा उचित है कि ये काव्य में सदैव विद्यमान रहकर उसकी शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म हैं। गुण संख्या में दस माने गये हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, उदारता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति। इन सबका समावेश माधुर्य, ओज और प्रसाद में किया जाता है। मृच्छकटिक में चारुदत्त, वसन्तसेना और शकार की उक्ति में ये गुण यथास्थान देखे जाते हैं।

रीति का भी काव्य रचना में अपना विशिष्ट स्थान है। रीति से अभिप्राय शैली से है। रुचि के विचार से रीतियाँ अनन्त हैं और इनका परस्पर भेद बहुत सूक्ष्म है। रीति की उपमा मानव-शरीर में अंगों के संगठन के साथ की जाती है। जिस भाँति मनुष्य के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन उसे स्वस्थ और सुडौल दिखाता है ठीक उसी प्रकार पदों का अपने स्थान पर समुचित प्रयोग रचना की सुव्यवस्था को प्रकट करता है। अतः रीति के सम्बन्ध में यह कहना उचित है कि उसमें पदों का ऐसा विन्यास है जिसमें काव्यगुणों की स्थिति अवश्य ही लक्षित होती है। ये रीतियाँ वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के नाम से तीन प्रकार की हैं। वैदर्भी रीति माधुर्य गुणप्रधान, गौडी रीति ओज गुणप्रधान तथा पाञ्चाली रीति प्रसाद गुणप्रधान होती है। मृच्छकटिक में इन रीतियों का सुन्दर सामञ्जस्य गुणों के अनुसार है।

ये वर्णन की रीति के विभिन्न रूप वक्ता के प्रति आकर्षण उत्पन्न करते हैं। वक्रोक्ति की विधि भी इसमें अनुपम है। किसी बात को सरल भाव से न कहकर उक्ति को वक्रता के रूप में प्रदर्शित करना वक्रोक्ति कहलाता है। शब्द तथा अर्थ की लोकोत्तररूप से काव्य में स्थिति वक्रता कहलाती है। वक्रोक्ति के आचार्य कुन्तक का यही मत है। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन माना है और यही वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। यह वक्रोक्ति वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध के विचार से अनेक रूपों में प्रदर्शित की जाती है। मृच्छकटिक में चारुदत्त और वसन्तसेना की उक्तियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं।

काव्य की महत्ता पर विचार करते हुए सर्वोत्तम काव्य ध्वनि-काव्य माना गया है। व्याकरण शास्त्र में यह स्फोट के नाम से प्रसिद्ध है। ध्वनि की सत्ता उतनी ही प्राचीन है जितनी काव्यकला की। इस ध्वनि के कारण अर्थ में अपूर्व नवीनता दिखाई देती है। आनन्दवर्धन और इनके अनुयायी आचार्यों ने ध्वनि का सुन्दर विवेचन किया है। यह ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि। रस ध्वनि असंलक्ष्यक्रम होती है और उसमें रस

की व्यंजना होती है। वस्तुध्वनि में किसी सामान्य वस्तु या कथन की ध्वनि होती है। अलंकार-ध्वनि में किसी अलंकार की अभिव्यक्ति व्यंग्यार्थ रूप से होती है। मृच्छकटिक में यथावसर वसन्तसेना और चारुदत्त की ऐसी उक्तियाँ हैं।

मृच्छकटिक में अलंकार-चित्रण

अलंकारों का जहाँ तक सम्बन्ध है, मृच्छकटिककार ने अलंकारों को बलपूर्वक कहीं लाया नहीं है, वरन् स्वाभाविक रूप से अनेक अलंकार आ गये हैं। स्वाभाविकता के ही कारण इन अलंकारों ने अर्थव्यंजना में सहायता दी है और काव्य-सौन्दर्य को भी बढ़ाया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, काव्यलिंग, विशेषोक्ति एवं समासोक्ति आदि अर्थालंकार यथास्थान बड़े सुन्दर दिखायी देते हैं। शब्दालंकार भी यत्र-तत्र मिलते हैं।

उठते हुए मेघ के सम्बन्ध में प्रस्तुत कल्पना बड़ी मनोरम है।

श्री विष्णु भगवान के शरीर के समान नीलवर्ण, बक अर्थात् बगुलों की पंक्ति से सुशोभित और चमकती हुई बिजली के गुणों से पीताम्बरधारी यह मेघ चक्र धारण करने वाले भगवान उपेन्द्र की भाँति उठ रहा है।[1]

उद्दीपन रूप में प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक है।

विट वसन्तसेना से प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन करते हुए कहता है—

देखो-देखो ये धूमिल मेघ पर्वत-शिखरों पर लटकती हुई आकृति वाले तथा वियोगिनी वनिताओं के हृदयों का अनुकरण करने वाले अथवा नैराश्यपूर्ण वियोगनियों का हृदय अधीर करता है जिसके शब्द से अचानक उठने वाले मयूरों के अभिनव ताम्रपत्रों (पंखों) से मानों आकाश को पंखा झला जा रहा हो।[2]

विट के प्रकृतिवर्णन में कवि की पर्यवेक्षण शक्ति भी बड़ी सूक्ष्म है।

कीचड़ से सने हुए मुख वाले मेंढक जलधारा से ताड़ित होकर जल पी रहे हैं। कामार्त मयूर विमुक्त कण्ठ से शब्द कर रहे हैं। कदम्ब विकसित पुष्पों से दीपकों जैसा शोभित हो रहा है। जिस प्रकार तुच्छ मनुष्य उच्चासन आदि को कलंकित कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार मेघों ने चन्द्रमा को घेर लिया है। नीच-कुल में उत्पन्न युवती की भाँति चपला एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती।

---

१. मेघ ... मेघ.। मृच्छकटिक (५-२)

२. गर्जन्ती ... ताम्रपर्णं। मृच्छकटिक (४-१९)

चपलता से एक क्षण में इधर और दूसरे क्षण में उधर दिखायी देती है।[1]

कवि ने तीव्र गति वाले मोटे-मोटे धारा रूपी बाणों की वर्षा करते हुए बादल की सुन्दर कल्पना की है। यहाँ मेघ तथा राजा का वर्णन समान प्रस्तुत किया है[2]।

हाथी के समान काले-काले लटकते तथा गरजते हुए बिजली वाले एवं बक पंक्तियों से परिवेष्टित सघन बादलों से ही वियोगियों के हृदय की पीड़ा अनुभव-गम्य है[3]।

मेघ एवं विद्युत से घिरे आकाश को कवि पर्यंक की भाँति देख रहा है[4]। कवि को मेघ योद्धा होने वाले हाथियों जैसे दिखायी देते हैं। परस्पर आक्रमण करते हुए हाथियों के तुल्य बिजली रूपी रस्सी से परिवेष्टित कमर वाले वर्षा करते हुए बादल देवराज इन्द्र की आज्ञा से चाँदी की रस्सी के समान धाराओं से पृथ्वी को उठा रहे हैं[5]।

इसी प्रकार मेघ वर्षा से कवि गमवासिनी नये हरे हरे अंकुरों वाली पृथ्वी का वर्णन करता है[6]।

चमकतीसेना द्वारा मेघ का दिशाओं को वमन के समान काला बनाते हुए दिग्माला भी बड़ा सुहावना लगता है[7]।

कहीं कहीं प्रकृति वर्णन अलंकारों से बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। प्रस्तुत वर्णन में पूर्वार्द्ध में उपमा तथा उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा का चमत्कार देखने योग्य है।

असाधु पुरुष परस्पर किये गये उपकार की भाँति नष्ट हो गये हैं, दिशायें प्रियतम से वियुक्त स्त्रियों की भाँति सुशोभित नहीं हो रही हैं। इन्द्र के वज्र की अग्नि से अन्दर ही अन्दर तपाया गया यह आकाश लगता है कि पिघल पिघल कर जल रूप में गिर रहा है।[8]

---

१. पद्मिनमुना ॰ प्रतिष्ठते। मृच्छकटिक (५-१४)
२ पवनचपलवेग ॰ घनौ। मृच्छकटिक (५-१७)
३ एतैरेव ॰ प्रपिबत्। मृच्छकटिक (५ १८)
४ बलाका ॰ मर्दुभागमिवाम्बरम्। मृच्छकटिक (५-१९)
५ गते ॰ समुद्धरन्ति। मृच्छकटिक (५-२१)
६ मही ॰ इव। मृच्छकटिक (५ २२)
७ पल्लवीति ॰ समुत्तिष्ठति। मृच्छकटिक (५-२३)
८. मता ॰ पतनम्। मृच्छकटिक (५ २५)

प्रकृति-वर्णन में उपमा दीपक की संसृष्टि वाले अलंकार का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए मेघ का वर्णन वास्तव में सुन्दर है।

यह मेघ प्रथम बार धन पाने वाले मनुष्य की भाँति कभी उमड़ता है, कभी मोटा होता है, कभी बरसता है, कभी गरजता है और कभी बड़ा अन्धकार फैलाकर अनेक रूप धारण कर रहा है अर्थात् यह पहली बार धन पाने वाले मनुष्य की भाँति इतरा कर कौतुक कर रहा है।[१]

वसन्तसेना का विद्युत को यह उपालंभ भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं है।

हे विद्युत! यदि बादल गरजता है तो वह भले गरजे, क्योंकि पुरुष तो निठुर होते ही हैं अतः वे पराई पीर नहीं जानते। परन्तु तू तो स्त्री होकर भी स्त्रियों का दुःख नहीं जानती। यदि तू ही ध्यान नहीं रखेगी तो कौन दूसरा स्त्री जाति से सहानुभूति दिखायेगा।[२]

कवि की पर्यवेक्षण शक्ति सूक्ष्म एवं स्पष्ट है।

प्रियतम की ओर अभिसरण करती हुई वसन्तसेना जलधर की भर्त्सना करते हुए कहती है कि तुम प्रियतम से मिलने जाती हुई मुझको अपने धारा रूपी हाथों से क्यों छूते हो? सज्जन पुरुष कभी किसी स्त्री का स्पर्श नहीं करते परन्तु तुम मुझे भयभीत करके स्पर्श कर रहे हो अतः तुम निर्लज्ज हो।[३]

चन्द्रोदय का वर्णन भी बड़ा मनोरम है। चारुदत्त मैत्रेय से कहता है—

युवतियों के कपोलों के समान उज्ज्वल, नक्षत्रों से घिरे हुए राजपथ को प्रकाशित करने वाला यह चन्द्रमा उदित हो रहा है। घोर अन्धकार में इसकी श्वेत किरणें जलशून्य पंक में दूध की धारा के समान गिर रही हैं।[४]

यहाँ सादृश्यमूलक रूपक एवं उपमा का चमत्कार है।

विट द्वारा किये अन्धकार का वर्णन भी उपमा, उत्प्रेक्षा की संसृष्टि से युक्त है।

प्रकाश में विस्तृत मेरी दृष्टि सहसा अन्धकार में प्रवेश करने से विकिरत हो गयी है और मेरी खुली हुई दृष्टि भी अन्धकार से अन्ध सी हो रही है। यह अन्धकार अंगों को लिप्त कर रहा है। आकाश मानों अंजन की वर्षा कर

१. उन्नमति ·· ·· रूपाण्यनेकानि। मृच्छकटिक (५-२१)
२. यदि गर्जति ······ न जानासि। मृच्छकटिक (५-१२)
३. जलधर ······ परामृशसि। मृ० क० (५-२८)
४. उदयति ······ पतन्ति। मृ० क० (१-५७)

रहा है। मदमत्त पुरुष की सेवा की भाँति मेरी दृष्टि इस अन्धकार में निष्फल हो रही है अर्थात् कुछ नहीं देख पाती।[1]

मृच्छकटिक के प्राकृतिक दृश्य मनोहर एवं सुन्दर अवश्य हैं, पर उनमें बाह्य प्रकृति के साथ मानव-प्रकृति का सच्चा तादात्म्य नहीं है।

मृच्छकटिक में ध्वनि-प्रसंग

दृश्य काव्य होने के नाते मृच्छकटिक प्रकरण में ध्वनि के उदाहरण यद्यपि कम हैं, फिर भी यथावसर उपयुक्त एवं सुन्दर हैं। आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वनि के तीन मुख्य भेद रस, वस्तु तथा अलङ्कार प्रदर्शित किये गए हैं। इनमें निम्न उदाहरण वस्तु-ध्वनि के हैं—

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः
क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम्।
नरपतिबले पार्श्वायाते स्थितं गृहदारुवद्
व्यवसितशतैरेवं सर्वैर्निशा दिवसीकृता॥ मृ० क० (४–१)

शर्विलक कहता है कि मैंने मदनिका के कारण चोरी की। किसी और घर में इसलिये चोरी का विचार नहीं किया कि उस घर के परिवार के सदस्य आपस में बातचीत कर रहे थे और किसी घर को इसलिए भी छोड़ दिया कि उसमें केवल नारियाँ ही थीं। कभी राजरक्षक के समीप में आ जाने से घर में लगे हुए [illegible] के समान निस्तब्ध होकर खड़ा हो गया। इस प्रकार सैकड़ों कार्यों से मैंने रात्रि को दिन बना दिया अर्थात् रात जागते ही जागते बिता दी। शर्विलक के इस कथन में वस्तुध्वनि है।

वसन्तसेना ने वर्षा के कृत्रिम वर्णन में विट से कहा है—

एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः
प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः।
हंसैरुज्झितपङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः
कुर्वन्नञ्जनमेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति॥

मृ० क० (५–२१)

बादल दिशाओं को काजल के समान काला करता हुआ उमड़ रहा है जो 'आओ आओ' ऐसी मोर ध्वनियों से भली प्रकार बुलाया गया है, बगुलियों की पंक्तियों के द्वारा वेगपूर्वक उड़ कर मानो उत्कण्ठापूर्वक आलिंगन किया

---

१ लिम्पतीव— [illegible]। मृ० क० (१–३४)

गया है तथा कमलों को त्याग देने वाले हंसों के द्वारा अत्यन्त अभिव्यक्त कर दिया गया है अर्थात् वर्षाकालीन मेघ को देखकर मोर और पपीहे तो प्रसन्न होते हैं, किन्तु हंस अत्यन्त विषादी होते हैं फिर भी वायस स्वच्छन्दता से मंडरा रहे हैं। यहाँ शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि है।

मृच्छकटिक में वक्रोक्ति

आचार्य कुन्तक के द्वारा वक्रोक्ति का सुन्दर विवेचन किया गया है। इनके विचार से यह अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन है। इसे वैदग्ध्यभंगीभणिति कहते हैं। वक्रोक्ति मुख्य रूप से पाँच प्रकार की है—वर्णवक्रता, पदवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रबन्धवक्रता। मृच्छकटिक में ऐसी उक्तियाँ कम हैं। चारुदत्त रेभिल के सुन्दर गान की प्रशंसा करते हुए कहता है—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥ मृ० क० (३-३)

(वीणा) उत्कण्ठित मनुष्य के लिए मनोनुकूल मित्र है। निश्चित स्थान पर प्रिय प्रेमी के आने में विलम्ब होने पर मनबहलाव का यह उत्तम साधन है। वियोग से संतप्त जन को धैर्य-स्थिति के लिये प्रेयसी के तुल्य है और अनुरागियों में प्रेम बढ़ाने के लिए यह सुखकर वस्तु है। यहाँ शोभाविधायक वैचित्र्यपूर्ण कथन में वक्रोक्ति है।

वसन्तसेना का शकार के प्रति निम्न कथन भी इसका सुन्दर उदाहरण है—

दीनेऽपि दैवहतके पुरुषे कुलशीलवति यतितव्यम् ।
शोभा हि पण्यस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥
मृ० क० (८-११)

जदि अ सहआरपादवं सेविअ ण पलासपादवं अंगीकरिस्सं।[1]

कुलवान् एवं सदाचारवान् पुरुष के निर्धन होने पर भी उसकी सेवा यत्नपूर्वक करनी चाहिए। समान गुणवाले पुरुष से समागम होने पर पतन वेश्याओं के लिए शोभाजनक है। और भी आम्र वृक्ष की सेवा करके पलाश वृक्ष को मैं स्वीकार नहीं करूँगी।

---

१. यदि च। सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि।

वसन्तसेना की उक्ति निश्चय ही वैचित्र्यपूर्ण है अत वक्रोक्ति का यह समीचीन उदाहरण है।

मृच्छकटिक में वृत्तियो का औचित्य

मृच्छकटिक में भारती, सात्वती कैशिकी एव आरभटी वृत्तियों का यथास्थान समुचित प्रयोग है। भारती वृत्ति का वाचिक व्यापार से सम्बन्ध है अत समस्त भव्य काव्य इसी में अन्तर्भूत होते हैं। इसका सभी रसों के साथ प्रयोग होता है। करुण एव अद्भुत उसमें प्रधान है। इस वृत्ति के चार अग है—प्ररोचना, वीथि, प्रहसन और आमुख। इनका भी मृच्छकटिक में समुचित समन्वय है।

इसके अतिरिक्त सात्वती वृत्ति में वीररस पूर्ण चेष्टायें होती है। वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों का इसमें समन्वय होता है। शर्विलक की चेष्टायें इसके अनुकूल है।

वृत्तियो के दो रूप . कैशिकी तथा उपनागरिका एव आनन्दवर्धन का एतत् सम्बन्धी मत

कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति केश शब्द से स्पष्ट ज्ञात होती है। भरतमुनि न इस वृत्ति का सम्बन्ध भगवान् विष्णु के द्वारा केशपाश बाँधने से दिखाया है। मधुकैटभ युद्ध में भगवान् विष्णु ने इन दोनों असुरों से युद्ध करने के लिये जो अपना केशपाश बाँधा उसी से कैशिकी वृत्ति आविर्भूत हुई। भरत ने इस सम्बन्ध में कहा है कि जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य के विधान से चित्रित हो, सुन्दर वेश-भूषा से सुसज्जित हो, स्त्रियों से युक्त हो, जिसमे नाचने तथा गाने की बहुलता हो उसे काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से सम्पन्न होने के कारण कैशिकी नाम से पुकारा जाता है। इसके चार भेद है—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ।

वाच्य-वाचकभाव युक्त काव्यरचना के ज्ञात होने पर प्रसिद्ध उपनागरिका इत्यादि शब्दतत्त्व वृत्तियाँ और अर्थतत्त्व से सम्बद्ध कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ समुचित रूप से रीति पदवी पर अवतीर्ण होती है।

कैशिकी वृत्ति कोमल वर्णन में प्रयुक्त होती है। इसका आश्रय अर्थतत्त्व होता है। दूसरी उपनागरिका वृत्ति का आश्रय शब्दतत्त्व होता है। वृत्तियों के विषय में अलङ्कारकारियों की मान्यता के अनुसार अनुप्रास जाति को ही वृत्ति कहते है। अनुप्रास तीन प्रकार का होता है। इसी आधार पर तीन वृत्तियों की कल्पना की गयी है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। आनन्दवर्धन ने भरत

की वृत्तियों का भी पूरा ज्ञान है। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों की व्यवस्था तथा समन्वय उन्होंने इस प्रकार किया है कि भरत की कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ अपांगत और उद्भट की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ शब्दगत हैं। यहाँ पर अभिप्राय का आशय यही है कि वृत्तियाँ रसाभिव्यक्ति और रसानुभूति की साधन मात्र हैं। अत: इनकी मान्यता ध्वनि-सिद्धान्त में एक प्रमाण है। उपनागरिका का अर्थ नगरनिवासिनी ललना का अनुकरण करने वाली वृत्ति है। जिस प्रकार ऐसी ललना अपने सौकुमार्य के लिये प्रसिद्ध होती है उसी प्रकार अनुप्रास की उपनागरिका नामक वृत्ति भी श्रृङ्गार रस में विश्रान्त होती है।[1]

मृच्छकटिक में कैशिकी वृत्ति, माधुर्य गुण एवं कोमल रसों का विवेचन

मृच्छकटिक शृङ्गाररसप्रधान प्रकरण है। यहाँ मुख्य रूप से कैशिकी वृत्ति का प्रयोग पाया जाता है। हास्य रस का इसमें संयोग रहता है। यह कोमल वृत्ति है और इसमें नृत्य, गीत, विलास आदि शृंगार चेष्टायें हुआ करती हैं। इसमें माधुर्य गुण का पुट रहता है। मृच्छकटिक के प्रथम अंक में वसन्तसेना नायिका का ऐसा ही वर्णन किया गया है। तृतीय अंक में संगीत का रोचक वर्णन है। चतुर्थ में चित्रवेदी और पंचम में कामभोग से सम्बद्ध क्रिया-कलापों का प्रदर्शन है। अन्तिम अंकों में कामफल की प्राप्ति हो दिखायी गयी है। यही सब देखते हुए स्पष्ट है कि यहाँ कैशिकी वृत्ति की प्रधानता है।

मृच्छकटिक में आरभटी वृत्ति, ओज गुण अथवा कठोर रसों का विवेचन

आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति आरभट शब्द से हुई है। जिसका अर्थ है साहसी एवं उद्धत पुरुष। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का निर्देश भली-भाँति हो जाता है। इसकी परिभाषा के विषय में नाट्यशास्त्र में लिखा है कि जिस वृत्ति में माया-कल्पित इन्द्रजाल का वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने तथा लाँघने आदि की विविध योजना हो उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—संक्षिप्तक, अवपातक, वस्तूत्थापन तथा संफेट।

इस वृत्ति में ओजगुण प्रधान होता है। भयानक, रौद्र एवं बीभत्स रस होने से इस वृत्ति में कठोरता स्पष्ट ही है। महाकालीमा-मोटन में आरभटी वृत्ति का

---

1. आनन्दवर्धनाचार्य—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, व्याख्याता : डा० रामसागर त्रिपाठी।

सम्यक् विवेचन है। यहाँ क्रोध, भय आदि उग्र भावों का प्रदर्शन शकार की ओर से हुआ है उसकी चेष्टायें उग्र व्यापार एवं उग्र आंगिक अभिनय सर्वथा इस वृत्ति के अनुकूल हैं। वसन्तसेना-मोटन में रौद्र तथा बीभत्स रस होने से आरभटी वृत्ति का औचित्य है।

मृच्छकटिक के नाट्य दोषों का विवरण

मृच्छकटिक की कथा ऐसी है जिसमें प्रेमियों की चर्चा है, साथ ही राजनैतिक क्रान्ति का उसमें विवेचन है। यह राजनीतिप्रेमियों की कहानी का आधार बनकर रह गयी है और एक प्रकार से कथावस्तु का अंग है। इसमें मृच्छकटिककार ने यद्यपि पूर्ण सफल प्रयास नाटक को सफल बनाने का किया है, फिर भी उसमें कुछ दोष डा० राइडर जैसे आलोचकों ने प्रस्तुत किये हैं। इनका संकेत है कि प्रकरण के उपकथानकों द्वारा कथानक के सौन्दर्य का ह्रास हुआ है। डा० वी० वी० परांजपे कहते हैं —

"Notwithstanding the high encomium passed by Wilson on the unity of interest in the M K, it has been asserted by some critics that the underplot appears to be a mere overgrowth on the body of the play and mars its beauty."[1]

डा० राइडर के विचार से प्रस्तुत प्रकरण की कथावस्तु भी दोषयुक्त है क्योंकि वह परस्पर संश्लिष्ट नहीं है, इसके सम्बन्ध में भी डा० वी० वी० परांजपे ने कहा है।

"The main action halts through acts II—V and during these episodic acts we almost forget that the main plot concerns the love of Vasant and Charu Indeed we have in "The Little Clay Cart" the material for two plays The large part of act I forms with VI-X a consistent and ingenious plot, while the remainder of act I might be combined with acts III-IV to make a pleasing comedy of lighter tone. The second act clear as it is, has little real connection with the main plot or with the story of the gems."[2]

---

१. V G Paranjpe Mrichhakatikam, p XXXIII.

२. V G Paranjpe Mrichhakatikam, p XXXIV

इन बातों के अतिरिक्त प्रकरण में कथोपकथन, दृश्यों के विभाजन, चरित्र-चित्रण, वेशभूषा एवं काव्यमय शैली आदि पर भी समालोचकों ने कीचड़ उछाला है। डा० जी० के० भट ने डा० राइडर को उद्धृत करते हुए कहा है—

Dr Ryder, whose short Introduction to the Englub translation of the play is inimitable in its comprehensiveness, accuracy of literary judgement and the charm of expression has made a few observations about the construction and characterization of the play that have evoked much disagreement. It is said, for instance that the play is too long As a drama the length of Mrichhakatika is certainly a factor of serious consideration for a modern or western reader

But it is more pertinent to ask whether the length of the play has affected its dramatic construction.[१]

कालक्रम के विषय में डा० वी० वी० पराञ्जपे का कहना है।

'The Chronology is not very perspicuous, so that the incidents that occur in the course of only five days appear to occupy a far longer period "[२]

सोपान विश्लेषण

नाट्यशास्त्र के विचार से रूपक में पात्र और रसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथावस्तु कितनी ही सुन्दर हो, पर जब तक पात्रों का चरित्र-चित्रण और रस का परिपाक सम्यक् न हो तब तक रूपक सुव्यवस्थित नहीं होता। इस दृष्टि से मृच्छकटिक में कोई दोष दिखायी नहीं देता। इसका अंगीरस सम्भोग शृंगार है जिसका परिपाक वियोग के द्वारा हुआ है। वैसे सम्पूर्ण प्रकरण में करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, बीभत्स, रौद्र आदि रसों का यथावसर सुन्दर समन्वय है। अलङ्कार, गुण एवं रीति के विचार से भी यह प्रकरण सर्वथा उचित है। वक्रोक्ति एवं ध्वनि का भी इसमें यथास्थान सुन्दर प्रकाशन हुआ है।

वृत्तियों का विवेचन तो इसमें इतना स्पष्ट और स्वाभाविक है कि कहते नहीं बनता। सभी वृत्तियों के यथास्थान परिलक्षित होने पर भी कैशिकी वृत्ति

---

१. Dr G K. Bhat : Preface to Mrichhakatika, p. 153.

२ V. G Paranjpe : Mrichhakatikam, p XXXIX.

को प्राप्त किया था। भगवान् शंकर में उनकी अगाध श्रद्धा थी, पर इसका आशय यह नहीं है कि वह विष्णु एवं अन्य देवी-देवताओं में विश्वास नहीं रखते थे।

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो,
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः ।
आभाति संहतबलाकगृहीतशङ्खः,
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥ मृ० क० (५-२)
केशवगात्रश्यामः कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः ।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः ॥ मृ० क० (५-३)

इन श्लोकों से यह निश्चित है कि वह भगवान् विष्णु के भी भक्त थे। प्रथम अंक में चारुदत्त के मुख से देवपूजा का भी गौरव प्रकट किया गया है। फिर दशम अंक में चारुदत्त के ऊपर उठाये हुए खड्ग के गिर जाने से चाण्डाल ने दाक्षिणात्य होने के नाते सह्यवासिनी देवी के नाम से स्मरण किया है—

इन सब आधारों पर यह निश्चित है कि वे वैदिक धर्म में सनातन धर्म के अनुयायी थे। उनमें शैव और वैष्णव विचारों का समन्वय था। धर्मों को वह पूज्य दृष्टि से देखते थे। बौद्धधर्म का भी उनकी दृष्टि में सम्मान था। वर्णाश्रमधर्म में भी उनका पूर्ण विश्वास था।

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसम्पन्नसस्या
पर्जन्यः कालवर्षी सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः ।
मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥
मृ० क० (१०-६१)

प्रस्तुत भरतवाक्य में यह विचार किया गया है कि ब्राह्मण सदाचारी हों और राजा धर्मनिष्ठ हों। कर्म के भोगों पर भी उनका अटूट विश्वास था।

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥
मृ० क० (१०-६०)

अर्थात् विधाता किसी को कूपयन्त्र (रहट) के पात्रों के अनुसार ऊपर-नीचे ले जाते हुए तुच्छ बनाता है तो किसी को सम्पन्न कर देता है। किसी को उन्नति की ओर ले जाता है तो किसी का पतन करता है और किन्हीं को तो व्याकुल किये रहता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी आचरणों से संसार की अवस्था का बोध कराता हुआ वह मनुष्य के जीवन से खिलवाड़ करता है। इस श्लोक से मृच्छकटिककार की अन्य मान्यताओं और विश्वासों की भी झलक मिलती है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक में वैदिक देवता इन्द्र और रुद्र की चर्चा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, रवि और चन्द्र का भी यथास्थान उल्लेख है। शुम्भ-निशुम्भ का विनाश करने वाली देवी की भी आराधना की गयी है। षडानन कार्तिकेय सेंध लगाने वाले चोरों के देवता कहे गये हैं तथा क्रौंच पर्वत का भेदन करने वाले बतलाये गये हैं। सह्यवासिनी के रूप में दक्षिण में देवी की पूजा की चर्चा है। नगर-देवता का भी उल्लेख मिलता है। देवमूर्तियाँ काठ अथवा पत्थर की होती थीं। घरों में भी देवमूर्तियों की पूजा सम्भवतः की जाती थी, क्योंकि वसन्तसेना के घर में दैनिक अर्चन के लिए ब्राह्मण का उल्लेख है। घर की देहली अथवा नगर के चौराहे पर मातृदेवियों तथा अन्य देवी-देवताओं को बलि अथवा उपहार चढ़ाने की प्रथा थी। सब प्रकार के कृत्यों से पूर्व देवी-देवताओं का ध्यान किया जाता था। यह बात न केवल मांगलिक कार्यों के लिये थी, वरन् चोरी जैसे कुकृत्य से पूर्व भी चोरों के देवता का ध्यान करना आवश्यक था। पुनर्जन्म तथा कार्य-सिद्धान्त में सामान्य विश्वास था। चारुदत्त जैसा धर्मनिष्ठ व्यक्ति ही नहीं, वरन् विट तथा स्थावरक जैसे पात्र भी, इस जन्म में बुरा कर्म करने से डरते थे। यह विश्वास था कि इसका दुष्परिणाम अगले जन्म में भोगना पड़ेगा। परलोक में स्थित पितरों की सन्तुष्टि प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य माना जाता था और उनकी प्रसन्नता के लिए पुत्रजन्म का विशिष्ट महत्त्व समझा जाता था। धार्मिक आस्था पूर्ण रूप से तो नहीं, वरन् सामान्यतः दुष्कर्मों की ओर से रोकथाम अवश्य करती थी।

(ख) वैदिक धर्म

मृच्छकटिक के समय वैदिक धर्म में श्रद्धा थी। पञ्चमहायज्ञ (देवपूजा, यज्ञ, अतिथिसम्मान, तर्पण, बलि) व्रत, उपवास, दान और तप में जनता का पूर्ण विश्वास था। ये धार्मिक कृत्य उनके जीवन के अंग थे। प्रकरण का सूत्रपात ही

धार्मिक विषय को लेकर हुआ है। सूत्रधार ने तो नटी द्वारा किये हुए अभिरूपपति नामक उपवास पर कुछ रोष सा प्रकट किया है—'पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जमिस्सा अत्तपरिव्वएण पारलोइओ भत्ता अण्णेसी' आदि। अर्थात् सज्जनो ! देखिये देखिये मेरे भात के व्ययस्वरूप पारलौकिक पति ढूँढा जा रहा है—पर इसका आशय यह नहीं है कि सूत्रधार इस व्रत के प्रति उदासीन है। नटी द्वारा व्रत के आशय को समझकर वह कहता है—'अहो गच्छदु भअवा। अहंपि अम्हारिसजणजोग्ग बह्मणं उवणिमन्तेमि' अर्थात् आर्य तुम जाओ। मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमंत्रित करता हूँ। आगे चारुदत्त और विदूषक में इसी सम्बन्ध में पारस्परिक विरोधपूर्ण बात चलती है। प्रथम अंक में चारुदत्त विदूषक से चौराहे पर मातृदेवियों को बलि भेंट करने को कहता है—'वयस्य कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर'।

जब विदूषक जाने के लिए निषेध करता है तो चारुदत्त कहता है 'नहीं, ऐसा नहीं, यह तो गृहस्थ का नैत्यिक काम है'—

तपसा मनसा वाग्भि पूजिता बलिकर्मभि ।
तुष्यन्ति शमिना नित्य देवता किं विचारितैः ॥ मृ०क०(१-१६)

अर्थात् तप, मन, वचन एवं बलिकर्मों द्वारा पूजित देवता शान्तचित्त वाले पुरुषों से सदैव सन्तुष्ट रहते हैं। चारुदत्त का सन्ध्योपासन और सूर्यपूजा भी उसके धार्मिक कृत्य के प्रतीक हैं। द्वितीय अंक के आरम्भ में वसन्तसेना चेटी से कहती है कि मैं आज स्नान नहीं करूँगी अतः ब्राह्मणदेव ही पूजा कार्य करें। 'चेटि ! विज्ञापय मातरम् अद्य न स्नास्यामि। तद् ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु'। ऐसा लगता है कि वसन्तसेना के घर दैनिक पूजा के लिये ब्राह्मण नियुक्त था। कामदेवायतनोद्यान का उत्सव भी देवपूजा का प्रतीक है।

मूर्तिपूजा इस समय प्रचलित थी। ये मूर्तियाँ उत्तम पत्थर और लकड़ी की होती थी। अभिरूपपति उपवास की भाँति धूता द्वारा सम्पादित रत्नषष्ठी व्रत के सम्बन्ध में तृतीय अंक में चर्चा है। व्रत के नाम के अनुसार रत्नमाला इस उपवास में ब्राह्मण को भेंट करते हुए वह कहती है—"अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम्। तत्र यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहयितव्य । स च न प्रतिग्राहित । तत्कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम्।" इन व्रत उपवासों में ब्रह्मभोज होने से और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणाएँ देकर सन्तुष्ट किया जाता था। अष्टम अंक में अपशकुन से विट का हृदय भी काँप उठता है। वसन्तसेना के वध के घोरस्वरूप अधर्म्य कार्य से वह शुभकामना करता हुआ कहता है'—

अये ! आर्य एव चारुदत्तो निष्क्रान्तः अनेन च पत्नी रनी प्रसादिता। भोः पाप किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया। तथापि पापिनः फलतास्त्वीयप्रसंगे-नातीतपतित्व भवत्। अनिमित्तमेतत्। यत्सत्यं वसन्तसेना प्रति शङ्कित मे मनः। सर्वथा देवता स्वस्ति करिष्यन्ति।

इस भाँति सभी पात्र अपने-अपने श्रद्धा और विश्वास के अनुसार अभीष्ट देवताओं की उपासना में लीन हैं। अनेक प्रकार के यज्ञ भी उस समय होते थे। दशम अंक में शकारदत्त के अमात्य चाण्डालों से घिरा हुआ चारुदत्त कहता है।—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे।
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम मरणदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥ मृ० क० (१०-१२)

अर्थात् सैकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा वंश पहले सभाओं में मनुष्यों से घिरी यज्ञशाला की वेदध्वनियों से प्रकाशित हुआ था वही अब मृत्युकाल में पापी एवं अयोग्यजनों द्वारा अपराधरूप घोषित किया जा रहा है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय समाज में यज्ञों का समारोह होता था। उस समय के पुरस्कारण विहार, आराम, देवालय, तडागकूप निर्माण आदि धार्मिक मनोवृत्ति के द्योतक हैं। अयोग्य व्यक्तियों द्वारा सन्यास ग्रहण कर लेने से संन्यास के प्रति अच्छी आस्था न थी। पंचम अंक में विट की वसन्तसेना के प्रति निम्न उक्ति से इसका निश्चय होता है—

उत्पातः कुकृष्णपर्णीरिव धर्ममिर्मूढचन्द्रमा.। मृ० क० (५-१४)
अर्थात् बादलों द्वारा चन्द्रमा उसी प्रकार दूषित कर दिया गया है जिस प्रकार कुल को दूषित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास कलंकित कर दिया जाता है। देवी-देवताओं में जनसमुदाय का विश्वास था। छठे अंक में चन्दनक आर्यक से कहता है—

अभयं तुह देउ हरो विण्हू बम्हा रवी अ चन्दो अ।
हणुअ सत्तुवक्खं सुम्भणिसुम्भेअथा देवी॥[1] मृ० क० (६-२७)
अर्थात् शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा शत्रुपक्ष को मारकर तुम्हें उसी प्रकार अभय प्रदान करें जिस प्रकार शुम्भ और निशुम्भ को मारकर दुर्गा देवी ने देवताओं को अभय प्रदान किया था।

---

१ अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मारविश्च।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी॥

दशम अंक में दोनों चाण्डालों की निम्न उक्ति से ज्ञात होता है कि इन्द्र की भी उपासना प्रचलित थी।

इन्देप्पवाहिअन्ते गोप्पसवे संकमे अ ताडाणम्।
सुपुलिसपाणविपत्ती चत्तालि इमेण दट्ठव्वा[1] ॥ मृ० क० (१०-७)

निष्कर्ष

वैदिक धर्म को दृष्टि में रखते हुए यह कहना उचित होगा कि इस युग में प्राचीन धर्म का रूप परिवर्तित था। पहले सूर्य, चन्द्रमा, जल, अग्नि इत्यादि का मन्त्रों द्वारा उपासक स्तुतिगान करते थे पर अब इनके साथ-साथ औरों की भी देवतास्वरूप में उपासना होने लगी थी और वह भी मन्दिरों में प्रतिमा के रूप में। वसन्तसेना के यहाँ अपने घर पर एक मन्दिर था। फिर चारुदत्त का योगदान तो कई मन्दिरों के निर्माण में था। डा० जी० के० भट का विचार है[2]—

"The play represents a state of religion in which the older forms of Brahmanical religion still continued to exist while the newer forms of the popular Hinduism were becoming increasingly preponderant It is rather a mixed state"

(ग) बौद्ध धर्म

जहाँ एक ओर वैदिक धर्म अपनी चरम सीमा पर था वहाँ बौद्ध धर्म भी सामान्य रूप से समाज में प्रचलित था। मृच्छकटिक में बौद्धधर्मी संवाहक बौद्ध भिक्षु के रूप में उत्तम पात्र है। भिक्षु के लिये कहीं कहीं श्रमणक अथवा परिव्राजक शब्द का भी प्रयोग किया गया है। स्त्रियाँ भी बौद्ध होती थीं। अष्टम अंक के अन्त में भिक्षु वसन्तसेना को अपने साथ विहार ले जाते हुए भिक्षुणी के विषय में कहता है—'एदस्सिं विहाले मम धम्मबहिणि अचिट्ठदि, तहिं समदलागिरमणा भविअ उवासिआ गेहं गमिस्सदि' अर्थात् इस विहार में मेरी धर्म बहिन रहती है, धैर्य धारण कर उस उपासिका के घर चलो। ऐसा कहकर भिक्षु ने बौद्ध धर्म का आदर्श स्थापित किया है।

---

१ इन्द्र प्रवाह्यमाणो गोप्रसव संक्रमश्च ताराणाम्।
सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वारि इमे न द्रष्टव्या ॥

२ G K Bhat Mrichhakatika, p 197

'होराम्म अज्जा। बोसम्मवएसा तरुणी दरिसिया एषो भिक्खुत्ति गुंडे मम एषे धम्मे।' अर्थात् आर्ये चौस्म चलो, चौस्म चलो, यह युवती स्त्री है, यह भिक्षुक कामरहित निर्दोष है, क्या दिखाना मेरा धर्म है।

बौद्धधर्म यद्यपि अब कुछ आचार सम्बन्धी दोष आ जाने से पतन की ओर अग्रसर हो चला था, फिर भी उसमें प्राय भिक्षु इन्द्रियवशवर्ती और तपस्वी होते थे। अष्टम अंक के अन्त में भिक्षु ने कहा है —

हत्थसंजदो मुहसंजदो
इन्दिअ संजदो षो क्खु माणुसे।
किं कलेदि लाअउले तस्स पलकोले हत्थे णिच्चले ॥[1]

मृ० क० (८-४७)

अर्थात् वही वास्तव में मनुष्य है जो हाथों से संयमी है। मुख से संयम रखता है तथा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखता है। राजकुल उसे हानि नहीं पहुँचा सकता। परलोक तो निश्चित रूप से उसके हाथ में है। इतना सब कुछ होते हुए भी समाज उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता था। यहाँ तक कि लोग बौद्ध भिक्षु के दर्शन को अपशकुन समझने लगे थे। आर्यक को मुक्त करने के पश्चात् जीर्णोद्यान से जाते समय जब चारुदत्त के सामने भिक्षु आता है तो चारुदत्त उसके दर्शन को अपशकुन समझकर कह उठता है—'कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्'। कुछ लोग समाज में सिरमुँडे भिक्षु के रूप में रहते थे, पर सांसारिक वासनाओं से उनकी विरक्ति न थी अतः ऐसों की ओर संकेत करके कहा गया है—

शिलमुण्डिद तुण्ड मुण्डिदे चित्तणमुण्डिद कीश मुण्डिदे।
जाह उणअ चित्त मुण्डिदे साहु शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे ॥[2]

मृ० क० (८-३)

अर्थात् सिर मुँडा लिया, मुख मुँडा लिया किन्तु मन नहीं मुँडाया तो यह मुँडाना किस काम का। फिर जिसका मन भलीभाँति मुँड गया उसका सिर अच्छी भाँति मुँड गया। बौद्ध भिक्षुओं का निवास उस समय विहारों में होता था। कुछ महिलायें भी वहाँ बौद्ध धर्म ग्रहण करके भिक्षुणियों के रूप में रहती थी। उस

---

१. हस्तसंयतो मुखसंयतः इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्य।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चल ॥ (सं० अनु०)

२. शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किं मुण्डितम्।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥ (सं० अनु०)

९

समय अनेक मठ थे एवं कई विहार भी थे। विहारों का एक कुलपति होता था। प्रथम अंक में वसन्तसेना के प्राण बचाने के उपलक्ष्य में चारुदत्त ने भिक्षु से कहा— 'तत्पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्।' राजा का विहारों पर नियन्त्रण था। भिक्षु अपने धार्मिक प्रवचनों में निम्न उक्तियों को दुहराते थे।

सञ्ञमध णिअपोट्टं णिच्चं जग्गेध झाणपडहेण।
विसमा इन्दिअचोला हलन्ति चिलसंचिदं धम्मं ॥[1]

मृ० क० (८-१)

अर्थात् अपने उदर को संयत करो, ध्यानरूपी नगाड़े से सदा जागते रहो, क्योंकि ये इन्द्रियरूपी चोर भयंकर हैं और बहुत समय से संचित धर्म को हर लेते हैं। फिर—

पञ्चजण जेण मालिदा इत्थिअं मालिअ गाम लक्खिदे।
अबले अ चण्डाल मालिदे अवस्सं सो णल सग्गं गाहदि ॥[2]

मृ० क० (८-२)

अर्थात् जिसने पाँचों इन्द्रियों को मार दिया, अविद्या रूपी स्त्री को मारकर शरीर रूपी ग्राम की रक्षा करली तथा दुर्बल चाण्डाल अहंकार का नाश कर दिया वह मनुष्य अवश्य स्वर्ग प्राप्त करता है।

डा० वी० जी० परांजपे ने इस सम्बन्ध में अपनी मृच्छकटिक में उद्धृत किया है —

Kings and princes thus appear to have patronized the followers of both the religions and in none of the inscriptions is there an indication of an open hostility between them.[3]

(History of the Decan)

निष्कर्ष

बौद्ध धर्म के नियमानुसार भिक्षु अथवा श्रमण बनने के लिए जाति, आयु अथवा सामाजिक स्तर का प्रतिबन्ध नहीं था। उदाहरणस्वरूप संवाहक श्रमण

---

१. संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम् ॥ (सं० अनु०)

२. पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः।
अबलश्च चाण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥ (सं० अनु०)

३. Dr. V. G Paranjpe Mricchakatikam, p 104.

बन गया था। स्त्रियाँ भी भिक्षुणी बन जाती थीं। भिक्षु अथवा भिक्षुणी की स्थिति में जीवन के सभी लौकिक सम्बन्धों तथा आनन्दों का परित्याग करना होता था। ये धर्मग्रन्थों का पाठ करते थे और स्वर्गप्राप्ति की कामना से अनुप्राणित रहते थे। प्रत्येक नगर में मठ अथवा विहार होते थे। इन विहारों पर राजा का नियन्त्रण रहता था।

(घ) वर्णव्यवस्था एवं ब्राह्मण जाति

यद्यपि वर्णव्यवस्था जाति से एवं कर्म से दो प्रकार की मानी गयी है पर यह निश्चित है कि आरम्भ में कर्म से यह व्यवस्था प्रचलित थी। बाद में जातिगत व्यवस्था दृढ़ होती गयी। ब्राह्मणों का कार्य यज्ञ कराना, पढ़ना-पढ़ाना एवम् दान देना और दान लेना था। एक लम्बी परम्परा इसी प्रकार चलती रही और धीरे-धीरे कर्म के आधार पर कहलाने वाला ब्राह्मण-समुदाय ब्राह्मण जाति के रूप में परिवर्तित हो गया। यही बात अन्य कर्मों पर आश्रित अन्य जातियों के सम्बन्ध में भी रही। परन्तु कभी इसमें अपवाद भी प्रारम्भ हुए, जैसे ब्राह्मणों में भी वैश्यों जैसी भावनायें आयीं और अन्य जातियों में भी अपने मुख्य कार्यों को छोड़कर अन्य कार्यों का आश्रय दिखायी देने लगा। संस्कारों की हीनता प्रकट होने लगी। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि अन्य कारणों के साथ-साथ असम्बद्ध विवाह भी वर्णव्यवस्था को दूषित करने वाले सिद्ध हुए।[1] यद्यपि मनुस्मृति में इस विषय में कुछ शैथिल्य दिखाया गया है, पर उसका निर्वाह उचित रूप में ही यह नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मणों के लिये एवं अन्य वर्णों के लिये अपने से हीन वर्ण की कन्या मनु के अनुसार ग्राह्य मानी गयी है, पर इसी रूप में सर्वथा इसका पालन हुआ हो यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता। फिर इस रूप में भी भिन्न वर्ग की कन्या के भिन्न संस्कार होने से उन्नतवर्ण के सम्मानित व्यक्ति के सम्पर्क में आने से उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान में उसके हीन कर्मों की झलक सर्वथा मिट जाती हो—यह एक विचारणीय बात है। फिर इस सम्बन्ध में मनु[2] ने जिन विवाह-सम्बन्धों को

---

१ शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ (मनुस्मृति अ० ३ श्लोक १३)

२. महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ (मनुस्मृति अ० ३ श्लोक ६-७)

दोषपूर्ण बताया है उनका भी समाज में कितना ध्यान रखा होगा। यही कारण है जिससे यह दोष बढ़ते गये और आज भी हमारे सामने बड़े-बड़े रूप में हैं।

मृच्छकटिक के रचनाकाल में एक ओर हिन्दुओं में ब्राह्मणों का अपने कर्मों में यदि औचित्य दिखाया गया है तो दूसरी ओर शिथिलता के भी उदाहरण मिलते हैं। बौद्ध धर्म के प्रभाव से कभी-कभी जातीयता की अपेक्षा मानवगुणों को प्राधान्य दिया गया है। दशम अंक में चाण्डालों की निम्न उक्ति से यह ज्ञात होता है कि वे चाण्डाल का कर्म करते हुए भी स्वयं को चाण्डाल नहीं मानते।

ण हु अम्हे चाण्डाला चाण्डालकुलम्मि जादपुव्वा वि।
जे अहिभवन्ति साहुं ते पावा ते अ चाण्डाला॥[1] मृ०क० (१०-२२)

मृच्छकटिक काल में वर्णव्यवस्था सुदृढ़ न थी पर इस सम्बन्ध में यह निश्चित है कि बाह्यरूप से प्रत्येक वर्ण एक जातिगत रूप को धारण कर चुका था और कहीं कहीं तो यह जाति अनेक उपजातियों में विभक्त हो चुकी थी। इस सम्बन्ध में शूद्र जाति उल्लेखनीय है। यह वर्ण अपने सेवाकार्यों के अनुसार अनेक नामों से विख्यात था। अपने-अपने कार्यों के अनुरूप शूद्र होते हुए भी वे पृथक्-पृथक् उपजातियों में विभक्त थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अतिरिक्त चाण्डालों का भी एक वर्ग था जिसको पंचमवर्ग कहा जाये तो अनुचित न होगा। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। वे अपने कार्यों का सम्पादन तो करते ही थे अन्य वर्णों के कार्यों में भी कहीं-कहीं बड़े कुशल देखे गये। जैसे व्यावसायिक कार्यों में चारुदत्त के पूर्वजों की चर्चा की जाती है। यही बात अन्य वर्णों में भी सम्भवत रही। वैश्य व्यापारिक कार्यों के सम्बन्ध में न केवल स्वदेश में, वरन् विदेशों में भी भ्रमण करते थे। रेभिल नामक पात्र उज्जयिनी का एक व्यापारी और चारुदत्त का मित्र तथा एक विशिष्ट गायक भी था। क्षत्रियों का मृच्छकटिक में उल्लेख नहीं है। सम्भवत वे सैनिक कार्यों में भाग लेने वाले व्यक्ति रहे हों और उपराज्यों के शासक भी हों। शूद्रों के कार्य सेवा के अनेक रूपों में प्रचलित रहे जो आज भी दिखायी देते हैं। नाई, धोबी, दर्जी, कुम्हार, बढ़ई जुलाहे, चमार आदि के कार्य इन्हीं सेवाओं के अन्तर्गत हैं। आज के युग में इनमें से कुछ कार्य व्यावसायिक रूप में अन्य जातियों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। इस समय स्त्रियों के संस्कृत पढ़ने में भी

---

१ न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः॥ (सं० अनु०)

अवश्य दिखाई गई है। नवम अंक में अधिकरणिक ने शकार से कहा है—'वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं न च ते जिह्वा निपतिता' स्त्रियों के संस्कृत पढ़ने में भी विरोध प्रकट करते हुए मैत्रेय ने चारुदत्त से तृतीय अंक में कहा है—

'इत्थिआ दाव सक्कअं पठन्ति, दिण्णणवणासा विअ गिट्टी अहिअं सुसुआअदि'।[1] मृ० क० (तृ० अं०)

जहाँ तक सेवा कार्यों में नियुक्ति का सम्बन्ध है उस समय राज्य की ओर से कार्यकुशलता देखकर नियुक्तियाँ होती थीं और जातिगतहीनता उसमें बाधक नहीं थी। वीरक और चन्दनक इसके प्रमाण हैं। चाण्डाल अपने जघन्य कार्य फाँसी देने के कारण शूद्रों से भी गये-बीते माने जाते थे, पर यह अवश्य है कि वे मानवता से गिरे हुए नहीं थे, वरन् अपने कार्य को अपनी आजीविका का साधन मानते हुए कर्तव्यरूप में अपनाते थे। डा० भाट ने इन्हें शूद्र माना है।

"In Candala we have the instance of the Sudra class. The Candala puts up a claim that the man who ill-treats a pious gentleman is a real sinner and a Candala, but this is only an idealistic claim and means at best that he has not the heart of a butcher."[2]

मृच्छकटिक में कायस्थ की गणना न्यायालय के पदाधिकारियों में की गयी है। यह अधिकरणिक का सहायक (Assessor) भी होता था। भारतीय संस्कृत साहित्य में, विशेषतः मनुस्मृति अथवा धर्मशास्त्रों में, कायस्थ शब्द देखने में नहीं आता। वर्णव्यवस्था में भी कायस्थ को कहीं स्थान नहीं दिया गया है। वैसे अपनी जगह इनका समुचित सम्मान था। डा० वी. जी. परांजपे का कहना है—

The case of *Karanas mentioned in Manu and Yajna* has been indentified with the Kaysthas and the Karanas also assume the name of Kayasthas, but they are disowned by the latter. The Karanas are a mixed caste born according to the old theory of the Vaisya by a Sudra Mother of Yajna.92; they figure also among the Vratyas in Manu X92.[3]

---

१. स्त्रीतावत्संस्कृतं पठन्ती, दत्तनवनस्येव गृष्टिरधिकं सुसुशब्दं करोति।(सं.छा.)

२. Dr. G. K. Bhat : Preface to Mrichhakatika, p. 228.

३. Dr. V. G. Pranjpe : Mrichhakatika, p. XVII.

याज्ञवल्क्य स्मृति में कायस्थों के विषय में कहा गया है—

> चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
> पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ।

यही बात मृच्छकटिक के नवम अंक में 'चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम्' इत्यादि पद में व्यक्त की गयी है।

कायस्थ शब्द शक और ग्रीक जाति से सम्बन्धित यदि कहा जाये तो अनुमान है कि यह मूलतः भारतवासी न थे। डा० वी० पी० परांजपे का कहना है।

> "Of course all foreign invaders of India including Greeks become hundred in less than a century from arrival in India and this continued right up to the eight century, when either Hinduism had lost its vitality or had to resist to powerful an opponent."[1]

महाभाष्य के प्रणेता पतञ्जलि ने शकों को विदेशी तथा शूद्रों का समकक्ष माना है।[2]

निष्कर्ष

वर्णव्यवस्था इस युग में सुदृढ़ नहीं थी। इस समय के ब्राह्मण अपने क्षेत्र में कार्य करते हुए भी अन्य कार्यों में कुशल थे। कुछ ब्राह्मण तो बड़े अच्छे व्यापारी थे। चारुदत्त के पिता और बाबा भी व्यवसायी होने के नाते सेठ कहलाते थे, पर इस समय के ब्राह्मणों की दशा भी अव्यवस्थित थी। जहाँ एक ओर कुछ युवक ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित कार्यों को सम्पादित करते थे और जिनके भवन वेदमन्त्रों से गूँजते थे वहीं दूसरी ओर ऐसे भी ब्राह्मण थे जो चोरी करना, जुआ खेलना और राजनैतिक कार्यों में फँसे रहना बुरा नहीं

---

१ Dr V G Paranjpe Mrichhakatika, p. XVIII

२ "Mahabhasya" 'शूद्राणामनिरवसितानाम्'
The nature form शकयवनम् would show that the sakas and yavans were regarded as Sudras who were not 'excommunicated', and who as yet were not regarded as inhabitants of India.

समझते थे। अस्पृश्यता शिथिल हो चली थी। कुछ ऐसे सार्वजनिक स्थान थे जिनका उपयोग ब्राह्मण एवं निम्न वर्णों के लिए समान था।

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः। मृ० क० (१–१२)

कहीं-कहीं नगरों में एक जाति अथवा पेशेवरों के मुहल्ले ही पृथक् होते थे। द्वितीय अंक में चारुदत्त का परिचय देते हुए संवाहक ने कहा है—

'स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति'

इस भाँति वर्णव्यवस्था के उद्देश्य का आरम्भ जिन चार प्रकार के सामाजिक मुख्य कार्यों को लेकर ऋषियों द्वारा प्रणीत हुआ था धीरे धीरे उसमें शिथिलता आ गयी। कालान्तर में कर्मों के अनुसार वर्णों का विभाजन एक प्रकार से समाप्त हो गया और जातिप्रथा के रूप में यह व्यवस्था नव रूप में हमारे समक्ष आ गयी।

ब्राह्मणों का शासकों की दृष्टि में बड़ा सम्मान था, फिर तत्कालीन शासन में और न्यायगत विषयों में उनका बड़ा हाथ भी था। उनके सम्पर्क में सेविकाओं (शूद्र महिलाओं) के आ जाने से एक नवीन जाति का आविर्भाव हुआ जो आगे चलकर कायस्थ कहलायी। यह भी एक विचार है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में ऐसा व्यक्त किया है।

वैदिक काल से ही ब्राह्मणों की महत्ता निरन्तर चली आती है। मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण माने जाते रहे हैं। इस विषय में निम्न उक्ति भी प्रचलित है।

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा, नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥ प्रकीर्ण

अपने उज्ज्वल चरित्र के कारण ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ माने जाते थे। उस समय का समाज उन्हें सम्मानित दृष्टि से देखता था। निमन्त्रण एवं समुचित दक्षिणा और भेंट से उनका आदर करता था। एक वर्ग ब्राह्मणों में ऐसा भी था जो दान-दक्षिणा नहीं लेता था और न निमन्त्रण ही स्वीकार करता था। इस वर्ग को अप्रतिग्राहक कहा गया है। ये अपने में विशेष थे। नवम अंक में चारुदत्त के विषय में अधिकरणिक का यह कहना इसका प्रतीक है कि पापी भी ब्राह्मण वधयोग्य नहीं है, वरन् समस्त वैभव सहित इसका राष्ट्र से निकाल देना उचित है। फिर भी चारुदत्त को राजा द्वारा फाँसी का दण्ड एक अपवाद था।

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥ मृ० क० (९–३९)

दूसरी ओर ब्राह्मण के द्वारा सुवर्ण आदि के अलंकारों का चुराया जाना भी महापातक माना जाता था। दशम अंक में विदूषक की भुजा के प्रति इस उक्ति से कि समीहित सिद्धि के लिये प्रवृत्त हुआ व्यक्ति ब्राह्मण को आगे करके उसका अनुसरण करे, समाज में ब्राह्मणों का आदरणीय स्थान प्रतीत होता है।

'समीहितसिध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्य'

विट का मैत्रेय के चरणों पर गिरना ब्राह्मण के सम्मान का द्योतक है और मैत्रेय का क्रोध में चारुदत्त के चरणों को न धोना इस बात का प्रतीक है कि ब्राह्मण को अपने गौरव और स्वाभिमान का बहुत ध्यान था। दुष्ट शकार ने भी यह व्यक्त किया है कि यह देवताओं और ब्राह्मणों के आगे नम्र पैरों से पहुँचेगा।

यज्ञोपवीत का धारण करना ब्राह्मण के लिये एक धार्मिक लक्षण माना गया है। शर्विलक भी ब्राह्मण था, पर उसने उपहास के रूप में यज्ञोपवीत का उपयोग एक फीते के रूप में, आभूषणों के जोड़ खोलने के कार्य में, किवाड़ की सिटकनी अलग करने में और सर्पों के द्वारा काटने पर बंध लगाने में बताया है।

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥ मृ० क० (३-१६)

चारुदत्त ने इस यज्ञोपवीत को ब्राह्मण का आभूषण माना है। अपने को वध्य स्थान में देखकर अपने पुत्र को वह अपना यज्ञोपवीत ही देना उचित समझता है।

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां पितॄणां च भागो येन प्रदीयते ॥ मृ० क० (१०-१८)

नवम अंक में अधिकरणिक ने चारुदत्त के विरुद्ध शकार को बोलते हुए और अपने प्रति यह कहते हुए कि यह व्यवहार पक्षपातपूर्ण है, शकार को यह कहकर फटकारा है कि नीच होकर तू वेद का अर्थ कहता है फिर भी तेरी जिह्वा नहीं गिरती—

'वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता'

इससे यह निश्चित है कि उस युग में निम्न वर्ण द्वारा वेद का अध्ययन अनधिकार चेष्टा मानी जाती थी। विशेष रूप से वेदों का स्वाध्याय और अध्यापन ब्राह्मणों का ही कार्य समझा जाता था। निम्न वर्ण से तो ब्राह्मण दान

भी लेना अच्छा नहीं समझते थे। क्योंकि प्रथम अंक में चारुदत्त के द्वारा याचकों से दान की चर्चा आने पर चाण्डाल आश्चर्य में चारुदत्त से कहते हैं कि क्या आप हमसे दान ले सकते हैं।

ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा-भाव की भी मृच्छकटिक में कमी नहीं है। आरम्भ में सूत्रधार का मैत्रेय के लिये उसके घर पर भोजन करने का निमन्त्रण है—

'भद्र मैत्रेय। अस्माकं गृहेऽभिरूपमपी र्भवत्वार्यः'

मैत्रेय की अस्वीकृति पर पुनः दक्षिणा के लिये भी निवेदन किया जाता है—

'आर्य। सम्पन्नं भोजनं निरुपद्रवं च। अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति' पर मैत्रेय के स्वाभिमान ने इसको भी ठुकरा दिया। वसन्तसेना का ब्राह्मण चारुदत्त के प्रति प्रेम देखकर द्वितीय अंक के आरम्भ में मदनिका ने पूछा—

'विद्याविशेषालंकृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ?'

वसन्तसेना ने उत्तर दिया।

'पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः।'

शर्विलक जब चारुदत्त के यहाँ अपने चौर कर्म की बात मदनिका को सुनाता है तो मदनिका यह पूछती है कि तुमने वहाँ किसी को मारा अथवा घायल तो नहीं किया। इस पर उसके ब्राह्मणत्व का स्वाभिमान जाग उठता है और वह कहता है—

'मदनिके, भीते सुप्ते न शर्विलकः प्रहरति। तस्मान्न कश्चिद्व्यापादितो नापि परिक्षत।'

इतना ही नहीं, उसे तो ब्राह्मणोचित कार्य के विपरीत मदनिका की बात इतनी बुरी लगी कि वह यह कह उठा कि ब्राह्मण पतित होकर भी अपनी मान-मर्यादा की उपेक्षा नहीं करता—

मातर्मेह्यवहृदयो हि करोम्यकार्यं
चतुर्वेदपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः।
रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं,
मित्रं च मा व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥ मृ० क० (४-९)

नवम अंक के अन्त में उधार की योजनाओं से अधिकरणिक के द्वारा प्राण-दण्ड का आदेश मिलने पर ब्राह्मण चारुदत्त तिलमिला कर कह उठता है कि हे

राजन् ! यदि निरपराध ब्राह्मण को मारा जाता है तो पुत्र पौत्रों सहित तुम भी नरक के भागी होगे—

> विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे,
> क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
> अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि,
> पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः॥ मृ० क० (९-४३)

शकार अपने दुष्कर्मों के लिये दशम अंक में चारुदत्त से अपने प्राणों की भीख मांगते हुए यह गिड़गिड़ाता है—

'भट्टारक चारुदत्त ! शरणागतोऽस्मि। तत्परित्रायस्व। यत्तव सदृशं तत्कुरु पुनरीदृशं न करिष्यामि।'

पञ्चम अंक में वसन्तसेना को रत्नावली देकर लौटने के पश्चात् मैत्रेय को जहाँ एक ओर चारुदत्त का रत्नावली देना अच्छा नहीं लगा वहाँ दूसरी ओर उसे अपने प्रति वसन्तसेना का व्यवहार भी अच्छा नहीं लगा। अतः वह चारुदत्त से गणिका के विरोध में कहता है कि उसकी धारणा गणिका, हाथी, कायस्थ आदि के विषय में अच्छी नहीं है।

अहह ब्राह्मणो मूर्खेशानो भवन्त शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि—निवर्त्यतामात्मास्माद् बहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रसङ्गात्। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च भो वयस्य ! गणिका, हस्ती कायस्थो भिक्षुश्चाटो रासभश्च यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते' (सं० अनु०)।

जो भी हो गणिका ने साहसी ब्राह्मण शर्विलक का वरण किया तो धीमान् ब्राह्मण चारुदत्त का वसन्तसेना ने।

(ह) गौ की महत्ता

गौ के प्रति हिन्दुओं की आस्था है। विवाह विवाह के लिए दायवत्स में भी और ब्राह्मण को चर्चा इसके पुण्य के प्रतीक होने के नाते आती रही है। यही मृच्छकटिक के तृतीय अंक में भी है। स्वर्णपात्र के ग्रहण करने में शर्विलक को हिचकते हुए देखकर मैत्रेय उससे गौ और ब्राह्मण की शपथ दिलाते हुए कहता है :—

'भो वअस्स। साविदोसि गोवह्मणकामाए, जइ एदं सुवण्णभण्डअं ण गेह्णासि'।[1]

---

१. भो वयस्य, शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया यद्येतत्सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि। (सं० अनु०)

धार्मिलक इसका समर्थन करते हुए और स्वीकार करते हुए कहता है :—

'अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च'

अतः यह निश्चित है कि अन्य युगों की भाँति मृच्छकटिक काल में भी गौ का महत्त्व कम नहीं था।

निष्कर्ष

वर्णव्यवस्था में जो प्रमुख स्थान ब्राह्मणों का है, पशुओं में वही गौ का है। ज्ञानविशेष और वर्णोत्तम होने के कारण ब्राह्मण का सब जगह आदर है। गौ की महत्ता भी इसी प्रकार है। इसी विचार से हिन्दुओं के लिए गोपालन एक धर्म समझा गया है। भगवान श्रीकृष्ण ने तो गायों के साथ स्नेह दिखाकर उनकी उपयोगिता स्पष्ट ही व्यक्त की है।

(घ) मृच्छकटिक में अन्धविश्वास एवं शकुनविचार पर टिप्पणी

अन्धविश्वास की दृष्टि से मृच्छकटिक का अपना वैशिष्ट्य है। प्रचलित भावना से अनेक स्थानों पर मृच्छकटिककार ने इसको मान्यता दी है। उस युग में न इसमें केवल सामान्य जनता में, वरन् राजदीक्षित स्तर पर भी इसको महत्त्व दिया गया है।

इस समय अन्धविश्वास धर्म का एक अंग बन गया था और न केवल अशिक्षित जनता में, वरन् शिक्षित जनता में भी इसके प्रति विश्वास दृढ़ हो चला था। इस अन्धविश्वास के आधार पर शकुनों से भविष्य की शुभ और अशुभ बातों पर विश्वास किया जाता था। राजा के द्वारा आर्यक का बन्दी बनाया जाना भविष्य के भयावह परिणाम का सूचक है। आँख का प्रतिकूल स्थिति में फड़कना और हृदय का कम्पन आगामी आपत्तियों के परिणाम माने जाते थे। इसके अतिरिक्त और अन्य अनेक अपशकुनों का भी दुष्परिणाम जनजीवन में दुर्घटनाओं का प्रतीक माना जाता था। न्यायाधीश ने बताया है कि सूर्योदय पर ग्रहण किसी महापुरुष के पतन का प्रतीक है। चारुदत्त जिस समय न्यायालय में प्रवेश करते हैं सामने कौवे और साँप को देखते हैं। द्वार की चौखट से उनका सिर टकरा जाता है और पैर फिसल जाता है। ये सब बातें उनके दुर्भाग्य का कारण समझी जाती हैं।

न्यायालय में प्रवेश करते समय चारुदत्त अपशकुनों के समुदाय से घबरा उठता है—

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयम-

ममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति।

वामं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य,
ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥ मृ० क० (९-१०)

कौवे का रूखे स्वर से बोलना, मन्त्रियों के सेवकों द्वारा बार-बार बुलाना और बाँयी आँख का बलपूर्वक फड़कना अपशकुन के रूप में मुझे खिन्न कर रहे हैं।

बृहत्संहिता में सूखे वृक्ष पर कौए का शब्द करना कलह का द्योतक है। 'कलह शुष्कद्रुमस्थिते ध्वाङ्क्षे'। यहाँ भी संयोग से वैसी ही स्थिति है।

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्थित ।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम् ॥ मृ०क० (९-११)

कौआ सूखे वृक्ष पर बैठे हुए सूर्य की ओर मुख करके मुझ पर अपनी बाँई आँख डाल रहा है। निःसंदेह यह भयंकर आपत्ति का सूचक है।

काले सर्प को देखकर अपशकुन समझते हुए चारुदत्त कहता है —

अयि विनिहितदृष्टिर्भिन्नभीमाञ्जनाभ,
स्फुरितविततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।
अभिपतति सरोषो जिह्मगाध्मातकुक्षि-
र्भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥ मृ०क० (९-१२)

घुटित चिकने अंजन के समान आभा वाला, लम्बी जीभ को लपलपाता हुआ, श्वेत चार दाढ़ वाला मेरे मार्ग में फैलकर पड़ा हुआ यह विशाल सर्प क्रोधपूर्वक वायु से फूले हुए उदर को फुलाता हुआ मुझ पर दृष्टि लगाये मेरी ओर आ रहा है (कहीं जाते हुए काले सर्प का दीखना अपशकुन है)। इसी के साथ-साथ फिर यह भी अनिष्ट है—

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही
स्फुरति नयनं वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते ।
शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकधा
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥ मृ०क० (९-१३)

यद्यपि पृथ्वी गीली नहीं है फिर भी भूमि पर रखा हुआ पैर फिसल रहा है। बाँयी आँख फड़क रही है तथा बाँयी भुजा बार बार काँप रही है। दूसरे पक्षी भी अनेक बार बोल रहा है। ये सब भयंकर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं। इस विषय में कुछ संदेह नहीं है।

इस विश्वास के आधार पर चाण्डाल ने भी कहा —

इन्देप्पवाहिअन्ते गोप्पसवे संकमे अ ताराणम् ।
सुपुलिस पाण विपत्ती चत्तारि इमे ण दट्ठव्वा ॥[1] मृ०क० (१०-७)

विसर्जन के लिए ले जाया जाता इन्द्रध्वज, गौ का प्रसव, तारों का पतन और श्रेष्ठ पुरुष का प्राण त्याग इन चारों को नहीं देखना चाहिए। जनजीवन पर नक्षत्रों का प्रभाव भी शुभ-अशुभ का परिचायक है। चन्दनक ने अपनी उक्ति में इसी की पुष्टि की है।[2]

कस्सट्ठमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चन्दो ।
छट्ठो अ भग्गवग्गहो भूमिसुओ पञ्चमो कस्स ॥
भण कस्स जम्म छट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ ।
जीअन्ते चन्दणए को सो गोवालदारअं हरइ ॥ मृ०क० (६-९,१०)

घबराया हुआ चन्दनक कहता है कि सूर्य किसके आठवें स्थान पर है। चन्द्रमा किसके चतुर्थ स्थान पर, शुक्र किसके छठे स्थान पर और मंगल किसके पंचम स्थान पर है। बृहस्पति किसकी जन्मराशि के छठे स्थान पर है तथा शनि नवम स्थान पर है? अर्थात् ये सभी अशुभ के प्रतीक हैं। चन्दनक के जीवित रहते हुए कौन है जो गोपालपुत्र को छुड़ाये ले जा रहा है।

नवम अंक में विदूषक की कुक्षि से गिरते हुए वसन्तसेना के आभूषणों की ओर संकेत करके शकार जब अधिकरणिक के समक्ष चारुदत्त के विरोध में अपना प्रमाण प्रस्तुत करता है तब सब कुछ जानते हुए जैसे अधिकरणिक कहता है कष्ट है,—

अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः ।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ मृ०क० (९-३३)

मंगल के विरुद्ध होने पर क्षीण बृहस्पति के बगल में यह दूसरा धूमकेतु ग्रह उदित हो रहा है। आशय यह है कि शकार तो चारुदत्त के विरुद्ध था ही

---

१. इन्द्र-प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम् ।
सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वार इमे न द्रष्टव्याः ॥ (सं० अनु०)

२. कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः ।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पंचमः कस्य ॥
भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः ।
जीवति चन्दनके क एष गोपालदारकं हरति ॥ (सं० अनु०)

इधर विदूषक को दुर्दिन में गिरते हुए आभूषण देखकर उसके दोष की ओर भी पुष्टि की जाती है।

निष्कर्ष

हिन्दूशास्त्रों में ज्योतिषशास्त्र का बड़ा महत्त्व है। गणित और फलित के रूप में इसका विवेचन किया जाता है। फलित रूप में शकुनों पर भी विचार किया गया है। ये शकुन शुभ और अशुभ दो रूपों में व्यक्त किये गये हैं।

मृच्छकटिक के समय शकुनों पर विचार की परम्परा बड़ी सुदृढ़ हो चली थी। शिक्षित-अशिक्षित सभी इन्हें मानते थे। इनके प्रत्यक्ष फल से सभी प्रभावित थे। यही कारण है कि इन पर अटूट विश्वास हो चला था और इसी से अन्धविश्वास की जड़ जम गयी। यद्यपि ज्योतिषशास्त्र के अनुसार पुरुषों के दाहिने अंगों का और महिलाओं के वामअंगों का स्फुरण क्रमशः शुभ और अशुभ माना जाता है पर कभी-कभी वायु के विकार से भी यह स्फुरण दिखाई देता है।

(ख) ज्योतिष में निष्ठा

किसी भी रचना में उसके रचनाकार का व्यक्तित्व छिपा रहता है। रचनाकार ने अपने को 'वेदविशारदनृप' और 'अधकारकविस्तम्भ' इत्यादि उक्तियों द्वारा यह दिखाया है कि वह वेदशास्त्रों का विद्वान और ज्योतिष विद्या का ज्ञाता था। वह शकुनविज्ञान से भी परिचित था जैसा कि मृच्छकटिक में विविध शकुनों के फलाफल से ज्ञात होता है। चारुदत्त को भाग्यवादी दिखाया गया है। उसने कहा है—

भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति। मृ०क० (१-१३)

भाग्यक्रम से निश्चय ही धन का आगमन होता है। शार्विलक से भी उसने कहा है—'स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि' (७-७) अपने भाग्य से बच रहे हो। पूर्वजन्म के कर्मों से भाग्य का निर्माण होता है। इसी को शकार और चेट के संवाद में चेट द्वारा व्यक्त की गयी है।

जेणम्हि गब्भदासे विणिम्मिदे भाअधेअदोसेहिं।
अहिअं च ण कीणिस्सं तेण अकज्जं परिहलामि ॥ मृ०क० (८-२५)[1]

पूर्वकृत पापकर्मों के फलस्वरूप दुर्भाग्य से मैं जन्म से ही दास बनाया गया

---

१. येनास्मि गर्भदासः विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥ (सं० अनु०)

है, इसलिए मैं उसे वंचित नहीं समझूँगा और अकार्य का त्याग करूँगा। अंत में भी विधि के विधान की दुहाई दी गयी है—

> काश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा काश्चिन्नयत्युन्नतिं,
> काश्चित् पातविधौ करोति च पुनः काश्चिन्नयत्याकुलान् ।
> अन्योन्यप्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
> न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥ मृ०क० (१०–५९)

यह भाग्य किसी को रिक्त करता है और किसी को पूर्ण करता है। किसी की उन्नति करता है तो किसी का पतन करता है। कभी इससे व्याकुल बना रहता है। रहट की घटिकाओं की भाँति यह मनुष्य के साथ खिलवाड़ किया करता है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसमें भाग्योपरान्त घटनाओं का विवेचन पात्रों को असन्तोष और नैराश्य की ओर ले जाता है। चारुदत्त सर्वथा योग्य होते हुए भी कष्ट पाता है। शकार अपनी कुटयोजनाओं में सफल होता दिखाई देता है। भले ही अन्त में रहस्योद्घाटन हो जाने से सचाई सामने आती है। शर्विलक और संवाहक भी दुर्भाग्य में ही बढ़ते दिखाई देते हैं। इस भाँति भाग्य-चक्र से सब जन ओत-प्रोत हैं। ज्योतिषशास्त्र भाग्य को मान्यता देता है। अतः ज्योतिष के प्रति आस्था मृच्छकटिककार की स्पष्ट प्रतीत होती है। बलि, उपहार, व्रतों का विधान, ग्रहयोग के प्रति रुचि भी इसके प्रतीक हैं जिनकी ज्योतिषशास्त्र में चर्चा है।

मृच्छकटिक में चारुदत्त का जीवन यदि आर्थिक अवस्था की विषमता न होती तो कुछ और ही होता। वैसे उस समय देश की आर्थिक अवस्था अच्छी थी, पर समाज का ढाँचा ऐसा था कि कुछ लोग तो इतने धनी और सम्पन्न होते थे कि अपने बच्चों को खेलने के लिए सोने के खिलौने जुटा सकते थे पर दूसरी ओर इतनी निर्धनता थी कि चारुदत्त के बच्चे के पास मिट्टी की गाड़ी थी। चारुदत्त वैसे बिगड़ा हुआ धनी है। दरिद्रावस्था में भी चोरी गये आभूषणों के बदले उसकी स्त्री देने के लिये बहु समुद्रसारभूता रत्नमाला अपने गले से उतार कर देती है। चारुदत्त का परिवार मान-मर्यादा का विचार करते हुए धनी न होते हुए भी अपने को हीन नहीं दिखाना चाहता। दूसरी ओर वसन्तसेना के वैभव का वर्णन भी देश की अच्छी आर्थिक स्थिति का द्योतक है। धन के महत्त्व को समझते हुए उसका अभाव चारुदत्त को इतना अखरता है कि वह

धनाभाव की स्थिति में जीवन को ही आपत्तियों का कारण समझने लगा है।

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥

मृ० क० (१-१४)

दरिद्रता से लज्जा होती है और व्यक्ति का तेज विनष्ट हो जाता है। ग्लानि के कारण उस पर शोक छाया रहता है। बुद्धि भी काम नहीं करती। इस प्रकार यह निर्धनता सब आपत्तियों का एकमात्र कारण है।

धन के महत्व को शर्विलक ने भली भाँति समझा और उसने यह निश्चय कर लिया कि उसकी प्रेयसी मदनिका को वसन्तसेना से छुड़ाने का कोई साधन धन से अतिरिक्त नहीं है। शर्विलक के मन में धन जुटाने का विचार आया तो चोरी की योजना बनी और चारुदत्त के यहाँ चोरी की गयी। चतुर्वेदी ब्राह्मण का पुत्र शर्विलक चोरी को निन्द्यकार्य जानते हुए भी कहता है —

अहं हि चतुर्वेदविदो प्रतिग्राहकस्य पुत्र शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिका-मदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि। मृ० क०(पृ० ८८)

निश्चय ही अर्थसिद्धि के लिये शर्विलक मकान में सेंध लगाने के लिये प्रवृत्त होता है। तत्पश्चात् घर की स्थिति देखते हुए यह कहता है।

'तत्किं परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभयाच्चोरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति। तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम्। भवतु। बीजं प्रक्षिपामि।'

शर्विलक को राजभय और चोरभय का नाम यों ही नहीं लेना पड़ा। उस समय की दशा ऐसी थी कि शासन की कुव्यवस्था के कारण लोग द्रव्य को छिपा रहे थे और इससे समाज का कष्ट बढ़ रहा था। एक ओर जहाँ आर्थिक समृद्धिशीलता थी दूसरी ओर मनुष्य निर्धन भी थे। विदूषक चेट से कहता है कि दुर्भिक्षकालिक वृद्ध काक के समान क्यों आहें भर रहे हो?

'किं दाणिं खादीअदु पुत्ता! दुब्भिक्खकाले वुड्ढकाओ विअ सद्दाअ वाअसा
अदि एसा का वेलि!' मृ० क० (प० अ०)[1]

---

१ किमिदानीं खाद्यतां पुत्र! दुर्भिक्षकाले वृद्धकाक इव अर्थस्य भाजनमेव एषा का मा इति। (ह० अनु०)

इधर महावतों के द्वारा भात से भिगे हुए तेल (अथवा घी) से मिश्रित पिण्ड हाथी को खिलाया जा रहा है।

वसन्तसेना के पास खुण्टमोडक नाम का हाथी था। इसकी चर्चा द्वितीय अंक में वसन्तसेना और संवाहक के वार्तालाप के समय की गयी है—

संवाहक—अये, किं ण्णेदम् (आकाशे) किं भणाध-एसे क्खु वसन्तसेणाए खुण्टमोडके णाम दुट्ठहत्थी विक्कमेदि त्ति।[1] मृ० क० (द्वि० अ०)

अरे यह क्या है? (आकाश की ओर) क्या कहते हो? यह वसन्तसेना का खुण्टमोडक अर्थात् बन्धनस्तम्भ को तोड़नेवाला नामक दुष्ट हाथी घूम रहा है।

वैसे भी धनिक समुदाय उस समय हाथी रखता था। आवागमन के साधनों में उस समय बैलगाड़ी (प्रवहण) का विशेष प्रचलन था। चारुदत्त और शकार के पास भी प्रवहण थे। कभी-कभी घोड़े का भी उपयोग किया जाता था। नवम अंक में न्यायाधीश वीरक को घोड़े पर पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने का आदेश देता है।

'अधिकरणिक'—वीरक, गच्छाधिकृत भवतो न्याय एव्याम न एषोऽभिकरण-द्वार्यस्तिष्ठति तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानम।'

आने-जाने के लिये उस समय राजमार्ग बने हुए थे। इस समय कलायें भी समुन्नत दशा में थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। संगीत कला भी उन्नति पर थी। चारुदत्त रेभिल के यहाँ संगीत सुनने गया था। उसका विवेचन वीणावादन का शास्त्रीय वर्णन मृच्छकटिक में है।

चारुदत्त—वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्।

वीणा वास्तव में बिना समुद्र से निकला हुआ रत्न है।

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥ मृ० क० (३-३)

मनोरञ्जन वीणा उत्कण्ठित व्यक्ति की मनचाही सखी है। संकेत करने वाले प्रेमी के देर करने पर एक उत्कृष्ट मनोरञ्जन है। विरहपीड़ितों को

---

1. अरे, किमिदम्। किं भणत-एष खलु वसन्तसेनाया खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विचरति, इति। (स० अनु०)

आश्चर्य है यहाँ प्रथम प्रकोष्ठ में भी चन्द्रमा, शंख और कमलनाल के तुल्य कान्तिवाली सजाये हुए मुट्ठी भर चूर्ण के कारण धवल रत्नजटित स्वर्णमयी सीढ़ियों से शोभित प्रासादों की पंक्तियाँ लटके हुए मुक्ताहार वाले वातायनरूपी मुखचन्द्रों से उज्जयिनी को मानों देख रही हैं। यहाँ श्रोत्रिय की भाँति दौवारिक भी सुख की नींद ले रहा है। फिर काक जैसे कुशल पक्षी को भी स्निग्धवर्ण से यहाँ रत्नच्छाया की उज्ज्वल आभा के रंग में रंग मिल जाने से बलि का बोध नहीं होता।

द्वितीय प्रकोष्ठ में पशुस्थिति का मनोहर चित्र देखिये—

'ही ही भो:,' 'इदो वि दुदिए पओट्ठे पज्जत्तो उवणीदजवसबुसकवलसुपुट्ठा तेल्लब्भत्तविसाणा बद्धा पवहणबइल्ला' मृ० क० (च० अङ्क)[1]

अरे आश्चर्य यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ में भी सामने लायी हुई घास और भूसे के ग्रास से परिपुष्ट तथा तेल से चिकने सींग वाले रथ के बैल बंधे हैं।

आगे तृतीय प्रकोष्ठ में उपवेशन विधि देखिये—

'ही ही भो इदो वि तदिए पओट्ठे इमाइं दाव कुलउत्तजणोवबेसणणिमित्तं विरचिदाइं आसणाइं अद्धवाचिदो पासअपीठे चिट्ठदि पोत्थओ'[2]

मृ० क० (च० अ०)

अरे आश्चर्य, यहाँ तीसरे प्रकोष्ठ में भी कुलीन पुरुषों के बैठने के लिये ये आसन लगाये गये हैं। इसके अनन्तर चतुर्थ प्रकोष्ठ में अब संगीतशाला देखिये। धनिकजनों के मनोरंजन का तो यह मुख्य साधन है।

'ही ही भो इदो वि चउट्ठे पओट्ठे जुवदिकरताडिदा जलधरा विअ गम्भीरं णदन्ति मुदंगा, खीणपुण्णाओ विअ गअणादो तारआओ णिवडन्ति

लम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निध्यायन्तीवोज्जयिनीम्। श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः। सुधया कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया। आदिशतु भवती।
(सं० अनु०)

१. आश्चर्यं भो, इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्याप्तोपनीतयवसबुसकवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धा प्रवहणबलीवर्दाः।
(सं० अनु०)

२. आश्चर्यं भो, इहापि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत्कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्त विरचितान्यासनानि। (सं० अनु०)

कंसतालआ महुअरविरुदं विअ महुरं वज्जदि वंसो' ।[1]

मृ० क० (च० अं०)

अरे आश्चर्य ! यहाँ चतुर्थ प्रकोष्ठ में भी युवतियों के हाथ से बजाये गये मृदंग बादलों के समान गम्भीर शब्द कर रहे हैं ।

पंचम प्रकोष्ठ में महानस कक्ष की भी झलक देखने योग्य है :—

'ही ही भो ! इदो वि पञ्चमे पओट्ठे अअं दलिद्दजणलोहुप्पादअरो आहररउच्छलिदो हिङ्गुतेल्लगन्धो ।'[2]

मृ० क० (प० अंक)

अरे आश्चर्य ! यहाँ पाँचवें प्रकोष्ठ में भी यह निर्धन मनुष्यों को ललचाने वाली हींग और तेल की बनी हुई गंध मुझे आकर्षित कर रही है । मुसलमानों के बावरची और अंग्रेजों के खानसामा भी इन भारतीय सूपकारों के सामने तुच्छ हैं । शृंगारशाला भी यहाँ की क्या ही सुन्दर है । इसे षष्ठ प्रकोष्ठ में देखिए :—

'ही ही भो, इदो वि छट्ठे पओट्ठे अमूं दाव सुवण्णरअणाणं कम्मतोरणाइं णीलरअणविणिक्खित्ताइं इन्दाउहट्ठाणं विअ दरिसअन्ति वेदुरिअमोत्तिअपवाल-अपुप्फराअइन्दणीलकक्केदरअपद्मराअमरगअपहुदिआइं रअणविसेसाइं अण्णोण्णं विआरेन्ति सिप्पिणो' ।[3]

मृ० क० (च० अंक)

अरे आश्चर्य ! यहाँ छठे प्रकोष्ठ में भी ये नीलरत्नखचित स्वर्णरत्नों के विविध रचनायुक्त तोरण इन्द्रधनुष की समानता सी प्रदर्शित कर रहे हैं । शिल्पीगण वैदूर्य, मोती, मूँगा, पुष्पराग, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि रत्नविशेषों का परस्पर विचार कर रहे हैं ।

सप्तम प्रकोष्ठ की पक्षिशाला भी देखने से क्यों रह जाय यह भी अद्वितीय है ।

---

१. आश्चर्यं भोः, इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडिता जलधरा इव गंभीरं नदन्ति मृदंगाः क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः, मधुकरविरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः । (सं० अनु०)

२ आश्चर्यं भोः, इहापि पंचमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर आहरत्युच्छलितो हिङ्गुतैलगन्धः । (सं० अ०)

३. आश्चर्यं भोः, इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति । वैदूर्यमौक्तिकप्रवालपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः । (सं० अनु०)

निष्कर्ष

मृच्छकटिक की रूपरेखा जिस सामाजिक ढाँचे पर निर्मित है उसका एक-मात्र कारण तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति है। एक ओर दुष्ट वर्गों के द्वारा धन का अपव्यय, द्यूत, मदिरासेवन और वेश्यागमन आदि में दिखाया गया है तो दूसरी ओर चारुदत्त द्वारा उसी का सदुपयोग सामाजिक सत्कार्यों, धार्मिक संस्थाओं, उपवन, विहार, कूपनिर्माण आदि में दिखाया गया है। घर और बाहर दोनों रूपों में वसन्तसेना के धन का सदुपयोग उसके साध्वी होने का प्रतीक है। अपने चारुदत्त के पुत्र रोने के आभूषण देने जिससे कि उसका पुत्र मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी से खेले। दूसरी ओर उसके अपने घर का वैभव समृद्धिशालिता का द्योतक है जहाँ विदूषक न प्रवेश करते ही अलकरणों की छटा देखी, फिर प्रत्येक प्रकोष्ठ क्रमशः शिल्प, पशुचर्या, उपवेशन, सभीतशाला, महानस, गुञ्जरमाला एवं पक्षिशाला के साथ साथ अनुपम पुष्पवाटिका से युक्त था। प्रत्येक प्रकोष्ठ अपने वैभव में बढ़ा-चढ़ा था। ऐसा लगता था कि मानो राजभवन हो। उस गणिकावर्ग की स्थिति तो और भी सुन्दर होगी जो समृद्धि-शालिता में वसन्तसेना से भी बढ़ा-चढ़ा होगा।

(ख) कृषिकार्य एवं भूस्वामी

मृच्छकटिककाल में सम्भवतः कृषि का महत्व था। उसके आधार पर उससम्बन्धी उपमाएँ भी प्रमाणरूप में व्यक्त की जाती थी। विदूषक की निम्न व्यङ्ग्योक्ति से जब चारुदत्त और वसन्तसेना दोनों ही झुककर प्रणाम करते हैं इसका झलक मिलती है।

'भो दुवेवि तुम्हे सुष्ठ पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्ण सीसेण सीस समागदा'[1]। मृ० क० (प्र० अङ्क)

अरे सुखपूर्वक प्रणाम करके धान की दो क्यारियों के समान आप दोनों के सिर से सिर मिल गये।

चारुदत्त ने असमय वर्षा के सम्बन्ध की चर्चा में भी की और धान सम्बन्धी चर्चा की है।

'यथा प्रकीर्णा न भवन्ति धान्य'

मृ० क० (४।१७)

खेत में बिखराये हुये भी धान नहीं हो पाते हैं।

इस भाँति आगे भी देखिये। मोटी के प्रकार की मालो में बैठ धान पर वसन्तसेना को जब सहसा यह ज्ञात होता है तो यह कह उठती है—

---

१ भो, द्वावपि युवा सुष्ठ प्रणम्य कलमकेदाराबन्योन्यं शीर्षेण शीर्षं समागतौ।

'एसोवापि मम मन्दभाइणीए ऊसरक्खेत्तपडो विअ बीअमुट्ठी णिप्फलो इव आगमणो संवुत्तो।'[1]

मृ० क० (प० अंक)

इस समय मुझ मन्दभागिनी का यहाँ आना ऊसर खेत में पड़ी हुई बीज की मुट्ठी के समान निष्फल हो गया।

इसी प्रकार जो चाण्डालों के बीच स्थित चारुदत्त के वध के समय स्थावरक के द्वारा चाण्डालों से अवकाश माँगने पर चारुदत्त कह उठता है—

कोऽप्यमेवविधे काले कालपाशस्थिते मयि।

अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघ इवोदित:॥ मृ० क०(१०—२१)

वर्षा के न होने से सूखते हुए धान्य पर द्रोण नामक मेघ के समान इस प्रकार के आपत्तिकाल में मेरे कालपाश में स्थित होने पर यह कौन आ गया है।

यहाँ अनावृष्टि से सूखे हुए धान्य पर द्रोण नामक मेघ का आ जाना 'क्षते' प्रहारा निपन्त्यभीक्ष्णम (Adding Insult to Injury) के समान बताया गया है।

मृच्छकटिक में गृहपति शब्द आया है। संवाहक गृहपति का पुत्र था। बौद्धभिक्षु होने से पूर्व वह एक धार्मिक सुखपूर्ण आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करता था। धन की अधिकता से ही उसमें कुसंग से द्यूत का भी व्यसन हो गया था। आरम्भ में वह चारुदत्त का सेवक भी रह चुका था। संभवत उस समय उसकी आर्थिक स्थिति उतनी अच्छी न रही हो। धन के आधिक्य से ही लोग दास और दासियों को खरीदकर रखते थे और उन पर अपना हर प्रकार का अधिकार दिखाते थे। ये दास और दासियाँ स्वामी रूप से अपने स्वामियों के निजी परिचारक और परिचारिकाएँ माने जाते थे। उनकी विशेष कृपा से ही इनका छुटकारा होता था। जैसे कि वसन्तसेना की अनुकम्पा से मदनिका का छुटकारा हुआ। शर्विलक ने आभूषणों की चोरी भी तो इसीलिए की थी कि वह अपनी प्रेयसी मदनिका को, जो वसन्तसेना की क्रीत दासी थी, छुड़ा सके।

निष्कर्ष

गृहपति शब्द इस रूप में इससे कुछ भिन्न है जैसा कि शाब्दिक व्याख्या करने पर इसका अर्थ गृहों का पति होता है। प्रचलित मुखिया शब्द इससे मिलता-जुलता

---

१ एतावदेवानीं मम मन्दभागिन्या ऊसरक्षेत्रपतित इव बीजमुष्टिर्निष्फलमिहागमनम् संवृत्तम्। (सं० अनु०)

है। यह गृहपति भले ही कृषकों के स्वामी अथवा भूस्वामी रहे हों पर ऐसे प्रमाण मृच्छकटिककाल में नहीं मिलते जिनमें यहाँ के जमींदारों जैसा व्यवहार उनके किसानों के प्रति रहा हो। वे धनी थे तथा ग्रामीण और नागरिक भूमि के अधिकारी थे। समाज में ऐसे धनिक वर्ग का बोलबाला था और दास-दासियों को खरीदकर रखने की भी इस समय प्रथा थी। ये बड़े समृद्धिशाली होते थे। इनका जीवन बड़े ठाट बाट का था, पर धन के दुरुपयोग से यह दुर्व्यसन में भी फँस जाते थे। जैसे संवाहक को द्यूत की लत पड़ गयी।

(ग) वाणिज्य का महत्त्व तथा विकास

मृच्छकटिककाल में व्यापार बढ़ा-चढ़ा था। व्यापारिक वर्ग वणिक् जाति के नाम से विख्यात था। ये ही वणिक् आज वैश्य कहलाते हैं। इन्हें उस समय श्रेष्ठी कहते थे जो प्रचलित सेठ शब्द का शुद्ध रूप है। श्रेष्ठी वर्ग का निवास-स्थान श्रेष्ठिचत्वर कहलाता था। उस समय के कुलीन ब्राह्मण केवल आध्यात्मिक ही नहीं थे, वरन् कोई-कोई बड़े व्यापारी भी होते थे। चारुदत्त के दादा एक बड़े व्यापारी होने के कारण श्रेष्ठी कहलाते थे। तत्कालीन समाज में दो की प्रतिष्ठा थी। एक तो ब्राह्मण की, दूसरे व्यापारी वर्ग की। व्यापारी वर्ग एक संगठित जाति के रूप में था। इनका एक शासक द्वारा मनोनीत व्यापारी प्रमुख रूप में होता था। संपत्तिशाली देशों से व्यापार की झलक मदनिका की वसन्तसेना के प्रति कही हुई निम्न उक्ति से ज्ञात होती है।

मदनिका—किं अणेअण अरहिंगमण अभिदविहवविज्जारो वाणिअजुवा वा कामीअदि।[1] मृ० क० (द्वि० अंक)

क्या अनेक नगरों में गमन से प्रचुर सम्पत्ति अर्जित करने वाले व्यापारी को कामना की जा रही है।

इसके उत्तर में वसन्तसेना ने कहा है—

हञ्जे उवारूढसिणेहंपि पणअजणं परिच्चइअ देसन्तरगमणेण वणिअजणो महन्तं विओअजं दुक्खं उप्पादेदि।[2] मृ० क० (द्वि० अंक)

हे चेटी! व्यापारी पुरुष प्रचुर प्रेम वाले प्रेमी जन को छोड़कर विदेश-

---

१. किमनेकनगराभिगमनर्जितविभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते। (सं० अनु०)

२. चेटि, उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वणिग्जनो महद्वियोगजं दुःखमुत्पादयति। (सं० अनु०)

चले जाने से वियोगजनित महान् दुःख को उत्पन्न करता है। अतः वसन्तसेना किसी व्यापारी को प्रेमी नहीं बनाना चाहती।

उस समय का व्यापार इतना फैला हुआ था कि व्यापारियों के अपने जहाज थे। चतुर्थ अङ्क में चेटी से समालाप करते हुए विदूषक ने कहा है—

'भोदि, किं तुम्हाणं जाणवत्ता वहन्ति'[1]

मृ० क० (च० अङ्क)

क्या आप के यान (व्यापार के लिए जहाज आदि) चलते हैं?

डाक्टर भण्डारकर ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है—

"Ships from the Western Countries came according to the author of the Periplus to Bharukachh, the modern Bhadocha, and the merchandise was then carried to the inland countries."[2]

उन दिनों विभिन्न व्यापार मण्डल थे जैसे वस्त्रनिर्माताओं, औषधिनिर्माताओं एवं अन्य व्यापारी आदिकों के। ये पूर्ण रूप से सङ्गठित एवं कुशल थे। इनके पास संचित स्थायी धनराशियाँ थीं जिनपर पीढ़ी दर पीढ़ी ब्याज चला करता था। विभिन्न वस्तुओं के विक्रय से तत्कालीन व्यापारी पुष्कल धन संग्रह करते थे और उसे व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद में व्यय करने के अतिरिक्त उदार भावना से दूसरों के सेवाकार्यों एवं अन्य सामाजिक कार्यों में व्यय करते थे। इनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। विदूषक ने चारुदत्त के सम्बन्ध में इसी की पुष्टि करते हुए कहा है—

'भो भो अज्जा! एण दाव पुरट्ठावणविहारारामदेउलतडाअकूवजूवेहिं अलंकिदा णअरी उज्जइणी, सो अलीअअत्थकल्लवत्तस्स कारणादो एरिसं अकज्ज अणुचिट्ठदित्ति'।[3]

मृ० क० (न० अ०)

हे आर्यजनो! जिसने नगरनिर्माण, बौद्धविहार, उपवन, मन्दिर, तालाब, कूप तथा यज्ञस्तम्भों के द्वारा उज्जयिनी नगरी को अलंकृत किया है

---

१. भवति किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति। (सं० अनु०)

२ Dr Bhandarkar History of the Decan

३ भो भो आर्याः! येन तावत्पुरस्थापनविहारारामदेवकुलतडागकूपयूपैरलङ्कृता नगरी उज्जयिनी, सोऽलीकोऽल्पस्वल्पस्यार्थकल्पवर्तस्य कारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति।

(सं० अनु०)

वह निर्धन होकर करेगा जैसे कुछ धन के निमित्त इस प्रकार का अकार्य करेगा।

वणिक् व्यापार कुशल थे और देश की समृद्धिशीलता उनके कारण बढ़ी-चढ़ी थी। फिर भी जनसमुदाय की धारणा उनके प्रति विश्वसनीय न थी जैसा कि विदूषक की उक्ति से ज्ञात होता है—

> 'दुद्धदुक्खु दुक्करं—अकन्द समुत्थिदापउमिणी, अवंचओ वणिओ, अचोरो, सुवण्णआरो, अकलहो, गामसमागमो, अलुद्धा गणिआत्ति दुक्करं एदे संभावीअन्ति।'[1]

म० क० (प० अंक)

खेदपूर्वक ठीक ही कहा जाता है—बिना कन्द के उत्पन्न हुई कमलिनी, न ठगनेवाला वणिया, न चुराने वाला सुनार, जिसमें झगड़ा न हो ऐसा ग्राम-सम्मेलन और न लोभ करने वाली वेश्या इनको सम्भावना करना कठिन है।

मृच्छकटिक में चारुदत्त ने पुष्पकरण्डक उद्यान के वर्णन के समय वाणिज्य का कितना स्वाभाविक सुन्दर रूपक चित्रित किया है।

> वणिज इव भान्ति तरव, पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
> शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति॥

म० क० (७–१)

इस वाटिका के वृक्ष वणिक के समान शोभित हो रहे हैं। पुष्प विक्रेय पदार्थों के सदृश स्थित हैं। भौंरे राजकीय पुरुषों के समान शुल्क सा लेते हुए भ्रमण कर रहे हैं।

निष्कर्ष

कृषि की भाँति व्यापार भी समाज में जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन माना जाता था। तात्कालिक व्यापारियों ने वाणिज्य से बहुत धन संचय किया और अपना जीवन सुचारु रूप से व्यतीत किया। मृच्छकटिक में तो सामाजिक जीवन के रूप ही दो दिखाये हैं। एक तो धन-वैभवपूर्ण जीवन-यापन और दूसरे निर्धन दशा में दीन-हीन जीवन की झाँकी। मृच्छकटिककार का लक्ष्य ही ऐसा है कि वह यह दिखाने में सफल हो कि दर्प से किस भाँति विषयी वृषी-पति अनेक कठिनाई से ग्रस्त धर्मात्मा को पराजित करने में विफल होता है।

---

1 दुष्कर मद्दुष्यते—अकन्दसमुत्थितापद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौर सुवर्णकार, अकलहोग्रामसमागम, अलुब्धागणिकेति दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते॥

(सं० अनु०)

"Means are Justified by the end." इस में व्यवहार ही औचित्य का प्रतीक है।

यथास्थान मृच्छकटिक में व्यापार की चर्चा और उपमान के रूप में उसको व्यक्त करना इस बात का द्योतक है कि व्यापार जनसमुदाय की रुचि का विषय था। इसमें लोग अपना खूब धन कमाते थे। तात्कालिक व्यापार इतना बढ़ा हुआ था कि वह भूमिगत मार्गों के द्वारा तो होता ही था साथ ही समुद्र द्वारा भी किया जाता था। नवयुवक इसमें सोत्साह भाग लेते थे, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में विचरण करते थे और कहीं-कहीं चिर यात्रा में कमाते थे।

खोये हुए आभूषणों को देने के पश्चात् विदूषक ने इस भाँति सुख अनुभव किया जैसे कि कोई व्यापारी अपने माल को बेचकर सुख प्राप्त करता है। वसन्तसेना और मदनिका की बातचीत में भी वणिक वृत्ति की झलक व्यापारियों का चित्र प्रस्तुत करती है। संवाहक भी अर्थलाभ के विचार से जुआरियों के समुदाय में फँस जाता है और अज्ञानता से द्यूत को अर्थलाभ का व्यापार मान बैठता है।

(घ) पेशों और व्यवसायों की सुव्यवस्था

वर्णव्यवस्था देश की बहुत पुरानी व्यवस्था है और इसके अनुसार कर्मों का विभाजन भी चला आता है। ब्राह्मणों का कार्य केवल पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ एवं दान के रूप में था। वैश्यों का कृषि और व्यापार था। क्षत्रियों का सैनिक जीवन बिताना एवं शासक के रूप में देश की रक्षा करना था। शूद्रों का कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। इसका आरम्भ हुआ तो था अच्छी व्यवस्था को लेकर पर कालान्तर में यह देखा गया कि अपने-अपने कार्यों में समुचित सन्तोष नहीं मिला तो अन्य कार्यों के सम्पर्क से उनमें रुचि की अभिवृद्धि हुई। कभी-कभी कार्य में विशेष अर्थलाभ देखकर भी ब्राह्मण अपने कार्य की अपेक्षा अपर अधिक हो गयी। इस भाँति वर्णव्यवस्था के अनुसार कार्य-व्यवस्था में शिथिलता आ गयी।

मृच्छकटिक काल में ब्राह्मण चारुदत्त के बाबा एक कुशल श्रेष्ठी थे और व्यापार कला में बड़े दक्ष थे। श्रेष्ठी समुदाय की उस समय अच्छी प्रतिष्ठा थी। इनमें से कोई-कोई उस समय राज्यसेवक, न्यायाधीश, लिपिक, पुलिस, निर्णय के अधिकरणिक के सहायक (Ascessor) होते थे। अन्य कर्मचारियों के अतिरिक्त शिल्पकारों एवं पेशेवर चाण्डालों की, दासवृत्तियों की अपनी जगह निश्चित थी। वीरक और चन्दनक नगररक्षक का कार्य करते थे पर जाति के क्रमशः नाई और चमार थे।

वसन्तसेणा भवणदुआरस्स 'सस्सिरीअदा। जं सच्चं मज्झत्थस्स विजणस्स बलादिट्ठिं आआरेदि।'[1] मृ० क० (च० अंक)

वसन्तसेना के भवनद्वार की शोभासंपन्नता निर्धनों के मनोरथ के लिये पीड़ा-दायक है। यह सच में उदासीन जन की दृष्टि को भी बलात् आकर्षित करती है।

धनिक व्यापारियों के विशाल गृह एवं समृद्ध वेश्याओं के वैभवपूर्ण सुन्दर भवन इसके द्योतक हैं कि उस समय भवननिर्माता कुशल राजमजूर, बढ़ई और शिल्पकार रहे होंगे। सुगम और आनन्दपूर्ण जीवन यापन कराने वाला व्यवसाय सुनार का था जिसमें असीमित आय थी। सुवर्ण का उस समय बाहुल्य था। अनेक प्रकार के आभूषण उसके द्वारा तैयार किये जाते थे। उनकी संख्या उस समय अपेक्षाकृत अधिक रही होगी पर वे समाज की दृष्टि में निन्दनीय न थे।

सुवर्ण को कसौटी पर परखने की पद्धति उस समय प्रचलित थी।

शिखाप्रदीपस्य सुवर्णपिंजरा महीतले संधिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमः समावृता सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता॥ मृ०क० (३-१७)

कसौटी पर खींची गयी स्वर्णरेखा के समान सुनहली पीली सेंध के मार्ग से बाहर भूमि पर निकली हुई तथा चारों ओर अन्धकार से आवृत दीपक की शिखा शोभित हो रही है।

दूसरे स्थान पर चेटी से दिखाये गये सुवर्णपात्र को देखकर विदूषक कह उठता है :—

'भोदि सिप्पकुसलदाए ओबन्धेदि दिट्ठिम्।'[2] मृ० क० (पं० अंक)

शिल्प की कुशलता के कारण यह पात्र दृष्टि को आकर्षित कर रहा है। इस कथन से निश्चित है कि पात्रों पर शिल्पकार्य सुन्दर होता था। आभूषण रखने वाले जब ये सुवर्णपात्र देखने में इतने आकर्षक थे तब उनके अन्दर रखे स्वर्ण के आभूषण कितने सुन्दर रहे होंगे।

अधिकरणिक और वृद्धा की बातचीत के अवसर पर वृद्धा के आभूषणों के पहचानने में सन्देह में पड़ जाने पर अधिकरणिक भी कहने लगता है :—

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नूनं
रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य।
दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम्॥ मृ० क० (९-१४)

---

1. वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता। यत्सत्यं मध्यस्थस्यापि जनस्य बलाद्दृष्टि-माकारयति। (सं० अनु०)
2. भवति, शिल्पिकुशलतया आबध्नाति दृष्टिम्। (सं० अनु०)

निश्चय ही कृत्रिम आकार तथा आभूषणों के सौन्दर्य आदि गुणों में अन्य वस्तुयें समान होती हैं क्योंकि शिल्पकार किसी वस्तु को देखकर उसकी रचना का अनुसरण करता है और शिल्पकार के हस्तकौशल के कारण दो वस्तुओं में सादृश्य देखा गया है।

निष्कर्ष

वर्णव्यवस्था के अनुसार कार्य-विभाजन की पद्धति का दीर्घकाल तक पालन सम्भव न हो सका। इसका प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति ऐसी है कि वह सरल कार्य करना चाहता है, अधिक धन भी चाहता है और चाहता है साथ में प्रतिष्ठा। वर्णव्यवस्था के अनुसार शूद्रों का सेवाकार्य कठिन और कम लाभ का है अत वे सदा ही इस सम्बन्ध में संघर्षशील रहे हैं और दूसरे वर्णों के कार्यों को अपनाने के आकांक्षी रहे हैं। इसी प्रकार वर्णों के कार्यों में अव्यवस्था बढ़ती चली गयी। इससे कुछ लोगों ने तो अपने वर्ण के कार्यों को छोड़कर दूसरे वर्णों के कार्य अपनाकर अपेक्षाकृत सफलता का प्रदर्शन किया, पर कुछ कार्यकुशल न होने से दोनों ही ओर से गये अर्थात् अपने कार्य को छोड़ देने से तो उधर अनभिज्ञता बढ़ती गई और दूसरे कार्य में दक्ष न होने से कुशल न बन सके।

राजकीय सेवा में रहने वाले लोगों का आज की अपेक्षा प्राचीनकाल में बहुत अधिक सम्मान था। समाज पर उनका प्रभाव था। मृच्छकटिक में पुलिस और न्यायविभाग इसके प्रतीक हैं। भवनों के निर्माण में शिल्पकारों का चातुर्य वसन्तसेना के गृहवर्णन से ज्ञात होता है। हस्तकौशल के कलाकारों में स्वर्णकार अधिक सम्पन्न थे। आभूषणों का प्रचलन बहुत था। आज की भाँति वस्त्र की ओर रुचि न होकर स्वर्ण के आभूषणों के संग्रह की प्रवृत्ति थी। स्वर्णाभूषणों का आधिक्य और सुन्दर भवन मनुष्यों की समृद्धिशालिता के प्रतीक थे। इस रूप में मृच्छकटिक में वसन्तसेना के वैभव का उल्लेख सर्वथा समुचित है।

अध्याय विश्लेषण

धर्म-विशेष का अपने युग पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मृच्छकटिक काल में वैदिक और बौद्ध धर्म दोनों ही प्रचलित थे। विशेषता यह है कि प्रकरण का आरम्भ वैदिक धर्म सम्बन्धी कर्मकाण्ड में व्रत, उपवास आदि से किया गया है और समाप्ति बौद्धभिक्षु द्वारा विहार में अस्वस्थ वसन्तसेना की सेवा-शुश्रूषा से की गयी है। वर्णव्यवस्था और जातिबन्धन थे अवश्य, पर कठोर नहीं थे। ब्राह्मण एवं यति के प्रति आदरभाव था। ब्राह्मणों का काम अध्ययन अध्यापन था। यज्ञ एवं वेदपाठ से उनके घर सदा गूँजते थे, पर उनमें कभी धर्म व्यापार भी करता था। चारुदत्त के पितामह बड़े भारी सेठ थे। कुछ ब्राह्मणों में छल कपट

का प्रवेश हो गया था। कई ब्राह्मण युवक जुआ और चोरी में अपना समय बिताते थे। उस समय की धार्मिक चर्या आजकल से भिन्न न थी। सन्ध्यावन्दन, बलि देना, देवताओं के मन्दिर में सायंकाल दीपदान आजकल की भाँति उस समय भी प्रचलित थे। इन्द्रध्वज तथा कामदेवोत्सव उस समय सर्वत्र मनाये जाते थे।[1]

चैत्य और विहार भिक्षुओं के लिये बने थे जहाँ रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के लिये व्यवस्था थी। एक ओर बौद्धधर्म की यहाँ यह अच्छाई है वहाँ दूसरी ओर इसके अनुयायी निकम्मे और आलसी बनते जा रहे थे जिनका उद्देश्य विहार में भिक्षु बनकर केवल कालक्षेप करना था। स्त्रियाँ भी भिक्षुणी बन जाती थीं। बौद्ध धर्म यद्यपि सम्मानित था फिर भी बौद्ध श्रमणों का दर्शन अपशकुन माना जाता था। वैश्यों का उस समय अच्छा सम्मान था। वे दूर देशों से व्यापार करते थे। विदेशों में भी उनके जहाज आया-जाया करते थे।

जनसमुदाय में अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित थे। सिद्धों की भविष्य-वाणी पर ही राजा पालक ने आर्यक को बन्दीगृह में डाल दिया था। ज्योतिष के अनुसार मनुष्यजीवन पर ग्रहों का प्रभाव शकुनों का विश्वास प्रचलित था। धर्मशास्त्रों में जनता की आस्था थी अतः समाज आस्तिकता से विमुख न था। आर्थिक दृष्टि से कृषि एवं वाणिज्य का परस्पर सम्बन्ध है। उस समय धान की उपज विशेष की जाती थी। वाणिज्य उन्नत दशा में था और यहाँ से भारतीय वस्तुओं का विदेश में निर्यात होता था और यहाँ न होने वाली वस्तुओं का वहाँ से आयात होता था। उज्जयिनी के धनी सम्भ्रान्त व्यक्ति श्रेष्ठि-चत्वर नामक मुहल्ले में रहते थे। उनका परस्पर संगठन था। धनी-मानी और उदारचेता व्यक्ति सार्वजनिक हित के लिये अनेक प्रशंसनीय कार्य भी करते थे।

इसके अतिरिक्त नाई, चमार, राजगीर, बढ़ई, वास्तुकार इत्यादि का भी उल्लेख है। सुन्दर आभूषणों का निर्माण भी सराहनीय था पर लोभी वणिक् तथा वेश्या की तुलना में मैत्रेय ने इन सुवर्णकारों की कला एवं धूर्तता की चर्चा की है। निपुण शिल्पी भी उस समय थे। इन सब बातों से स्पष्ट है कि उस समय आर्थिक स्थिति प्रगति की ओर थी।

✲

---

१. चारुदत्त—कार्य मैं ---------- दैवतः। मृ० क० (१-१६)

चतुर्थ अध्याय

मृच्छकटिक काल का सामाजिक जीवन

सामाजिक चित्रण की एक झाँकी

संस्कृत भाषा में मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसमें अनुपम रस की कथा है। कवि ने इसमें प्रेम के कथानक को अपनी कुशल रचना से राजनीतिक घटनाओं के साथ संबद्ध किया है। इसका अध्ययन रुचिकर है। तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों जैसे चोर, धूर्त, वेश्या, राज्य के अधिकारी आदि की इसमें पर्याप्त चर्चा है।

इसके पढ़ने से तत्कालीन राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में यही ज्ञात होता है कि उस समय यद्यपि राजतन्त्र था पर राजा प्रजा के विचारों के अनुरूप राज्यमन्त्रियों की सम्मति से, अनेक प्रकार के गुप्तचर विभाग के अधिकारियों से, दूत एवं अनेक सेवकों की सहायता से राज्यकार्य सम्पन्न करते थे। इस दशा का निरूपण करता हुआ न्यायालय में चारुदत्त कहता है :—

> चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
> पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
> नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
> नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

मृ० क० (९-१४)

यह राज्य समुद्र के समान है और भयंकर हिंसक जन्तुओं से घिरा है। यहाँ निरन्तर राज्य दशा पर विचार करता हुआ मन्त्रिमण्डल जल के समान है। फिर इधर-उधर से आने वाले दूत लहरों तथा शंखों के समान हैं। चारों ओर स्थित गुप्तचर विभाग के अधिकारी मगर एवं नाकों के समान हैं। कङ्क पक्षियों जैसे वादी-प्रतिवादी अनेक नाग और अश्वहिंसक के समान हैं। राज्य के अनेक पदाधिकारी हिंसक जन्तुओं के समान प्रजा को भय दिखाते हैं। कायस्थ सर्प के समान हैं। इस भाँति यह राज्यमण्डल हिंसक जन्तुओं के समान घातक पक्षियों से घिरा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय

राजा लोग मन्त्रियों की सम्मति से कार्य किया करते थे। राज्य प्रणाली कुछ गूढ़ होती जा रही थी और प्रजा राजदण्ड से भयभीत रहती थी।

मृत्युदण्ड की प्रथा उस समय प्रचलित थी और न्याय सर्वथा लोकानुकूल एवं निष्पक्ष हुआ करता था। अभियुक्त की इच्छा पर अपराधी की मुक्ति भी हो सकती थी। शकार को यद्यपि मृत्युदण्ड हो गया था पर चारुदत्त ने उसे क्षमा कर दिया। न्याय की व्यवस्था समुचित थी और वहाँ वर्णानुसार सम्मान भी दिया जाता था। चारुदत्त के न्यायालय में उपस्थित होने पर न्यायाधीश ने उनका सत्कार किया, पर दोष सिद्ध हो जाने पर उस जैसे ब्राह्मण को भी मृत्युदण्ड देने में आगा-पीछा नहीं किया। सच में चारुदत्त निर्दोष था और ब्राह्मण को उस समय दण्ड देना भी अनुचित समझा जाता था। इसीलिये चारुदत्त पर जब अभियोग लगाया गया तो वह क्रुद्ध होकर कहने लगा :—

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥ मृ० क० (९-४३)

अरे न्यायाधीश यदि विष, जल, तुला और अग्नि की साखी से मेरा न्याय किया गया है तो आज ही मेरे शरीर पर आरा चलाना चाहिए, अन्यथा शत्रु के वचनों से वशीभूत होकर आप मुझ ब्राह्मण को दण्ड देंगे तो आप अपने सभी पुत्र-पौत्रों सहित नरक में जायेंगे। इस उक्ति से ज्ञात होता है कि उस समय न्याय अग्नि, जल व तुला की साखी से किया जाता था। यदि किसी ब्राह्मण का अन्याय के कारण अनिष्ट हो जाता तो उससे भविष्य में किसी भयंकर विपत्ति की संभावना की आशंका बनी रहती थी। दण्ड का उस समय कैसा विधान था और दोषी को किस प्रकार का दण्ड दिया जाता था इसका भी ग्रन्थ में बड़ा ही स्पष्ट निरूपण किया गया है। शकार के दोषी सिद्ध होने पर दण्ड के समय चारुदत्त से पूछने पर शर्विलक कहता है :—

व्यापाद्यतां मुष्टरयं यदभिः संनाह्यतामथ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा ॥ मृ० क० (१०-५४)

हे चारुदत्त मुझे बतावो कि इस दुष्ट के साथ क्या किया जाय? इसे बाँधकर घसीटा जाय या कुत्तों का भक्ष्य बनाया जाय या शूली पर चढ़ाया जाय या इसके शरीर को आरे से चिरवाया जाय। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय अपराधियों को बहुत कड़ा दण्ड दिया जाता था। वैश्य देश की प्रथा भी उस समय प्रचलित

भी और दिए हुये उधार को वसूल करने के लिये बड़ी कठोरता की जाती थी। दूसरे अंक में संवाहक और माथुर एक दूसरे से अपने उधार लिये हुए धन के विषय में बातचीत करते हैं। माथुर संवाहक से उधार लिया हुआ धन वापस माँगता है जिसे संवाहक देने में असमर्थ है। माथुर इसके लिए उसे अपने माता-पिता और अपने आप उसको बेचने तक की अनुमति देता है। इस घटना से जहाँ एक ओर हास्य का पुट मिलता है वहीं उधार लिए हुये धन को लौटाने के लिए असह्य कठोरता का परिचय भी प्राप्त होता है।

व्यापार उस समय समुन्नत दशा में था। समुद्रयात्रा भी प्रचलित थी जैसा कि चौथे अंक में मैत्रेय ने चेटी से कहा कि क्या तुम्हारे यानपात्र या जहाज समुद्र में चलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जहाज चलाने और समुद्र द्वारा व्यापार करने की सुविधा प्राप्त थी।

बौद्ध धर्म का ह्रास आरम्भ हो गया था। मार्ग में अकस्मात् बौद्ध भिक्षु का दर्शन भी एक अपशकुन समझा जाता था। कुलीन तो बौद्ध भिक्षु को देखकर उस मार्ग को ही छोड़ देते थे। सातवें अंक के अन्त में चारुदत्त और आर्यक बौद्ध भिक्षु को देखते हैं और उसको किसी अनिष्ट की संभावना समझकर अपना मार्ग ही बदल देते हैं।

समाज में उस समय जाति के आधार पर अच्छी-बुरी धारणायें थी। वसन्तसेना एक गणिका महिला थी जो समाज के लिए कलंक समझी जा सकती है। यह जीवन-वृत्ति उस समय जनसमुदाय की दृष्टि में घृणित थी। वैसे तो यह वृत्ति सदा से ही अशोभनकर समझी जाती रही है पर इससे दूसरी ओर समाज में व्यभिचार की मनोवृत्ति जागृत रहती है। चौथे अंक में शर्विलक और मदनिका की बातचीत में स्त्रियों के दोषों की चर्चा आ जाती है और एक स्थान पर तो इन वेश्याओं को श्मशान के पुष्प की भाँति त्याज्य बताया है—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीया ॥ मृ० क० (४-१४)

ये वेश्यायें धन के कारण ही हँसती हैं और रोती हैं। पुरुष को प्रत्येक प्रकार से अपना विश्वास दिलाती हैं परन्तु स्वयं किसी का भी विश्वास नहीं करतीं। अतः सज्जन और कुलीन पुरुषों को चाहिये कि वह वेश्याओं को श्मशान के पुष्पों के समान त्याग दें।

निष्कर्ष

उस समय के समाज में एक अन्तर्द्वन्द्व था। एक ओर दुष्टता की झलक शकार के चरित्र से ज्ञात होती है जिसमें ऐसा षड्यंत्र रचा जिसके द्वारा चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग सिद्ध किया गया पर अंत में उसके भण्डा-फोड़ हो जाने पर चारुदत्त के स्थान पर शकार को वध दण्ड देना निश्चित किया गया। पर दूसरी ओर चारुदत्त की उदारता इस सम्बन्ध में सर्वथा प्रशंस-नीय है जिसने उसे क्षमादान दिया और फाँसी के तख्ते से उतारा। इस भाँति समाज के प्रतिनिधि वसन्तसेना और चारुदत्त दोनों ही चरित्र उच्चता के प्रतीक हैं।

आज की भाँति समाज में उस समय निर्धनता को अभिशाप माना जाता था। गणिकाओं का जीवन भी सामाजिक दृष्टि से घृणित समझा जाता था। पर चारुदत्त और वसन्तसेना का ऐसी ही परिस्थितियों में परस्पर मिलन एक सुन्दर प्रसङ्ग है।

जातिप्रथा के बन्धन

मृच्छकटिक के समय सम्भवतः नगरों में एक जाति अथवा एक पेशे के लोगों के अलग-अलग मोहल्ले थे। द्वितीय अङ्क में चारुदत्त का परिचय देते हुये, संवा-हक ने कहा है—'स खलु श्रेष्ठि-चत्वरे प्रतिवसति' (वह निश्चय सेठों के मुहल्ले में रहते हैं)। जातिव्यवस्था इस समय अपेक्षाकृत कठोर थी। जन्म से जाति मानने की प्रथा चल पड़ी थी। जनता में जातिगत अभिमान उत्पन्न हो गया था। इसकी झलक वीरक और चन्दनक के विवाद में दिखाई देती है। चन्दनक वीरक से कहता है—

> छिन्नशिलावट्टहत्थो पुरिसाण कुच्चगण्ठिसंठवओ ।
> कत्तरिआपुरहत्थो तुमं पि सेणावई जादो ॥[1] मृ० क० (६-२२)

टूटे पत्थर के टुकड़े को उस्तरा पैनाने के लिये हाथ में रखने वाला, पुरुषों की दाढ़ी बनाने वाला तथा कैंची चलाने में व्यस्त हाथ वाला नाई भी तू सेना-पति हो गया।

इसी प्रकार का उत्तर वीरक ने चन्दनक को दिया है।

---

१. दीर्घशिलापट्टहस्तः पुरुषाणां कूर्चग्रन्थिसंस्थापकः ।
कर्तरीव्यापृतहस्तस्त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥ (सं० अनु०)

जादी तुम्ह विसुद्धा मादा मेरी पिदा वि दे पडहो।
दुम्मुह करडअ भादा तुम पि सेणावई जादो ॥[1] मृ० क० (६-२१)

तुम्हारी जाति सब में बड़ी पवित्र है। मेरी (दुन्दुभि) माता है, पटह (ताशा) पिता है, करटक (वाद्यभेद) भाई है। तुम चर्मकार होकर भी सेनापति हो गये। चाण्डालों की उक्ति भी सुन्दर है—

ण हु अम्हे चाण्डाला, चाण्डालकुलम्मि जादपुव्वा वि।
जे अहिभवन्ति साहू ते पावा ते अ चाण्डाला ॥[2]

मृ० क० (१०—२२)

चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भी हम चाण्डाल नहीं हैं, जो सज्जन को अपमानित करते हैं वे पापी हैं और चाण्डाल हैं।

अपने ज्ञान और चरित्र की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मणजाति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। समाज उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था।

चूता से विदूषक ने कहा भी है—

'समीहिद सिद्धिए पउत्तेण बह्मणो अग्गदो कादव्वो'[3] मृ० क० (दशम अङ्क)

अभीष्टसिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए व्यक्ति को चाहिये कि ब्राह्मण को प्रथम स्थान दे।

ब्राह्मण जाति को मनु ने भी महत्त्व दिया है :—

अय हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥ मृ० क० (९-३९)

निश्चय ही यह पापी ब्राह्मण वधयोग्य नहीं है किन्तु क्षतिरहित सम्पत्ति के साथ इसे राष्ट्र से निकाल देना चाहिये।

चारुदत्त को मृत्युदण्ड की आज्ञा शासन का विशेष अधिकार था जो मनु के अनुकूल शासन व्यवस्था का अपवाद था। मनु ने ब्राह्मणों के अपराध करने पर अन्य वर्णों की भाँति उन्हें भी विभिन्न दण्ड निर्धारित किये हैं। यद्यपि ब्राह्मण द्वारा सुवर्ण आदि का चुराया जाना बड़ा पातक माना जाता था, पर शर्विलक

---

१. जातिस्तव विशुद्धा माता मेरी पितापि ते पटहः।
दुर्मुखकरटकभ्राता त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥ (सं० अनु०)

२. न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥ (सं० अनु०)

३. समीहितसिद्धये प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः। (सं० अनु०)

ब्राह्मण चोरी आदि दुष्कर्मों में फँसा हुआ था और ब्राह्मण जाति के लिये कलंक था।

मध्यावसर विदूषक की उक्ति भी विचारणीय है। विदूषक का कहना है—

मम दाव दुवेहिं ज्जेव हस्सं जाअदि। इत्थिआए सक्कअं पठन्तीए, मणुस्सेण अ काअलीं गाअन्तेण। इत्थिआ दाव सक्कअं पठन्ती, दिण्णणवणस्सा विअ गिट्ठी, अहिअं सुसुआअदि। मणुस्सोवि काअलीं गाअन्तो, सुक्खसुमणोदामवेट्ठिदो वुड्ढ-पुरोहिदो विअ मन्तं जवन्तो, दिढं मे ण रोअदि।[1] मृ० क० (तृ० अंक)

मुझे तो दोनों से ही हँसी उत्पन्न होती है। संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री से, मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि गाते हुए पुरुष से। स्त्री तो संस्कृत पढ़ती हुई नवीन रज्जु डाली हुई एक बार प्रसूता गाय की भाँति अधिक सू सू शब्द करती है। मनुष्य भी मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाता हुआ, पुष्पगुच्छमाला पहने हुए, मन्त्र जपते हुए वृद्ध पुरोहित की भाँति सर्वथा अच्छा नहीं लगता।

इसी के आगे विदूषक में ब्राह्मणत्व की जाग्रत होती हुई भावना को देखिये। चेट ने जब विदूषक से चारुदत्त के पैर धोने के लिए कहा तब उसके क्रोध का ठिकाना न रहा।

विदूषक—(सक्रोधम्) भो वअस्स, एसो दासीए पुत्तो भविअ पाणिअं गेण्हेदि। मं उण बम्हणं पाआइं धोआवेदि।[2]

विदूषक—(क्रोधपूर्वक) यह चेट दासी का पुत्र होकर जल पानी ग्रहण करता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धुलवाता है।

वेदों के अध्ययन का अधिकार उस समय केवल ब्राह्मणों को ही था। इस सम्बन्ध में शकार को फटकारते हुए अधिकरणिक ने कहा है :—

'वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता।' मृ० ना० (९-२१)

नीच होकर तू वेद का अर्थबोध करता है तथापि तेरी जिह्वा नहीं गिरी।

---

१. मम तावद् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते। स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता। स्त्री तावत्संस्कृतं पठन्ती, दत्तनवनस्येव गृष्टिः अधिकं सूसूशब्दं करोति। मनुष्योऽपि काकलीं गायन् शुष्कसुमनोदामवेष्टितो वृद्ध-पुरोहित इव मन्त्रं जपन् दृढं मे न रोचते। (सं० अनु०)

२. भो वयस्य एष दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति। (सं० अनु०)

इधर शर्विलक जैसे तो चौर्यकार्य अपनाने से कुमार्गी हो चुका था पर उसने अपने पिता के ब्राह्मणत्व के विषय में कहा है :

'अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिका मदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम् ।'

मृ० क० (तृ० अंक)

मैं चारों वेदों का ज्ञाता दान आदि न लेने वाले का पुत्र शर्विलक नाम का ब्राह्मण वेश्या मदनिका के लिए अनुचित कार्य कर रहा हूँ। यहाँ वेदानुयायी एवं दान-दक्षिणा से दूर रहने वाले ब्राह्मण को अप्रतिग्राहक कहा गया है।

ब्राह्मण अपने कार्यों के अतिरिक्त और जातियों के कार्य करने में भी अपने को स्वच्छन्द समझते थे।

नैतिक पतन एवं रक्षा

मृच्छकटिक में न्यायालय जैसे स्थान में आरम्भ में निर्दोष चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड का आदेश होता है और शकार, जिसने वसन्तसेना को मारने का प्रयास किया, साफ छोड़ दिया जाता है। पर 'सत्यं विजयते नानृतम्' के अनुसार हिन्दुओं का धार्मिक विश्वास अपनी जगह स्थिर है। सत्य सामने आता है और चारुदत्त को वध्यस्थान से हटाकर शकार को उसकी जगह खड़ा कर दिया जाता है। चेटी और कायस्थ ने सत्य पर विशेष बल दिया है—

सच्चेण सुहं क्खु लब्भइ सच्चालावे ण होइ पावम् ।
सच्चंति दुवेवि अक्खरा मा सच्चं अलिएण गूहेहि ॥[1]

मृ० क० (९-३५)

निश्चय ही सत्य से सुख प्राप्त होता है। सत्य कहने पर पाप नहीं होता। सत्य ये दो वर्ण नष्ट न होने वाले हैं। अतः सत्य को झूठ से न छिपाया जावे। आत्मसम्मान की रक्षा के लिए चारुदत्त जैसे निर्दोष व्यक्ति भी प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हैं। जीवन के लिए गिड़गिड़ाना उन्हें पसंद नहीं है। चेटी और कायस्थ के द्वारा चारुदत्त से उसके और वसन्तसेना के सम्बन्ध में पूछने पर चारुदत्त लज्जापूर्वक कहते हैं —

'भोः अधिकृता मया कथमीदृशं वक्तव्यम्, यथा गणिका मम मित्रमिति अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्र्यम् ।' मृ० क० (न० अंक)

---

१ सत्येन सुखं खलु लभ्यते, सत्यालापे न भवति पातकम् ।
सत्यमिति द्वे अक्षरे, मा सत्यमलीकेन गूहय ॥ (सं० अनु०)

है अधिकारीगण मुझसे इस प्रकार कैसे कहा जा सकता है कि वेश्या मेरी मित्र है अथवा यौवन अपराधी है चरित्र नहीं।

चारुदत्त और शकार के संघर्ष को देखकर वसन्तसेना के विरोध में विट और चेट प्रलोभन देने पर भी शकार के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। राजनैतिक स्थिति कुछ भी हो किन्तु सत्यपरायण जनता सज्जन और दुर्जन को पहचानती है। नैतिकता और अनैतिकता की यही परख है। इस सम्बन्ध में शकार और चेट की बातचीत देखिये।

शकार—'के दे पललोए'[1]

चेट —'भट्टके, सुकिद, दुक्किदश्श पलिणामे'[2] मृ० क० (न० अङ्क)

शकार द्वारा वसन्तसेना के वध के प्रस्ताव को विट ने किस भाँति नैतिकता के बोधक में ठुकराया :

पश्यन्ति मो दशदिशो वनदेवताश्च,
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम्।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा,
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृत — साक्षिभूता॥ मृ० क० (८-२४)

दसों दिशायें, वनदेवता, चन्द्रमा और दीप्त किरणों वाला यह सूर्य, धर्म और वायु एवं आकाश तथा मेरा अन्तरात्मा और भूमि जो पाप पुण्य के साक्षी हैं, वे सब मुझे देखती हैं।

परलोक का भय इस रूप में नैतिकता को जन्म देता है और इसका परिणामी प्रभाव सामाजिक जीवन के लिए नैतिकता के नाते सर्वदा उपयुक्त है।

उस समय जहाँ एक ओर मनुष्य को ईश्वर से इतना भय था वहीं शकार जैसे पात्र भी थे जिनका जीवन अनैतिकपूर्ण था। अच्छाई और बुराई से सम्मिश्रित जीवन किसी एक ही दिशा की ओर सर्वथा नहीं चलता यही कारण है कि उच्छृंखल मनोवृत्ति के लोग अपने पर नियन्त्रण नहीं रख पाते।

निष्कर्ष

मृच्छकटिककाल का सामाजिक जीवन नैतिक और अनैतिक दोनों ही मार्गों के साथ चलता दिखाई देता है। अनैतिकता कई रूपों में सामने आती है। जीवन

---

१. कः स परलोकः। (सं० अनु०)

२. भट्टक—सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः। (सं० अनु०)

में भले ही सट्टे भी लगाते हैं पर नैतिक जीवन-यापन करने वाले उनसे दूर रहते हैं। द्यूत और चोरी ने सामाजिक जीवन को विषाक्त बना दिया था। दास एवं दासी प्रथा ने जहाँ एक ओर स्वामियों को अभिमानी एवं क्रूर बनाया वहाँ दूसरी ओर निर्धन और असहाय वर्ग को दीनता और विवशता की चक्की में पीस दिया।

स्त्रीवर्ग की दशा

मृच्छकटिककाल की स्त्रियों की प्रवृत्ति प्रायः विलासितापूर्ण थी। उनका झुकाव शृङ्गार की ओर था। उन्हें आभूषण प्रिय थे। वे नूपुर, हस्ताभरण, करधनी और गले की माला आदि धारण करती थीं। वे आभूषण स्वर्ण के होते थे। पुष्पों से वेणी अलंकृत करने की प्रथा थी। मुख पर किसी प्रकार का पाउडर भी लगाती थीं पर धूता इसका अपवाद प्रतीत होती है। दासी प्रथा इस समय प्रचलित थी। स्त्रियों में सती होने की प्रथा भी थी। पर्दे की प्रथा कम हो चली थी, क्योंकि धूता बिना परदे के ही सबके सामने आती है। चारुदत्त की पत्नी धूता एक आदर्श पतिव्रता कुलवधू थी जिसकी समता किसी से नहीं की जा सकती। वसन्तसेना इसी सौभाग्य के लिये बड़ी लालायित रहती है। उसे बड़ी प्रसन्नता होती है जबकि वह मदनिका को वधू के रूप में शर्विलक को सौंपती हुई कहती है।

संपदं तुमं ज्जेव वन्दणीआ संवुत्ता[1]

'अब तो तुम ही वन्दनीय हो गयी हो'। शर्विलक इस महत्त्व को जानता है। वह भी मदनिका से कहने में संकोच नहीं करता :

सुदृष्टां क्रियतामेषा शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥ मृ० क० (४-२४)

इस वसन्तसेना को भली प्रकार देखो और मुड़कर सिर से इनकी वन्दना करो जिनके द्वारा तुम्हें वधू शब्द का दुर्लभ आवरण प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि गणिका वेश्या की अपेक्षा वधूपद कितना समादृत था पर साथ में यह भी है कि जो स्थान समाज में विवाहित वधू को दिया जाता था वह वेश्या से परिणत वधू को नहीं प्राप्त था। चारुदत्त की विवाहिता पत्नी तो धूता थी। गणिका वसन्तसेना को तो उसके प्रेम के कारण बाद में वधूपद में ग्रहण किया गया।

---

१. सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता। (सं० अनु०)

वेश्याओं को गणिका, प्रकाशनारी एवं सामान्य विवाहिता गृहस्थ स्त्रियों को कुलवधू अथवा अप्रकाशनारी कहते थे। गृहस्थ नारियाँ स्वभाव की मृदुल एवं लज्जाशील होती थीं। वे घरों के अन्दर रहती थीं। विशेष अवसरों पर जब कभी वे बाहर निकलती थीं तो घूँघट करके चलती थीं। धन के सम्बन्ध में वे पुरुषों के आश्रित होती थीं। इस सम्बन्ध में चारुदत्त ने विदूषक द्वारा दी हुई अपनी पत्नी धूता की रत्नावली को ग्रहण करते हुए कहा है —

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सार्थतः पुमान् ॥ मृच्छकटिक (३-२७)

अपने भाग्य से नष्ट धन वाला चारुदत्त स्त्री-धन से अनुगृहीत किया जा रहा है। यह कष्ट-स्थिति है क्योंकि धन न होने से पुरुष नारी के तुल्य है और धनयुक्त होने से नारी पुरुष के समान है। धूता को रत्नावली अपनी माता से प्राप्त हुई थी इसकी चर्चा इस श्लोक से कुछ पूर्व धूता ने स्वयं चेटी से की है। कुलाङ्गनाओं का यह स्त्रीधन कहलाता था जिसे वे आपत्तिकाल में काम में लाती थीं।

'इअं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणावली चिट्ठदि'[1]।

मृच्छकटिक (छ० अंक)

यह मेरी माता के घर से प्राप्त एक रत्नावली है। आभूषणों के बदले वसन्तसेना को चेटी द्वारा अपनी रत्नावली लौटाते हुए धूता ने कितने सुन्दर विचार व्यक्त किये हैं :—

अय्यउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदा। ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुम्।
अय्यउत्तो य्येव मम आहरणविसेसो त्ति जाणादु भोदी ॥[2]

मृ० क० (ष०अंक)

आर्यपुत्र ने आपको यह रत्नावली प्रसन्न होकर प्रदान की है। मेरा इसको लेना उचित नहीं है। आप यह समझ लें कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष आभूषण हैं। धूता को अपने स्वामी के शरीर की और साथ ही उससे बढ़कर चरित्र की कितनी चिन्ता है। इसके लिए वह अपना सर्वस्व त्यागने में भी संकोच नहीं करती। वह चेटी से कहती है—

---

१. इयं च एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति। (सं० अनु०)
२. आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता। न युक्तं मम तां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती।

हञ्जे किं भणासि—अपरिक्खदसरीरे अज्जउत्तो त्ति अज्ज वि सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चरित्तेण।[1] मृ० क० (१० अंक)

चेटि! क्या कहती हो कि आर्यपुत्र का शरीर चोट रहित है। इस समय वह शरीर से क्षत हुए, चरित्र से नहीं। धूता अपने पति के शोकावेग में चरणों से और वस्त्र के आँचल में लिपटते हुए अपने पुत्र को हटाती हुई उसकी चिन्ता नहीं करती और आवेश में आकर अपने पति का अमंगल सुनने से पूर्व चिता की ओर झपटती है।

'धूता (सास्रम्) जाद मुञ्चेहि मम। मा विग्घं करेहि। भीआमि अज्ज-उत्तस्स अमङ्गलाअण्णणादो।[2] मृ० क० (१० अंक)

धूता—(अश्रुसहित) पुत्र, मुझे छोड़ दो, विघ्न न करो। मैं आर्यपुत्र के अमंगल को सुनने से डरती हूँ।

यह कहती हुई जब वह आँचल खींचकर अग्नि की ओर जाती है तो उसका पुत्र रोहसेन खिसककर रह जाता है। इस पर विदूषक कहता है:

विदूषक—'भोदीए दाव बम्हणीए भिण्णरहेण चिदाहिरोहणं पावं उदाहरन्ति रिसीओ'।[3] मृ० क० (१० अंक)

आप जैसी के द्वारा ब्राह्मण पति से पृथक् चितारोहण को ऋषिगण पाप समझते हैं। यह सुनकर भी साध्वी धूता कहती है —

'वरं पावाचरणं, ण उण अज्जउत्तस्स अमङ्गलाअण्णणम्'।[4] मृ० क० (१० अंक)

यह पापाचरण अच्छा है, पर अमंगल का सुनना अच्छा नहीं।

गृहिणी धूता वास्तव में अपने पति की सच्ची सहयोगिनी और अमूल्य रत्न थी। उसने अपने पति के वियोग की आशंका मात्र से अपने जीवन को पहले ही समाप्त करना उचित समझा फिर अपना अमूल्य आभूषण रत्नावली तो वह पहले ही दे चुकी थी। भारतीय नारी का यह एक अनुपम उदाहरण है।

---

१. चेटि—किं भणसि—अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र इति अद्यापि स शरीरेण परिक्षतः। न पुनश्चरित्रेण।

२ जात मुञ्च माम्। मा विघ्नं कुरुष्व। बिभेम्यार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनात्। (सं० अनु०)

३ भवत्यास्तावद्ब्राह्मण्या भिन्नरथेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः। (सं० अनु०)

४ वरं पापाचरणम्। न पुनरार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनम्। (सं० अनु०)

पतिपरायणा धूता की जितनी सराहना की जाय थोड़ी है। उसने यह जानते हुए भी कि उसका पति गणिका वसंतसेना से प्रेम करता है उसके मन में उसके प्रति केशमात्र अन्तर नहीं आता। विस्मय और प्रशंसा की बात तो यह है कि वह वसन्तसेना से भी ईर्ष्या नहीं करती। अन्त में वसंतसेना को अपने सामने देखकर वह कहती है :—

'दिट्ठिआ कुसलिणी बहिणिआ'[1] मृ० क० (१० अंक)

भाग्य से बहन कुशलपूर्वक है।

सपत्नीत्व के भाव की लेश उसके हृदय के किसी कोने में नहीं पायी जाती। इस सम्बन्ध में वसन्तसेना का भी सौहार्द सराहनीय है जिसने अपने त्याग से अपनी उदारता का परिचय दिया है। धूता प्रतिभाशालिनी थी। चारुदत्त ने जब कहा—

हा प्रेयसि प्रेयसि विद्यमाने,
कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत्।
अम्भोजिनीलोचनमुद्रणं किं,
भानावनस्तङ्गमिते करोति ॥

हे प्रियतमे धूते, पति के जीवित रहते ही तुमने यह क्या कठोर अग्नि-प्रवेश का निश्चय कर लिया था? क्या सूर्यास्त हुए बिना ही कमलिनी अपनी नेत्ररूपी पखुड़ियों को मूँद लेती है।

धूता ने कमलिनी जैसा चेतन और अचेतन का अन्तर दिखाते हुए कितना सुन्दर उत्तर दिया है

'अज्जउत्त, अदोज्जेव सा अचेदणेत्ति वुच्चीअदि'[2] मृ० क० (१० अंक)

'आर्यपुत्र, इसीलिये वह अचेतन कही जाती है।' धूता का आशय यह था कि यदि वह भी अचेतन कमलिनी की भाँति जो सूर्यास्त के बाद मुरझाती है अपने प्राण अपने पति की प्राणसमाप्ति के पश्चात् विसर्जन करती तो फिर दोनों में अन्तर ही क्या रह जाता? धूता सचेतन है। अतः उसके लिये यही उचित था कि ऐसे अवसर के आने से पूर्व ही संसार से विदा ले ले।

मृच्छकटिककाल में दुर्लभ वधूरूप सौभाग्य पाने के लिये गणिका और वेश्याएँ बड़ी उत्सुक रहती थीं, और, इसके लिये सर्वस्व न्योछावर करने को उद्यत

---

१. दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी। (सं० अनु०)

२. आर्यपुत्र, अतएव साऽचेतनेति उच्यते। (सं० अनु०)

रहती थीं। मदनिका और वसन्तसेना ने अपने जीवन की सफलता का उद्देश्य ही इसे माना और इसकी प्राप्ति के बाद ही अंत किया।

स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग था जो दासियों के नाम से प्रसिद्ध था जिन्हें भुजिष्या भी कहा गया है। ये क्रीत होती थीं और उनका कार्य सेवा था। ये निश्चित रूप से अपने स्वामी और स्वामिनियों पर आश्रित थीं। इनका स्तर स्वभावतः बहुत निम्न था। अनाथ जैसा समझकर उनके साथ बहुत दयापूर्ण व्यवहार किया जाता था। उनके स्वामी और स्वामिनियों को रुपया देकर उनके सेवाकार्य से उन्हें मुक्त भी कराया जा सकता था। मदनिका इसका प्रमाण है।

ऐसा स्त्री-वर्ग दयनीय था, फिर भी झुँझलाया हुआ शर्विलक किसी की उक्ति दुहराते हुए वेश्यालय की स्त्रियों के विषय में कहने लगता है—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति,
न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो
न वेशजाताः शुचयस्तथांगना॥ मृ० क० (४-१७)

पर्वत की चोटी पर कमलिनी नहीं उगती है, घोड़े के भार को गधे नहीं ले जा सकते हैं, खेत में बिखराये हुए जौ धान नहीं हो जाते। इसी भाँति वेश्यालय में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं।

विट ने भी वसन्तसेना से कहा है—

'विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र संतिष्ठते'। मृ० क० (५-१४)

नीचकुल में उत्पन्न युवती के समान बिजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है।

वैसे सामान्यतः स्त्रियाँ अपने पतियों में आस्था रखती थीं पर यह भी संभव है कि दुर्बल पतियों की स्त्रियों को कोई दूसरा भगाकर ले जाता हो। वसन्तसेना से विट ने एक रूपक द्वारा इसको व्यक्त किया है।

ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता। मृ० क० (५-२०)

निर्बल पति वाली स्त्री के समान चाँदनी का मेघों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसमें स्त्रियों का विवेचन मन भरकर किया गया है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि मृच्छकटिककार का उद्देश्य ही

मद्ध रहा हो। समाज में सभी आदर्श पतिपरायणा धूता जैसी गृहिणियाँ नहीं थी जो परपुरुषों के सम्पर्क से मुग्ध होकर अपने निर्बल पतियों को छोड़कर चल देती थी। शर्विलक और वसन्तसेना के कथनों से इसकी पुष्टि होती है।

स्त्रियों का एक वर्ग गणिका और वेश्या रूप में था जिसका कार्य नाच-गाने और आमोद-प्रमोद से पुरुषों का मनोरंजन करना था, पर ऐसी कम ही रही होंगी, क्योंकि वसन्तसेना की इच्छा तो आरम्भ से ही कुलवधू होने की रही। उसने तो इस नाते किसी धनी को अपना प्रियतम नहीं चुना जिससे समाज यह न कह सके कि वसन्तसेना धन के लालच में फंसकर वधूरूप को प्राप्त हो रही है। उसने तो धार्मिक ब्राह्मण और साथ ही निर्धन चारुदत्त से विवाह किया जो इस बात का प्रतीक है कि उसकी इच्छा केवल एक सज्जन की कुलवधू होने की थी।

समाज की निर्धनता कहीं-कहीं इतनी बढ़ी हुई थी कि धन के लिये कुमार और कुमारियाँ बिक जाते थे जो क्रीतदास एवं क्रीतदासियाँ कहलाते थे। ये क्रीतदासियाँ धन के बदले में ही छुड़ाई जा सकती थी। यद्यपि इन्हें कोई विशेष कष्ट न था और किसी-किसी का जीवन ही इस रूप में समाप्त हो जाता था पर यह निश्चय है कि इस प्रकार के जीवन को सम्भवतः वह पसन्द न करती हों। मदनिका को वसन्तसेना के यहाँ कोई कष्ट न था पर शर्विलक की वधू होने पर न केवल उसने ही आनन्द की अनुभूति की, वरन् वसन्तसेना ने भी उसे सोल्लास अपने यहाँ से विदा किया।

स्त्रियों का सर्वत्र सम्मान था। धूता और वसन्तसेना का सौत का सम्बन्ध परस्पर प्रीति, त्याग एवं विनीतता का द्योतक है। धूता कुलक और प्रतिमा-शालिनी थी जिसका उदाहरण ढूंढने पर भी मिलना सम्भव नहीं है। वसन्तसेना त्याग की जीती-जागती मूर्ति थी और गणिका होते हुए भी उत्तम विचारों वाली थी। अपने जीवन को खतरे में डालकर भी वह अपने विचारों में दृढ़ रही। मदनिका ने अपनी क्षमता से शर्विलक को ऐसा आकर्षित किया कि वह भी वधू बन गयी और चलते समय वसन्तसेना भी उससे प्रसन्न रही। यहाँ तक कि क्रीत-दासी होते हुए भी और शर्विलक के द्वारा आभूषण देने पर भी वसन्तसेना ने ऐसी उदारता का परिचय दिया कि शर्विलक अवाक् रह गया। मदनिका की युक्ति सफल हो गयी।

तत्कालीन विवाह-पद्धति

मानव आरम्भ से ही अपनी आवश्यकताओं के पूर्ण करने में प्रयत्नशील रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व एक समय

ऐसा भी था जब वह पशुओं को मारकर अपनी आहार पूर्ति पूर्ण करता था और वृक्षों की छाल से अपने शरीर को ढकता था। शनैः शनैः मनुष्य के जीवन में विकास होता गया और उसके बढ़ते हुए ज्ञान ने अपना एक ऐसा अस्तित्व स्थिर किया जिसमें उसका जीवन पशु-जीवन से नितान्त भिन्न हो गया। कृषि के क्रम में विभिन्न अन्नों की उपज सामने आयी और अनेक प्रकार के फल-फूलों के पौधे भी दिखायी देने लगे। वस्त्र का भी प्रचलन हुआ। अब मानव का अपना एक समाज बन गया जिसने आगे बढ़कर वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का क्रम आरंभ किया। मानव का यह विकास उसकी ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित था। विषयोन्मुख इन्द्रियों से उसने जीवन के आनन्द का अनुभव किया। प्रारम्भ में जिस आधार पर सन्तति परम्परा चली वह एक इन्द्रियजन्य सुखपूर्ति मात्र थी। वहाँ कुछ सीमायें ही निर्धारित और बाधक थीं। स्मृतिकाल में मनु ने वर्णव्यवस्था के साथ वैवाहिक बन्धन पर भी प्रकाश डाला। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को वैवाहिक अधिकार देते हुए यह निश्चित किया कि प्रत्येक उच्च वर्ण क्रमशः अपने से निम्न वर्णों की लड़कियों से विवाह कर सकता है। धीरे-धीरे यह बन्धन परिष्कृत रूप में दृढ़ होता गया और विवाह अपने ही वर्ण तक सीमित रहा। इस भाँति विवाह मनुष्य जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना और अपेक्षित वस्तु बन गया।

विवाहित स्त्रियाँ सती भी होती थीं। धूता का सती होने का एक प्रमाण है। वे पतिपरायणा होती थीं। आरम्भ से ही उनका वातावरण तदनुकूल होता था। हिन्दुओं के षोडश संस्कारों में विवाह संस्कार आज भी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एक विशेष पद्धति के आधार पर वैदिक मंत्रों और मांगलिक श्लोकों से यह प्रथा पूर्ण की जाती है। अग्नि के चारों ओर वर-वधू परिक्रमा करते हैं और आजीवन प्रेमबन्धन के लिये कुछ प्रतिज्ञाएँ भी करते हैं। इसकी झलक निम्न श्लोक से मिलती है। प्रसङ्गवश चारुदत्त ने विवाह और चिता-सम्बन्धी अग्नि का विवेचन करते हुए कहा है —

'एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः॥' मृ० क० (१–११)

एक कार्य में नियुक्त होने पर भी इन दोनों का स्वभाव समान नहीं है। जिस भाँति विवाह और चिता की दोनों अग्नियाँ स्वभाव में समान नहीं होतीं। वसन्तसेना के जीवित होने से विमान पर चारुदत्त को इतनी प्रसन्नता हुई कि उसे सामने देखकर वह अपना प्राणदण्ड भूल गया और अपने वध में प्रयोग

लाल वस्त्र, वध्यमाला और वध्यस्थान के बाजे की ध्वनियों को विवाह का प्रतीक समझने लगा। तभी तो उसने कहा है :—

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥ मृ० क० (१०–४४)

प्रिया के आगमन से यही लाल वस्त्र वर के वस्त्रों के समान और वध्यमाला वरमाला के समान शोभित है तथा इसी प्रकार वध के बाजों की ध्वनियाँ विवाह के बाजों की ध्वनियों के समान हो गयी हैं।

कारागार से भागा हुआ आर्यक उधर जाती हुई बैलगाड़ी के सम्बन्ध में अनुमान लगाता है जैसे कि यह वधू की सवारी हो।

अपेद् गोष्ठीयान न च निषदबीकैरधिगतं
वधूसयान वा तदभिगमनोपस्थितमिदम् ॥ मृ० क० (६–४) पूर्वार्द्ध

क्या यह किसी सामाजिक समारोह में जाने वाली सवारी है जो कुटिलाचरण करने वालों से अधिष्ठित नहीं है अथवा यह वधू की सवारी है जो उसे ले जाने के लिये उपस्थित हुई है।

इससे स्पष्ट है कि विवाहित पत्नी सज-धज और समारोह के साथ अपने पिता के यहाँ से विदा होकर अपने पति के नये घर में प्रवेश करती थी।

विवाहिता होने के पश्चात् कुछ विशेष कारणों से स्त्रियों का अपहरण भी संभव था।

वसन्तसेना से विट के संभाषण में इसकी झलक मिलती है।

'ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता' । मृ० क० (५–२०)

दुर्बल पति वाली नारी के समान चाँदनी का मेघों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है।

इस अपहरण में स्त्रियों के अपने पति का दुर्बल होना ही कारण रहा। अतः समाज में दुर्बल पति हेय दृष्टि से देखे जाते थे और अपहृत नारियाँ विवाहित सम्बन्ध का अपवाद समझी जाती थी।

निष्कर्ष

मनुष्य की आवश्यकताएँ कुछ तो अनिवार्य और कुछ उसकी इच्छा पर होती हैं। भोजन, वस्त्र आदि जिस भाँति उसके लिये अनिवार्य हैं ठीक उसी प्रकार

नैतिकतापूर्ण विवाहित जीवन बिताना भी उसके लिए परमावश्यक है। इसी से समाज में सदाचार और पारस्परिक स्नेह एवं प्रेम की परम्परायें पनपती हैं। पिछला एक लम्बा समय ऐसा बीता जब कि वैवाहिक बन्धन नहीं थे। आगे चल-कर वर्ण-व्यवस्था एवं जातिगत बन्धन से इसका रूप दृढ़ होता गया। फिर धर्म का अंग मानकर इसे शास्त्रीय रूप दिया गया। मनु और याज्ञवल्क्य इस पर पहले से ही पर्याप्त प्रकाश डाल चुके थे।

मृच्छकटिककाल में जातिगत भेदों की मान्यता के साथ प्रेम विवाह को प्रोत्साहन दिया गया है। गणिकाओं और निम्नवर्ग की महिलाओं से विवाह किये जाने लगे, पर इस सम्बन्ध में खुली छूट न थी और ऐसा करना एक साहस का प्रतीक माना जाता था। यह निश्चय है कि समाज ने इसे प्रोत्साहन नहीं दिया पर दूसरी ओर समाज तथा समय-समय पर हमारा बदलता हुआ शासन उसपर कोई रोक थाम न लगा सका।

गणिका जीवन और वेश्यावृत्ति

मानव आरम्भ से ही कलाप्रेमी रहा है। नृत्य, संगीत और वादन कलायें ऐसी हैं जिन की ओर उसकी रुचि स्वाभाविक है। स्त्रियों का कण्ठ मधुर होता है फिर भी इस कला के लिये अभ्यास की आवश्यकता है।

वेश्या शब्द की व्युत्पत्ति है—वेशेन पण्ययोगेन जीवति इति वेश्या। यह शब्द गणिका, रण्डी अथवा बाजारू स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में इसकी चर्चा आती है।[1] इससे ज्ञात होता है कि स्मृतिकाल में भी स्त्रियों का एक निम्न वर्ग था जो धनी पुरुषों के मनोरंजन के लिये संगीत-वादन एवं नृत्यकला का प्रदर्शन करता था। आगे चलकर यही वर्ग आमोद प्रमोद का साधन बन गया। वेश्या और गणिका में भी अन्तर समझा जाता है। वेश्यायें अपने रूप यौवन द्वारा धन कमाने वाली मानी जाती थीं तो गणिकायें विशेष रूप से गाने और नाचने की कला का ही प्रदर्शन करती थीं। इस विषय पर विशद प्रकाश दशरूपक के टीकाकार ने डाला है। उन्होंने कहा है—वेशो भृतिः, सोऽस्या जीवनमिति वेश्या। वैदग्ध्ययोगो गणिका।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति १।१४१।
2. नायिका तु त्रिधा ज्ञेया कुलजा गणिका तथा।
वर्णविशेषेण कुलजा वेश्या ख्याति इव गणिका॥१४१॥
कुलवाम्यस्वरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।
आदि प्रकरण वेश्या नयोर्न कुलजा कुलम्॥१-४२॥—दशरूपक

सामान्य वेश्याओं में श्रेष्ठ, रूप, शील और गुणों से युक्त वेश्या गणिका कही जाती थी। वर्तमान काल में ऐसा कोई विशेष वर्ग देखने में नहीं आता, अतः सब वेश्याएँ कही जाती हैं। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना जन्म से गणिका है पर उसका आचरण कुलजा जैसा है। वह इस कर्म से घृणा करती है और अपना जीवन एक कुलीन सती नारी की तरह आर्य चारुदत्त से विवाह करके बिताना चाहती है।

मृच्छकटिक में अधिकतर वसन्तसेना के लिए गणिका शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ स्थानों पर ही उसे वेश्या कहा गया है। गणिका और वेश्याओं से सम्बन्ध समाज की दृष्टि में अच्छा नहीं माना जाता है। यही कारण है कि प्रथम अङ्क में न्यायाधीश चारुदत्त से पूछते हैं—आर्य गणिका तव मित्रम्? तो चारुदत्त लज्जित हो जाता है। अतः यह निश्चय है कि वेश्याओं को समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विदूषक ने भी कहा है—

'गणिआ णाम पादुअन्तरप्पविट्ठा विअ लेट्ठुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि।'[1]

मृ० क० (५० अङ्क)

गणिका जूते में पड़े हुई कङ्कड़ी के समान है जो बड़ी कठिनाई से निकाली जा सकती है।

मृच्छकटिककाल में गणिकाएँ बड़ी सम्पन्न थी। उनके अपने विशाल भवन थे जिनमें सुख-समृद्धि की सभी सामग्रियाँ उपलब्ध थी। वे हाथी भी रखती थी। विदूषक ने वसन्तसेना के दूसरे प्रकोष्ठ को देखते हुए कहा है :—

'एसो अ कुरम्बुअतेल्लमिस्सं पिण्डं हत्थीपरिअणोवणीदं मेत्तपुरिसेहिं।'[2]

मृ० क० (च० अङ्क)

इधर महावतों द्वारा भात से घिरे हुए तेल (अथवा घी) से मिश्रित पिण्ड हाथी को खिलाया जा रहा है।

विदूषक ने वसन्तसेना के सातों प्रकोष्ठों को देखा और एक से एक सुन्दर एवं अद्भुत वस्तुओं को देखकर अवाक् रह गया और कहने लगा—

एवं वसन्तसेणाए बहुवुत्तन्तं अट्ठप्पओट्ठं भवणं पेक्खिअ जं सच्चं जाणामि एकत्थं विअ तिविट्ठअं दिट्ठम्।[3] मृ० क० (च० अ)

---

१. गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। (स० अनु०)

२. एतच्च कुरम्बुतैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः। (स० अनु०)

३ एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि एकस्थ-मिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। (स० अनु०)

इस प्रकार वसन्तसेना के बहुत सुगन्ध वाले भवन, पशु पक्षी युक्त आठों प्रकोष्ठों को देखकर मुझे सचमुच विश्वास हो गया है कि मैंने एक ही जगह स्थित स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताललोकमय त्रिभुवन को देख लिया है।

गणिका अथवा वेश्यावर्ग को यह सारा धन आमोद-प्रमोद में मस्त धनिक वर्ग से प्राप्त होता था। इन वेश्याओं का धनिकों के धन से प्रेम था न कि धनी व्यक्तियों से। धनिकों का सारा धन अपहरण करके ये उनसे अपना सम्बन्ध समाप्त कर देती थीं।

विदूषक ने भी कहा है—

'अवमाणिद णिद्धण कामुआ विअ गणिआ'।[1] मृ० क० (प्र० अङ्क)

निर्धन कामुकों को अपमानित करने वाली वेश्या जैसी स्त्रियाँ निन्द्य हैं।

विट ने भी इस सम्बन्ध में वसन्तसेना से सम्भाषण करते हुए अपने मनोगत विचार व्यक्त किये हैं—

> तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो
> विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव।
> वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं
> सममुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च॥ मृ० क० (१-३१)

युवकों से सेवित वेश्यालय को स्मरण करो। पथ में उत्पन्न होने वाली लता के समान तुम अपने को समझो। बाजार में धन देकर खरीदी जाने वाली वस्तु के समान तुम देह धारण करती हो अतः रसिक और अरसिक दोनों से भाव समान व्यवहार करो।

और भी

> वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः,
> फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
> ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे,
> त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥ मृ० क० (१-३२)

विद्वान् ब्राह्मण तथा नीच मूर्ख भी तालाब में स्नान करते हैं। जिस विकसित लता को मयूर ने झुकाया है उसी को कौआ भी झुकाता है। जिस नौका से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पार उतरते हैं उसी से शूद्र आदि भी पार होते हैं। तुम वेश्या हो और तालाब, लता तथा नौका के तुल्य हो, अतएव प्रत्येक मनुष्य का तुम समान आदर करो।

---

१. अवमानिता निर्धनकामुका इव गणिका। (सं० अनु०)

चारुदत्त ने भी कहा है —

'यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जन' । मृ० क० (५-९) पूर्वार्ध

जिसकी सम्पत्ति है उसी की यह कामिनी है क्योंकि यह गणिका समुदाय तो धन के वशीभूत है।

अन्य पुरुषों के गृहों में गणिकाओं के लिए प्रवेश की आज्ञा न थी। इससे वे मन ही मन अपना बड़ा अपमान समझती थी। चारुदत्त द्वारा रदनिका के रूप में समझी जाने वाली वसन्तसेना ने स्वयं कहा है —

मन्दभाइणी क्खु अहं तुम्हे अब्भन्तरस्स'।[1] मृ० क० (प्रथम अंक)

तुम्हारे अन्तःपुर के प्रवेश के लिए मैं मन्दभागिनी हूँ।

कभी कभी सम्मानित पुरुषों द्वारा भी गणिकायें और वेश्यायें बलात् व्यायामों और यात्राओं में भी पड़ जाती थी। गणिकायें कलाओं में प्रवीण थी। वसन्तसेना का चतुर्थ प्रकोष्ठ इसका प्रतीक है।

विट ने वसन्तसेना के स्वर-परिवर्तन को देखकर कहा है :—

एष रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ मृ० क० (१-२२)

इस वसन्तसेना ने नाट्यशास्त्र में प्रवेश तथा कलाओं की शिक्षा के द्वारा दूसरों के ठगने की कुशलता के कारण स्वर-परिवर्तन में निपुणता प्राप्त कर ली है।

चारुदत्त ने भी गणिकाओं के पुरुषों के समान बहुत बोलने की निन्दा करते हुए वसन्तसेना के विषय में कहा है—

पुरुष परिचयेन च प्रगल्भम्,
न वदति यद्यपि भाषते बहूनि। मृ० क० (१-५९)

यद्यपि यह गणिका है और बहुत बोलने वाली है तथापि मेरे जैसे पुरुषों की उपस्थिति में धृष्टता से नहीं बोलती है।

इसी से मिलता हुआ कथन वसन्तसेना का भी मदनिका के प्रति है—

'हञ्जे! कि वेसवास दाक्खिण्णेण मन्तेसि, एव्वं भणासि'।[2] मृ०क० (च० अंक)

हे चेटि मदनिके! क्या वेश्याकुल में रहने से चातुर्य सीखने के कारण ऐसा कहती हो?

मदनिका ने भी वसन्तसेना से ही इसका उत्तर प्राप्त किया है।

---

१. मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य। (सं० अनु०)

२. चेटि! किं वेशवासदाक्षिण्येन मदनिके एवं भणसि। (सं० अनु०)

'अज्जए ! किं जो ज्जेव जणो वेसे पडिवसदि, सो ज्जेव अलीअ दक्खिणो होदि ।'[1] मृ० क० (च० अङ्क)

आर्ये क्या जो भी व्यक्ति वेश्यालय में रहता है वह असत्य बोलने में कुशल होता है ।

वसन्तसेना ने भी सदा ही उत्तर दिया है ।

'हञ्जे ! णाणापुरिससंगेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो होदि ।'[2]

मृ० क० (च० अ०)

चेटि ! विभिन्न पुरुषों के संसर्ग के कारण वेश्यायें असत्यपटु हो जाती हैं ।

वेश्याओं के सम्बन्ध में जनसाधारण की ये धारणायें अवश्य थीं, पर गणिका वसन्तसेना इसका अपवाद थी । वह धन के बजाय गुणों का मूल्य आँकती थी । धन का उसकी दृष्टि में कोई महत्त्व न था । विट द्वारा वेश्यावृत्ति से सम्बन्धित विवेचन सुनकर वसन्तसेना ने कहा है—

'गुणो क्खु अणुराअस्स कारणम्, ण उण बलक्कारो ।'[3] मृ०क०(प्र०अ०)

प्रेम का वास्तविक कारण गुण है न कि बलात्कार ।

चारुदत्त ने भी इसका समर्थन किया है —

'गुणहार्यो ह्यसौ जनः' । मृ० क० (पं० अङ्क)

यह वसन्तसेना गुणद्वारा वश में करने योग्य है ।

सच है वसन्तसेना ऐसी ही थी । उसने अपनी माता का यह संदेश पाकर कि राजा का साला संस्थानक दस हजार सुवर्ण के आभूषणों को लेकर उसे ले जाने की प्रतीक्षा में है, अपनी माता से कहने के लिए उसने मुँह तोड़ उत्तर दिया है ।

'एव्वं विण्णाविदव्वा—जइ मं जीवन्तीं इच्छसि, ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए आणाविदव्वा' ।[4] मृ० क० (च० अ०)

यह कहना—यदि मुझे जीवित चाहती हो तो मुझे माताजी के द्वारा फिर आज्ञा न मिलनी चाहिये ।

---

१. आर्ये ! किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति, स एवालीकदाक्षिण्यो भवति । (स० अनु०)

२. चेटि ! नानापुरुषसङ्गेन वेश्याजनोऽलीकदाक्षिण्यो भवति । (स० अनु०)

३. गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलात्कारः । (स० अनु०)

४. एवं विज्ञापयितव्या—यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदेवं न पुनरहं मात्राऽऽज्ञापयितव्या । (स० अनु०)

वेश्यावृत्ति से वसन्तसेना को कितनी घृणा थी यह इससे स्पष्ट हो जाता है। उसकी कुलवधू होने की दबी हुई लालसा उस समय स्पष्ट हो जाती है जब वह मदनिका को वधू रूप में शर्विलक के साथ सानन्द विदा करती है। वसन्तसेना ने मदनिका को गाड़ी पर चढ़ाते हुए कहा है—

'संपदं तुमं ज्जेव वन्दणीआ संवुत्ता'[1] मृ०क० (४ अंक)

अब तुम ही वन्दनीय हो गई हो।

कभी-कभी राजाओं की ओर से भी वेश्याओं को उनके अच्छे गुणों के कारण कुलवधू की प्रेरणा मिलती थी और तब वे अपने इच्छानुसार नियमानुकूल विवाह कर सकती थी।

शर्विलक ने वसन्तसेना से यही व्यक्त किया है—

'आर्ये वसन्तसेने, परितुष्टो राजा भवती वधूशब्देनानुगृह्णाति।'

आर्ये वसन्तसेना, प्रसन्न हुए राजा आपको वधूशब्द से अनुगृहीत करते हैं।

निष्कर्ष

मृच्छकटिककार ने इस प्रकरण में वेश्याओं की समृद्धि अवश्य दिखाई है पर साथ ही तत्कालीन वेश्यावर्ग समाज की दृष्टि में हीन जीवन बिताने की अपेक्षा विवाहित जीवन बिताकर कुलवधू के रूप को मान्यता देता था। मनोरंजन एवं नाट्यसंगीत का माध्यम ही ये चिरकाल से रही है। उच्चकोटि के आदर्श स्वस्थ समाज में ही, वेश्यावृत्ति की समाप्ति कदाचित् सम्भव है।

सामाजिक रीतिरिवाज, उपासना, व्रत, उत्सव एवं मनोरंजन

मानव का स्वभाव रहा है कि वह दूसरों के सम्पर्क में आवे। धीरे-धीरे मनुष्य समुदाय को भोजन, वस्त्र एवं आचार-विचारों में इस प्रकार पारस्परिक सम्पर्क से निरन्तर एक साँचे में ढलता रहा आगे चलकर एक सभ्य समाज के रूप में कहा जाने लगा।

वर्ण-व्यवस्था एवं जातिप्रथा के अनुसार समाज विभिन्न रूपों में बँट गया और उनके रीतिरिवाज भी इस प्रकार पृथक् रूपों में दिखाई देने लगे। ये रीति-रिवाज, भोजन-पान, रहन-सहन और संस्कारों के रूप में घरेलू जीवन के अंग बन गये।

दैनिक जीवन में मनुष्य इतना व्यस्त रहता है कि अपने सुदूरवर्ती सम्बन्धियों

---

२. सम्प्रति त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता। (सं० अनु०)

से उसका प्रतिदिन अथवा शीघ्र मिलना जुलना सम्भव नहीं हो सकता। अतः आपस के प्रेम को सम्बन्धियों में सुदृढ़ रखने के लिये उत्सवों का प्रचलन हुआ जो ऋतुओं के अनुसार आरम्भ में सम्पादित हुए और जिनके बहाने न केवल उन्हें अपने सम्बन्धियों के यहाँ आ-जाकर प्रेम-बन्धन को सुदृढ़ रखने का अवसर मिला वरन् निरन्तर एक जैसे दैनिक कार्य करने से भी अवकाश मिला जिसके कारण जीवन में कुछ नवीनता सी प्रतीत हुई। उत्सवों के दिन विशेष आहार होता था और बालक, तरुण, वृद्ध सभी नवीन वस्त्र धारण करते थे। इन उत्सवों का इस भाँति समाज में एक विशिष्ट महत्त्व हो गया।

धार्मिक दृष्टिकोण से देखें तो व्रत, उपवास आज भी उसी प्रकार चले चल रहे हैं जिनमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। मृच्छकटिक में सूत्रधार और नटी की बातचीत में अभिरूपपति नामक उपवास की चर्चा है जिसके द्वारा अनुकूल पति-प्राप्ति दिखाई गई है।

नटी—अज्ज उववासो गहिदो।[1]

आज उपवास ग्रहण किया है।

सूत्रधार—किं णामधेओ अअं उववासो।[2]

इस उपवास का क्या नाम है?

नटी—अहिरूववदी णाम।[3] मृ० क० (प्र० अंक)

अभिरूपपति व्रत है।

इसके आगे बलि आदि की भी चर्चा है।

मैत्रेय—एसो चारुदत्तो सिद्धीकिददेवकज्जो गिहदेवदाणं बलिं हरन्तो इदो ज्जेव आअच्छदि।[4] मृ० क० (प्र० अंक)

यह आर्य चारुदत्त गृहदेवताओं की बलि को लिये हुए इधर ही आ रहे हैं। चारुदत्त ने मैत्रेय से फिर बलि की चर्चा की है।

'वयस्य कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ। त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर'। मृ० क० (प्र० अंक)

---

१ अद्योपवासो गृहीतः। (सं० अनु०)
२ किं नामधेयोऽयमुपवासः। (सं० अनु०)
३. अभिरूपपतिर्नाम। (सं० अनु०)
४. एष चारुदत्तः सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवतानां बलिं हरन्नित एवागच्छति। (सं० अनु०)

लो मित्र, मैंने गृहदेवताओं को बलि दे दी है। जाओ, तुम भी चौराहे पर मातृदेवियों को बलि भेंट कर दो।

चारुदत्त ने विदूषक से सन्ध्योपासन की भी चर्चा की है।

'भवतु। तिष्ठ तावत्। अहं समाधिं निर्वर्तयामि।' मृ० क० (प्र० अंक)

अच्छा, तब तक ठहरो। मैं समाधि (सन्ध्या) समाप्त करता हूँ। सूर्य के अर्घ्य की चर्चा उस समय शर्विलक ने की है जबकि चारुदत्त की दीवार में सन्धि (सेंध) के लिए वह स्पर्श कर रहा है।

'नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः क्षारक्षीणा।' मृ०क० (तृ०अंक)

नित्य सूर्यदर्शन के समय जल देने से यह भूमि दूषित है और रेह से जर्जर है।

रत्नषष्ठी का व्रत भी उल्लेखनीय है जिसमें सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान दिया जाता है। विदूषक को पूर्वाभिमुख करके धूता उसे रत्नावली देती है। धूता कहती है :—

'अहं क्खु रअणछट्ठिं उववसिदा आसि। तहिं जधाविहवाणुसारेण बम्हणो पडिग्गाहिदव्वो। सो अ ण पडिग्गाहिदो, ता तस्स किदे पडिच्छ इमं रअणमालिअम्।' मृ० क० (तृ० अंक)[1]

मैंने रत्नषष्ठी का व्रत किया था। उसमें सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिये। उसे दान नहीं दिया गया था, अतः उसके लिए इस रत्नमाला को ग्रहण करो।

पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा होती थी। शिव की उपासना मुख्य रूप से की जाती थी।

वसन्तसेना के प्रकोष्ठों को देखते हुए विदूषक ने उसकी मोटी माता को महादेव की विशाल मूर्ति के समान बताया है।

'अहो से कूडडाइणीए पोट्टवित्थारो। ता किं एदं पविसिअ महादेवं विअ दुआरसोहा इह घरे णिम्मिदा।'[2] मृ० क० (च० अंक)

---

१. अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम्। तत्र यथा विभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहयितव्यः। स च न प्रतिग्राहितः, तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम्। (सं० अनु०)

२. अहो अस्याः कूटडाकिन्या उदरविस्तारः। तत्किमेतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता। (सं० अनु०)

हाय इस मही आसन के पेड़ का विस्तार भी कितना है ! क्या महादेव की विशाल मूर्ति के समान इसको यहाँ घर में प्रविष्ट कराकर बाद में द्वार की शोभा को बनाया गया था, क्योंकि वर्तमान द्वार से तो इस स्थूल वृक्ष का जाना असम्भव है।

धार्मिक कार्यों में धनी वर्ग अपनी सम्पत्ति उदारतापूर्वक खर्च करता था। इस सम्बन्ध में चारुदत्त के विहार, आराम, देवालय, तड़ाग, कूप आदि के निर्माण की चर्चा पहले की जा चुकी है।

इस सम्बन्ध में पराञ्जपे का विचार उल्लेखनीय है, जिसमें गोदान, ब्राह्मण-भोज एवं जनहित के लिये विभिन्न निर्माणों की चर्चा है।

Usavadata's inscription at Nasik, similarly mentions that he (Usavadata) constructed caves, gave away cows, constructed flights of steps on the banks of rivers, assigned village to gods and Brahmans, fed a hundred, thousand Brahmans every year, made gardens and sank well and tanks, founded benefactions for Charan and Parishad 'the same nations'.

Dr Bhandarkar observe, as regards these matters prevailed then as now [1]

समय-समय पर उत्सव भी मनाये जाते थे। ये उत्सव दो प्रकार के होते थे—एक सामान्य और दूसरे विशेष। सामान्य उत्सवों में विवाहादि उत्सव हैं। चारुदत्त ने दीनता का वर्णन करते हुए घरेलू उत्सव की चर्चा की है और यह दिखाया है कि उनमें सम्मिलित होने वाले दीनों की क्या दशा होती है :

संगं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरात्,
सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।

मृ० क० (१-१०)

दरिद्र के पास कोई नहीं बैठता, न कोई उससे आदर से बोलता है। धनी लोगों के घर विवाहादि उत्सवों में गया हुआ वह अनादरपूर्वक देखा जाता है।

पुत्रजन्मोत्सव भी बड़ी धूमधाम से मनाया जाता होगा तभी तो चारुदत्त ने शब्दों से कहा है—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्॥ मृ० क० (१०-२७)

---

१ Dr V G, Paranjpe Mricchakatika, p 103 (Appendix)

मैं मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ किन्तु इसलिए भयभीत हूँ कि मेरी मृत्यु कलंकित हुई है। दोषरहित होकर मेरी मृत्यु हुई होती तो वह पुत्र के जन्म के समान होती।

कामदेवोत्सव और इन्द्रमह विशेष उत्सव थे जो बड़ी धूमधाम से मनाये जाते थे। कामदेवोत्सव वसन्तोत्सव के नाम से प्रसिद्ध था जो एक विशेष उद्यान में मनाया जाता था। इसीलिए इस उद्यान का नाम कामदेवायतनोद्यान था वहाँ कामदेव का मन्दिर था। शकार ने वसन्तसेना के सम्बन्ध में इसकी चर्चा की है

'भावे भावे एषा गब्भदासी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता ण म कामेदि'।[1] मृ० क० (प्र० अंक)

भाव भाव यह गर्भदासी कामदेवायतन उद्यान के गमन से लेकर उस दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करने लगी है मेरी कामना नहीं करती।

यह उत्सव सम्भवतः वसन्त में बहुत दिनों तक चलता होगा और प्रेमी युवक-युवतियों का इसमें उत्साहपूर्ण मनोरंजन होता होगा।

इन्द्रमह उत्सव देवराज इन्द्र के सम्मान में मनाया जाता था जिसमें बड़े-बड़े ध्वजे फहराये जाते थे।

ये सामयिक उत्सव तरुण एवं बालसमाज के लिये मनोरंजन के साधन थे। आजकल की प्रदर्शनी या किसी बड़े मेले के रूप में इनका अनुमान लगाना ठीक होगा। उस समय का जीवन बड़ा व्यस्त प्रतीत होता है जिससे अपने सम्बन्धियों से मिलना भी कभी कभी विशेष अवसरों पर होता था। पर इन उत्सवों के दौरान परस्पर भेंट होती रहती थी और पारस्परिक प्रेमबन्धन दृढ़ होता रहता था। मनोरंजन का साधन देश विदेश की यात्रा भी थी।[2] व्यापारियों के लिए यह यात्रा अर्थलाभ का भी साधन थी।

पुलिस अधिकारी चन्दनक को खस म्लेच्छ आदि जातियों का ज्ञान था। संवाहक इस घूमने फिरने के ही कारण अनेक भाषाओं का ज्ञाता था। उज्जयिनी का वैभव मनोरंजक जीवन का प्रतीक है। यहाँ के धनधान्यपूर्ण बड़े-बड़े भवन दुकानें, उद्यान द्यूतगृह मदिरालय एवं नाट्यशाला के साधन

---

१ भाव भाव, एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्र चारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते। (सं० अनु०)

२ Perface to Mrichhakatika, Dr G K Bhat, p 242-43

सभी तो मनोरंजन में सहायक थे। रात्रि के समय मशालों (टार्चों) का प्रयोग होता था।

निष्कर्ष

मनुष्य का जीवन जब समाज में स्थिर होने लगता है तो उसका ध्यान धार्मिक एवं आर्थिक प्रगति की ओर बढ़ता है। आर्थिक प्रगति तो मृच्छकटिक-काल में व्यापार एवं वाणिज्य से हुई और धार्मिक प्रगति के परिचायक तत्कालीन उपासना, व्रत एवं धार्मिक उत्सव रहे।

धार्मिक-व्रति ऐसा ही व्रत है जो पति की शुभकामना का प्रतीक है। रत्न-षष्ठी में भी दान देने की बात कही गयी है। उस समय भी ये व्रत स्त्रियों द्वारा किये गये हैं और आज भी महिलायें इन व्रतों को विशेषतः करती हुई देखी जाती हैं। व्रतों में उपवास रहता है। निराहार के साथ-साथ यह फलाहार-युक्त भी होते हैं।

समाज में द्यूत का स्थान

अधोलिखित वेद मंत्र में द्यूत के विरोध में कहा गया है :—

अक्षैर्मादीव्य कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान ।
तत्र गाव कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्य ॥

ऋग्वेद १०।३४।१३

हे जुआरी! पासों से जुआ मत खेल, खेती में खेती कर, खेती से प्राप्त धन को बहुत समझता हुआ उसी को भोग। वहीं तेरे घर में गौएं हैं, वहीं तेरी पत्नी है, यह मेरे द्वारा सबका स्वामी जगदुत्पादक परमेश्वर कहता है।

भारत में द्यूत प्रथा आदिकाल से प्रचलित है। सम्भव है आजकल जैसी प्रथा प्राचीनकाल में न रही हो पर किसी रूप में भी यह भी उसी का विकसित रूप आज हमारे सामने है। डा० वी० जी० परांजपे का इस सम्बन्ध में विचार है —

"Gambling is as old as the Rigveda in India But while the ancient played with dice made of the bones and ivory, the game as described in the MK is played with *Cowries*. The technical terms of the game have been preserved in a modern form in Berar The people there ought to enlighten us about the technique of the play."[1]

१. Dr V G. Paranjpe, Mricchakatikam, p. 31.

भारत में द्यूतक्रीडा ऋग्वेद की समकालीन है। पहले मनुष्य बहेड़ों, अस्थियों और हाथी-दाँत की गुट्टियों से खेलते थे। मृच्छकटिक काल में कौड़ियों या पासों से द्यूतक्रीडा होती थी। द्यूतक्रीडा के पारिभाषिक शब्दों का आधुनिक रूप बजार में सुरक्षित है। इस खेल का विधिवत् ज्ञान हमें यहीं से प्राप्त हुआ।

एक ओर मनु[1] ने शासकों से द्यूतक्रीडा-व्यसनग्रस्तों को दण्डित करने का अनुरोध किया है तो दूसरी ओर याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति[2] ने द्यूतक्रीडा के समर्थन में द्यूत-व्यवस्थापकों की शासकों द्वारा सुरक्षा और इस सम्बन्ध में उनके द्वारा प्राप्त आय में से शासन को निश्चित अनुपात में धनराशि देना प्रदर्शित किया है। पुलिस की सावधानी में यह कार्य सम्पन्न होता था।

मृच्छकटिक में द्यूत की चर्चा विशेष रूप से है। निम्न वर्ग के लोग तो निःसंकोच जुआ खेलते थे और उसके द्वारा धनी होने की स्पर्धा आशा रखते थे। इसमें व्यवस्थापक को सभिक कहा गया है। इसका नाम उसमें माथुर दिखाया गया है। यह विजेताओं के लाभ का पाँच प्रतिशत और दस प्रतिशत ग्रहण करता था। इसके बदले में यह विजयी लोगों के लिये द्यूत में उधार धनराशि संग्रह करता था। द्यूतकरों का अपना एक समुदाय था और उनके

---

१. द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ मनुस्मृति (९-२२१)
प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ मनु० (९-२२२)
अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ मनु० (९-२२३)
द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ मनु० (९-२२४)

२. द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेत् ...
... गूढाजीविज्ञापनार्थम् । अर्थशास्त्रम्, (द्वि० अ० २०१)
अथवा कितवो राज्ञे दत्त्वा भागं यथोदितम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति, द्वि० अ० २०१)।
प्रकाशं देवनं कुर्यादेवं दोषो न विद्यते ।
द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम् ॥ नारद (१६-८)
अभ्यनुज्ञातमन्यैस्तु राजभागसमन्वितम् ॥
सभिकाधिष्ठितं कार्यं तस्करज्ञानहेतुना ॥ (बृहस्पति स्मृति चन्द्रिका)

'भोः ! द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम् ।'

अरे ! जुआ मनुष्यों का बिना सिंहासन का राज्य है । मृ० क० (द्वि० अंक) वह आगे कहता है—

न गणयति पराभवं कुतश्चिद् हरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ॥ मृ० क० (२-७)

यह जुआ किसी के अनादर को तुच्छ समझता है । प्रत्येक दिन धन उपार्जित करता है और यथेच्छ धन देता भी है । सम्पत्तिशाली राजा के समान यह धनवान मनुष्यों से सेवित होता है ।

और भी—

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव । मृ० क० (२-८)

जुए से ही मैंने धन और जुए के प्रभाव से ही स्त्री तथा मित्र की प्राप्ति की है । इसी भाँति जुए से ही किसी को कुछ दिया है और उपभोग भी किया है । यहाँ तक कि जुए से ही मैंने अपना सर्वनाश भी कर डाला है ।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्यूत में स्त्री भी दाँव पर रखी जाती थी । पाण्डवों की भाँति द्रौपदी को दाव पर रखने जैसी प्रथा तब भी प्रचलित थी ।

संवाहक ने फिर कहा है—

त्रेताहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोषितशरीरः ।
नर्दितदर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि ॥ मृ० क० (२-९)

त्रेता (तीया नामक एक दाव) के द्वारा सर्वस्व छीन लेने वाला, नर्दित (नक्का नामक विशेष दाव) के द्वारा (घर का) रास्ता दिखाया जाने वाला, कट (पुरा नामक दाव विशेष) के द्वारा मारा हुआ, मैं जाता हूँ ।

यहाँ यातना भी कुछ कम नहीं थी । दर्दुरक ने द्यूतकर माथुर और दीन संवाहक को देखकर इसका चित्र खींचा है—

यः स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो,
यस्योद्घर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः ।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते,
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥
मृ० क० (२-१२)

मेरे समान को एक पैर नीचे और एक पैर ऊपर करके सायंकाल तक निश्चल शून्यस्तम्भ होकर नहीं रह सकता। नुकीले पत्थरों पर घसीटे जाने से जिसकी पीठ पर चिह्न नहीं है और जिसकी जंघा का मध्यभाग कुत्तों से नहीं काटा गया उस लम्बे एवं कोमल शरीर वाले मनुष्य (संवाहक) के निरन्तर जुआ खेलने से क्या लाभ ? वास्तविक जुआरी तो उपर्युक्त क्लेश से पूर्णतया अभ्यस्त रहते हैं।

सभिक हारे हुए जुआरी को केवल पकड़ता और झकझोरता ही नहीं, वरन् उसको पीटता भी था और कभी-कभी तो उससे पैसा वसूल करने के लिये उसे अपने को बेचने पर विवश करता था। कुछ जुआरी मिलकर सभिक की प्रभुता पर बट्टा लगाते थे और उससे झगड़ते थे।

चारुदत्त ने स्वयं इस सम्बन्ध में मैत्रेय से कहते हुए वसन्तसेना के पास यह सन्देश भेजा है :—

मत्तस्त्वस्माभि सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कृत्वा विश्रम्भाद् द्यूते हारितम् ॥

मृ० क० (तृ० अंक)

विश्वास से अपना (समझ) करके हमने सुवर्णपात्र को जुए में हरा दिया।

जुए में पराजित जुआरी पुनः खेलने के लिये स्नेहपूर्वक बुलाया जाता था।

संवाहक को द्यूतऋण से मुक्त करने के लिये वसन्तसेना द्वारा प्रदत्त कटक पेटी से प्राप्त करके माथुर कहता है—

'अले अज्जवि दं कुलपुत्तअमुत्तु तुए अक्के आअच्छ पुणो जूद रमम्ह' ॥[1]

मृ० क० (द्वि० अंक)

विजयी जुआरी पराजित को अपना धन चुकाने के लिये उत्पीड़ित करते थे। संवाहक की भाँति ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं जिनमें कि जुआरी को पश्चात्ताप हो और वह विरक्त होकर सन्यासी बन जाय, जैसे—

'अज्जए, अहं एदिणा जूदिअरावमाणेण सक्कसमणके हुविस्सम् ।'[2]

मृ० क० (द्वि० अंक)

आर्ये ! मैं इस जुआरी के अपमान से बौद्ध सन्यासी हो जाऊँगा।

संवाहक की स्वगत उक्ति इसका प्रतीक है —

---

१. अरे अद्यापि त्वं कुलपुत्रम् ... मुक्तस्त्वम् । आगच्छ । पुनर्द्यूतं रमस्व । (सं० अनु०)

२. आर्ये, अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि । (सं० अनु०)

कत्ताशद्दो णिण्णाणअस्स हलदि हडअं मणुस्सस्स ।

ढक्काशद्दो व्व णलाहिवस्स पब्भट्टलज्जस्स ॥[1] मृ० क० (२-५)

राज्यभ्रष्ट राजा जिस प्रकार महोत्सव के समय दूसरे के घर में बाजों की ध्वनि सुनकर विच्छिन्न हो जाता है उसी प्रकार कत्ता (जुए का संकेत विशेष) शब्द सुनकर निर्धन पुरुष का मन उसी की ओर खिंच जाता है और चिंतित हो जाता है।

निम्न श्लोकों में भी इसी की पुष्टि है —

जाणामि ण कीलिस्सं सुमेरुसिहलप्पडणसण्णिहं जूदम् ।

तह वि हु कोइलमहुले कत्ताशद्दे मणं हलदि ॥[2] मृ० क० (२-६)

मैं जानता हूँ कि सुमेरु पर्वत के शिखर पर से गिरने के समान जुआ अनिष्टकर है। अतः मैं जुआ नहीं खेलूँगा फिर भी कोकिल की मधुर कूक के समान कत्ता शब्द से मेरा मन आकर्षित हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि द्यूत से पीछा छुड़ाना सुगम नहीं है।

द्यूत के लिये पासे हाथीदाँत के बने हुए होते थे। वसन्तसेना के पास हीरों के निर्मित पासे थे। जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कुछ का नाम गर्दभी था जिसका आशय जुए के खिलाड़ी को गदहे की भाँति पुकारना था और किसी का नाम शक्ति पासा था जो शक्र की भाँति फेंक कर मारा जाता था। संवाहक ने इस सम्बन्ध में कहा है :—

णवबन्धणमुक्काए विअ

गद्दहीए हा ताडिदो म्हि गद्दहीए ।

अङ्गलाअमुक्काए विअ सत्तीए

घडुक्को विअ घादिदो म्हि सत्तीए ॥[3] मृ० क० (२-१)

नवीन बन्धन से छूटी हुई गदही के समान कौड़ी से मैं इसी प्रकार मारा गया ठीक जिस प्रकार कर्ण से छोड़ी हुई शक्ति के द्वारा घटोत्कच मारा गया था। गदहे में फेंका हुआ पासा शक्ति कहलाता था।

---

१. कत्ताशब्दो निर्णाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य । (सं० अनु०)
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य ॥

२. जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसन्निभं द्यूतम् ।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति ॥ (सं० अनु०)

३. नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या ।
अङ्गराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव पातितोऽस्मि शक्त्या ॥ (सं० अनु०)

इस भाँति उस समय द्यूत विज्ञान अपने में परिपूर्ण था।

निष्कर्ष

धर्म धर्म' द्यूतक्रीडा का इतना विकास हुआ कि इसके अपने नियम बन गये। यदि इसको द्यूत-विज्ञान कहा जाये तो अनुचित न होगा। मनु ने तो इसका विरोध अवश्य किया है क्योंकि उन्होंने इसे दुर्व्यसन माना है, जिसका दुष्परिणाम युधिष्ठिर का द्रौपदी तक को जुए में लगा देना और हार जाना प्रत्यक्ष है। प्राचीनकाल में इसके व्यवस्थापक को सभिक कहते थे। लाटरी, सट्टा आदि इसी द्यूत के परिष्कृत रूप हैं। सट्टेबाजी में क्षणभर में आदमी धनी और क्षणभर में निर्धन हो जाता है, इसको मान्यता देने के लिये उत्सवों से भी इसका सम्बन्ध मध्यकाल में जोड़ दिया गया। दीपावली पर जुआ खेलना शुभ माना जाने लगा। उत्तर प्रदेश में कार्तिक की पूर्णिमा पर होने वाले पर्वों में भी इसे खेलते हुए देखा गया है। उनका विश्वास है कि दीपावली पर हारे हुए लोगों के लिए जीत का यह शुभ अवसर है।

चौर्य कला के विभिन्न प्रकार

द्यूत की भाँति चोरी भी मानवजाति के विकास के साथ-साथ बढ़ते हुए रूप में हमारे सामने आती रही। वैदिककाल में पशुओं की चोरी होती थी। निम्नलिखित वेदमन्त्र में गौ की चोरी के विषय में निषेध किया गया है :

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो,
नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च,
ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥ ऋग्वेद ६।२८।३

गौएँ नष्ट न हों, उन्हें चोर न चुराये, उन्हें शत्रु कष्ट न दें। उनसे विद्वानों का पूजन होता है, वे दान में दी जाती हैं। उनसे युक्त होकर गौओं का स्वामी दीर्घकाल तक सुख भोगता है।

प्राचीन काल में पशुधन ही मनुष्य का सबसे बड़ा धन माना जाता था। इसी से पशुओं की चोरी होती थी।

धर्मशास्त्रों में चोरी की निंदा की गयी है और चोरों को शासन की ओर से विविध् दण्ड देने की व्यवस्था है फिर भी दुष्ट मनोवृत्ति के व्यक्ति चोरी में अनुरक्त रहते हैं।

मृच्छकटिक में ब्राह्मण शर्विलक चौरकार्य में कुशल था। वह मदनिका में अनुरक्त था और उसको स्वच्छन्दता से अपनी पत्नी के रूप में अपने साथ रखना

चाहता था। मदनिका एक क्रीतदासी थी और वसन्तसेना की सेविका थी। उस समय की व्यवस्था के अनुसार धन देकर ही मदनिका को वसन्तसेना के यहाँ से छुड़ाया जाना सम्भव था। शर्विलक निर्धन था। इस विचार से कि वह निर्धन है मदनिका से विवाह नहीं हो सकता था। अतः उसने योजना बनायी कि वह चारुदत्त के यहाँ चोरी करके धन प्राप्त करे और वसन्तसेना को देकर मदनिका को वहाँ से मुक्त कराये।

शर्विलक ने चारुदत्त के यहाँ चोरी की जिस विधि को अपनाया है, निश्चय ही कलात्मक और वैज्ञानिक है। चौर्य व्यसन को अपनाने वाले शिव के पुत्र स्कन्द अर्थात् कार्तिकेय को अपना अभीष्ट देवता और संरक्षक मानते हैं तथा अपनी गणना स्कन्दपुत्रों अथवा स्कन्दशिष्यों में करते हैं। शर्विलक ने अपने सन्धिकौशल की प्रशंसा में अपनी गुरुपरम्परा को स्मरण करते हुए कहा है —

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता। मृ० क० (तृ० अंक)[1]

अभीष्ट कुमारकार्तिकेय को, प्रभावशाली ब्रह्मण्यदेवरूप देवव्रतधारी कनकशक्ति भास्कर नन्दी तथा योगाचार्य को नमस्कार है जिसका मैं प्रथम शिष्य हूँ। उनके प्रसन्न होने से मेरी योगसाधना हो गयी।

> अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
> शस्त्रं च पतितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति॥ मृ० क० (३-१५)

इस भाँति योगसाधना कर लेने से अथवा योगरोचना से लिप्त मुझे रक्षकगण नहीं देख सकेंगे और यदि कदाचित् शरीर पर शस्त्र का आघात हो तो भी चोट न लगेगी।

यद्यपि निश्चिन्त सोते हुए सामान्यतः किसी की चोरी करना वीरता का कार्य नहीं समझा जाता था फिर भी कुछ लोग इस घृणित कार्य को करते थे और यह चौर्यवृत्ति अश्वत्थामा के उदाहरण से, जिसने सोते हुए पाण्डवों के पुत्र, शिखण्डी और धृष्टद्युम्न का वध किया था, न्यायसम्मत मानी जाती थी। शर्विलक ने इसकी पुष्टि में कहा है—

---

१. योगरोचना—यह एक प्रकार का ऐसा लेप है जिसे शरीर पर लगाने से मनुष्य अदृश्य हो जाता है और शस्त्रादि के प्रहार से चोट नहीं लगती।

> काम नीचमिद वदन्तु पुरुषा स्वप्ने च यद्वर्धते
> विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
> स्वाधीना वचनीयतापि हि वर वद्धो न सेवाञ्जलि
> र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥ मृ० क० (३-११)

मनुष्य इस चोरी को अधम भले ही कहें, क्योंकि यह चोरी मनुष्यों के सो जाने पर होती है और इसमें विश्वस्त जनों को धन्यापहरणरूप अपमान होता है अत यह चोरी पराक्रम नहीं है, पर यह चोरीरूपी धूर्तता स्वतन्त्र होने के कारण उत्तम है। इस कार्य म किसी का दास बनकर हाथ नहीं जोडना पडता, फिर यह कार्य बहुत प्राचीनकाल से चला आ रहा है। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने सोते हुए पाण्डवों के पुत्रों को धोखे से मारा था। अत इसमें कोई दोष नहीं है।

शर्विलक चोर अवश्य है, पर धर्मयुद्ध की भाँति इसका यह कार्य मर्यादाओं से हुआ है। वह कहता है —

> नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाह लतां
> विप्रस्व न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्यतम् ।
> धात्र्युत्सङ्गगत हरामि न तथा बाल धनार्थी क्वचि-
> त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्य स्थिता ॥
>
> मृ० क० (४-६)

मैं धन का लोभी मैं विकसित लता के समान अलकार धारण करने वाली नारी का अपहरण नहीं करता हूँ। ब्राह्मण के लिए सुरक्षित सुवर्ण भी नहीं चुराता हूँ और न यज्ञ के लिए समुचित सामग्रियों को ही लेता हूँ। धाया की गोद में स्थित बालक का भी कभी अपहरण नहीं करता। इस प्रकार चोरी करने में भी मेरी बुद्धि कर्तव्य और अकर्तव्य का सदा पूर्ण विवेक कर लेती है।

शर्विलक के विचार इस चौर्य कार्य में भी, जिसमें स्वार्थपूर्ति के लिए हर सम्भव कार्य उचित माना जाता है, उसके वैशिष्ट्य के द्योतक है। शिक्षा, दक्ष और दीक्षा से युक्त वह चौर्यवृत्ति कुशलतापूर्ण है। इसमें धैर्य और शारीरिक बल की आवश्यकता है और साथ में अपेक्षित है निर्भीकतापूर्ण साहस शक्ति। शर्विलक को अपने चातुर्य का गर्व है। उसने अपने सम्बन्ध में कहा है —

> मार्जार क्रमणे मृग प्रसरणे श्येनो ग्रहालुम्पने
> सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा सर्पणे पन्नग ।

मायारूपशरीरवेशरचने वाग्देशभाषान्तरे
दीपो रात्रिषु संकटेषु डुडुभो वाजी स्थले नौर्जले ॥

मृ० क० (३-२०)

चुपचाप भागने में मैं बिल्ली हूँ। शीघ्र भाग निकलने में हरिण। किसी भी वस्तु का अपहरण करने में बाज, सोये या जागे हुए मनुष्य के पराक्रमनिरूपण में कुत्ता, संकीर्ण पथ आदि से खिसककर भागने में सर्प, रूपपरिवर्तन, शरीर परिवर्तन तथा वेश परिवर्तन में साक्षात् माया, भाषा परिवर्तन में मूर्तिमती वाणी, रात्रि के लिए दीपक, संकट के समय भेड़िया, भूमि के लिए घोड़ा और जल के लिए तो नौका के तुल्य हूँ।

भुजग इव गतौ गिरिः स्थिरत्वे पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः।
शश इव भुवनावलोकनेऽहं वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः ॥

मृ० क० (३-२१)

मैं दौड़ने में सर्प के समान, धैर्य में पर्वत के समान, शीघ्र गमन में गरुड़ के समान, एक बार सारे संसार को देख लेने में शश नामक मृग के तुल्य, पकड़ने में भेड़िये के समान तथा पराक्रम में तो साक्षात् सिंह के समान हूँ। यह तो शर्विलक की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हुईं। अब सेंध कैसे लगायी जाय इस सम्बन्ध में चौर्यशास्त्र के आचार्य भगवान् कनकशक्ति के द्वारा सेंध लगाने के जो चार प्रकार के उपाय प्रदर्शित किये गये हैं उनका भी शर्विलक ने सम्यक् विवेचन किया है :—

'अथ कर्मारम्भे कीदृशमिदानीं सन्धिमुत्पादयामि। इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः। तद्यथा पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति। तदत्र पक्वेष्टके इष्टिकाकर्षणम्। मृ० क० (तृ० अ०)

कर्म के प्रारम्भ में कैसे सेंध लगायी जाए? इस सम्बन्ध में भगवान कनकशक्ति ने सेंध लगाने के चार प्रकार के उपाय प्रदर्शित किये हैं :—जैसे पक्की ईंट वाले भवनों में ईंटों का खींचना, कच्ची ईंटों के घरों में ईंटों का छेदना, मिट्टी के ढेलों से निर्मित घरों में भित्ति का सिंचन करना है और काष्ठनिर्मित घरों में काष्ठ को उखाड़ना। यह पक्की ईंटों का भवन है अतः यहाँ ईंटों का खींचना ही उचित है।

सेंध के सात प्रकार के आकारों का भी शर्विलक ने सफल प्रदर्शन किया —

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापीविस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम् ।
तत्कस्मिन्देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं विस्मयं यान्तु पौराः ॥ मृ० क० (३-११)

खिला हुआ कमल, सूर्य (गोल), बालचन्द्रमा (अर्धचन्द्राकार), बावड़ी, विस्तृत, स्वस्तिक (卐) चिह्न जैसा और पूर्ण कुम्भ के आकार के पुष्ट सेंध लगाने के इन सात प्रकारों में से किस स्थान पर अपना कौशल दिखाऊँ जिसे देखकर कल नागरिक आश्चर्य में डूब जायें।

'तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते तमुत्पादयामि' । मृ० क० (तृ० अ०)

तो यहाँ पक्की ईंटों वाले घर में पूर्ण कुम्भ नामक सेंध ही अच्छी लगती है अतः वही बनाता हूँ।

सेंध नापने के लिए प्रमाणसूत्र (नापने का धागा) भूल जाने पर यज्ञोपवीत की सार्थकता समझते हुए शर्विलक ने उसी के महत्व का गीत गाया है —

'भवतु यज्ञोपवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति। यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः।' मृ० क० (तृ० अ०)

हाँ, यह यज्ञोपवीत नापने का धागा बन जायेगा। यज्ञोपवीत भी ब्राह्मण की बड़ी उपयोगी वस्तु है।

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान् ।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥ मृ० क० (४-१६)

इससे सेंध फोड़ते समय दीवार नापी जाती है। इससे अंगों में से आभूषण निकाले जाते हैं। यह सिटकनी द्वारा दृढ़तापूर्वक बन्द किवाड़ खोलने में सहायक होता है तथा विषैले कीड़ों और सर्पों के काटने पर उस स्थान पर बन्द लगाने में काम देता है।

इसके द्वारा शर्विलक ने यज्ञोपवीत का क्रियात्मक उपयोग दिखाया है। सेंध का उपयुक्त आकार प्रमाणसूत्र से नापने के पश्चात् शर्विलक दीपशिखा से चारों ओर प्रकाश फैलाकर अन्दर रखे धन का ज्ञान प्राप्त करता है और फिर प्रतिपुरुष[1] को प्रवेश कराता है। तत्पश्चात् स्थिति अनुकूल जानकर स्वयं प्रवेश

1. प्रतिपुरुष मनुष्य का बनावटी पुतला है जो काठ, रबर आदि का बना हुआ होता है। इसको पहले प्रवेश कराने से पता ही यह ज्ञात हो जाता है कि

करता है और फिर पानी को बत्ती पर गिराते हुए उसके द्वार में दरवाजे की मिटकनी खोलता है जिससे किसी को सन्देह न हो और वह गिरते हुए पानी की आवाज समझे। फिर यह जानने के लिए कि सभी सोये हुए हैं वह उनके आगे कुछ भयावह चेष्टायें करता है। इस भाँति उसे सोने का पूर्ण निश्चय हो जाता है। इसे जानने के लिए कुछ और भी विधियाँ हैं—

> निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते,
> दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
> गात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं,
> दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥ मृ०क० (३-१८)

गहरी नींद में सोये हुए तथा नाटक में सोये हुए व्यक्ति की परख करने का कितना सुन्दर ढंग यहाँ व्यक्त किया गया है।

इसकी साँस शङ्कायुक्त नहीं है, स्पष्ट एवं समान अन्तर वाली है, आँखें भली प्रकार बन्द हैं, बेचैन नहीं हैं, न भीतर की पुतलियाँ ही चंचल हैं, शरीर शिथिल सन्धियों के कारण अकर्मण्य है एवं शय्या के आकार से अधिक है अर्थात् प्रगाढ़ निद्रा के कारण शरीर के अंग शय्या के नीचे भी लटक रहे हैं। यदि यह व्यक्ति छल से सोये हुए होते तो सामने दीपक के प्रकाश को भी सहन नहीं कर सकते।

चोरी के लिए प्रायः रात्रि का प्रगाढ़ अन्धकार अच्छा समझा जाता था। शर्विलक के निम्न कथन से इसकी पुष्टि होती है

> नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारं परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम्।
> घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरियं जननीव संवृणोति ॥ मृ०क०(३-१०)

पहरेदारों की शंका, त्याग तथा दूसरे के घर को दूषित करने में निपुण मुझे घोर अन्धकार से सम्पूर्ण पदार्थों को आच्छन्न करने वाली यह रात्रि माता के समान स्नेह के आवरण से ढकती है।

निष्कर्ष

आधुनिक समाज की स्थिति का दिग्दर्शन मृच्छकटिक में सर्वत्र चित्रित है। इसमें प्रदर्शित चोरी के अतिरिक्त वर्तमान युग में चोरी के अन्य विविध रूप हैं।

मनुष्य भी उसके अन्दर प्रवेश कर सकेगा, फिर कोई भारी धक्का हो तो उसका भी ज्ञान हो जाता है।

प्राचीन काल में चोरी स्वार्थपूर्ति के लिए की जाती थी। मृच्छकटिक में शर्विलक की चौरकार्य में प्रवृत्ति मदनिका की प्राप्ति हेतु दिखाई गई है, पर आजकल चोरी एक धन्धा बना हुआ है। यद्यपि चौरकार्य निकृष्ट माना जाता है फिर भी मृच्छकटिक में इसे वैज्ञानिक रूप देकर चित्रित किया गया है। पहले चोरियाँ रात में होती थीं अब दिन-रात होती हैं। इसका रूप रूप बदली है। आभूषण एवं धन की लूट के साथ पारस्परिक विरोध में भी इस प्रकार की प्रतिक्रिया समाज को आज सशस्त्र बनाये हुए है। इसी धन के निमित्त अपहरण भी किए जाते हैं। यह भी उसका एक स्वरूप है।

दास-प्रथा की निम्न स्थिति

दास का जीवन दयनीय था। उसको सारा समय अपने स्वामी की परिचर्या में ही बिताना होता था। स्वामी के सोने पर उसे सोना होता था, उसके जागने से पूर्व ही उसे जागना होता था, और उसी प्रकार के कार्यों को स्वामी के संकेत पर करना होता था। ऐसे व्यक्ति पराश्रित होकर जीवन बिताते थे। धन के कारण जो पुरुष और स्त्रियाँ किसी कारणविशेष से बेच दिये जाते थे या स्वयं बिक जाते थे उन्हीं का जीवन इस दास, रूप में व्यतीत होता था। यह दास-प्रथा इतनी प्रचलित थी कि इसके लिये नगरों में निश्चित स्थान नियत हो चुके थे। इस रूप में बिकने वाले दास-दासियों का सम्बन्ध अपने पूर्व परिवार से बिल्कुल समाप्त हो जाता था। उनका जीवन और मरण खरीदने वाले स्वामी की इच्छा पर निर्भर रहता था। खरीदने वालों में कभी-कभी तो अच्छे व्यक्ति होते थे जो सब प्रकार से उनका ध्यान रखते थे, पर कभी-कभी ऐसे भी लोग होते थे जो उनसे भरसक सेवायें लेते थे और उनके भोजनादि का विशेष ध्यान नहीं रखते थे। कितना लज्जित कार्य है कि सृष्टि की सर्वोत्तम रचना मानव को पशु की तरह बेचा और खरीदा जाता था। स्वामी इनको अपनी एक सम्पत्ति के रूप में मानते थे। जिसके पास जितने दास-दासी होते थे वह उतना ही समृद्ध माना जाता था। यह प्रथा केवल भारत में ही हो ऐसी बात नहीं, वरन् सारे संसार में प्रचलित थी, पर अब धीरे-धीरे इसका अन्त हो चुका है और सभ्यता की दृष्टि में इसे घृणास्पद समझा जाने लगा है।

मृच्छकटिक काल में भारत में दास प्रथा बड़ी-चढ़ी थी। उस समय स्वामी को रुपया देकर दासों को स्वतन्त्र नागरिक बनाया जा सकता था। कभी-कभी राजा की आज्ञा से भी दास मुक्त कर दिये जाते थे।

दशम अंक के अन्त में चारुदत्त स्थावरक चेट के विषय में कहता है :—

सुवृत, अवासो भवतु । ते भाण्डागारा- सर्वभाण्डागाराणामधिपतयो भवन्तु ।

वध्यस्थानहारी यह स्थावरक, दासत्व से मुक्त हो जाय । ये भाण्डागार सब भाण्डारों के अधिपति हो जायें ।

जो व्यक्ति जिस परिवार का दास होता था वह उसका एक सदस्य माना जाता था । कभी-कभी उसको उच्छिष्ट भोजन पर भी निर्वाह करना पड़ता था जैसा कि शकार ने चेट से कहा है —

'सव्व दे उच्छिष्टकल दइस्सम[1] ।' मृ० क० (अष्टम अंक)

सारा उच्छिष्ट भोजन तुम्हें दूंगा ।

ऐसे भी अवसर आते थे जबकि सहानुभूतिपूर्वक उनके कष्टों पर ध्यान नहीं दिया जाता था, उपेक्षा की जाती थी । चेट ने कहा है :—

'ईदिशिके ईदिशे दासभावे ज सच्चं कपि ण पत्तिआअदि (सकरुणम्)

अज्ज चारुदत्त, एत्तिके मे विहवे[2] ।' मृ० क० (दशम अंक)

'खेद है दासता ऐसी बुरी है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती । आर्य चारुदत्त, इतनी ही मेरी सामर्थ्य है ।'

दास और दासियाँ अपनी अर्जित सम्पत्ति भी रख सकते थे । जैसे कि मदनिका के पास शर्विलक से प्राप्त आभूषण थे जो उसके छुड़ाने वाले के लिये शर्विलक ने चोरी किये थे पर स्वामी की इच्छा पर बिना कुछ लिये भी दास और दासी बन्धन से मुक्त हो जाते थे । वसन्तसेना ने मदनिका से कहा है—'जइ मम छन्दो तदा विणा अत्थं सव्व परिजण अभुजिस्स करइस्सम्'[3] । मृ० क० (च० अंक)

यदि मेरा वश हो तो धन के बिना सब सेवकों को स्वतन्त्र कर दूँ ।

स्वामी अपने अधिकार के बल पर दासों से अभीष्ट कार्य, चाहे ही वे निन्दनीय हों, कराने के इच्छुक रहते थे । शकार अपने दास चेट से ऐसी ही आज्ञा करता था, पर चेट ने चारुदत्त के विरोध में शकार की अनुचित बातों को स्वीकार नहीं किया । इससे स्पष्ट है कि कुछ वफादार दासों में स्वाभिमान एवं आत्मगौरव था पर यह असामान्य स्थिति थी । सामान्यरूप से तो दासता के नाते स्वामी की बात न मानना कृतघ्नता मानी जाती थी । उन्हें अपने

---

१ सर्वं ते उच्छिष्टं दास्यामि । (सं० अनु०)

२ ईदृशे ईदृशी दासभाव सत्यम् कमपि न प्रत्याययति । आर्य चारुदत्त एतावान्मे विभवः ।

३ यदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वपरिजनमभुजिष्यं करिष्यामि ।

स्वामियों के अनुकूल ही चलना पड़ता था, क्योंकि उनके विरोध में उनकी एक न चलती थी।

निष्कर्ष

समझा यह जाता है कि मनुष्य मात्र धन के बल पर अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित है। ठीक भी है, आज मानवता धन के आगे झुकी हुई है अर्थात् इस युग में एक निर्धन व्यक्ति यदि सच्चा मानव है तो उसका सम्मान आज भी जनता उतना नहीं करती जितना कि क्रूर धनवान का। यह हो सकता है कि हृदय से आदर का सम्मान सच्चे मानव के लिए हो, पर इसे कौन देखता है? जो प्रत्यक्ष में देखा जाता है वही समझा जाता है। प्राचीनकाल में धन का इतना महत्त्व न था। न सिक्के का इतना प्रचलन था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में मनुष्य संतुष्ट था। ऐसी स्थिति में अतिप्राचीन काल में धन के कारण दास प्रथा हो, यह सोचा नहीं जा सकता। जो धनवान होते थे वे दूसरों को दास बनाकर रखते थे और उनसे अपना काम निकालते थे।

निर्धनवर्ग में दीनता से दुर्दशा

आरम्भ से विनाश पर्यन्त धनी और निर्धन का द्वन्द्व चलता रहता है। सामाजिक कार्य-कलापों की प्रगति का यही एकमात्र कारण है। मृच्छकटिककार ने धनी और निर्धन की समस्या को लेकर ही सारी कथावस्तु को सँजोया है। इसी के प्रवाह में निर्धनता और उससे होने वाली अवनीति का जितना सुन्दर और सजीव चित्र इसमें खींचा गया है, वह अद्वितीय है।

चारुदत्त आरम्भ में बड़ा धनी था। दुर्भाग्य के चक्र ने जब उसे निर्धनता के गड्ढे में ढकेल दिया तब उससे यही कहते बना कि यह निर्धनता सभी बुराइयों का एक मात्र कारण है। उस समय की स्थिति से जनता को पूर्ण विश्वास हो चला था कि सभी अच्छाइयाँ धन पर निर्भर हैं। इसीलिए जो निर्धन हैं वे सदा सब प्रकार की बुराइयों के एक मात्र भंडार हैं। निर्धन वर्ग को अनेक दुःस्थितियों में परिश्रम करना पड़ता था, फिर भी सामाजिक दोषों से वे ही सर्वदा मढ़े जाते थे। समाज धन के पीछे इतना अंधा हो गया था कि उस समय धन और धनी पुरुषों के आगे निर्धनता और ईमानदारी का कोई सम्मान न था। सच तो यह है कि '—

'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' अर्थात् सारे गुण धन को ही आश्रित हैं। इसी की सर्वत्र गूँज था। इसी से सम्भवतः चारुदत्त ने अपनी निर्धनता का जो चित्र प्रस्तुत किया है उस में यह दीनता का परिचायक है।

निर्धनता के कारण मित्रों की अनुपस्थिति देखकर चारुदत्त ने कहा है :—

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः ।
तास्वेव सम्प्रति विरूढतृणाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥ मृ० क० (१–९)

कुछ दिन पूर्व हमारे जिस द्वार पर पूजा के समय गिराये हुए अन्नों को हंस और सारस पक्षियाँ खाया करती थी, वहाँ अब मनुष्यों के आवागमन के अभाव में उगी तृण लगी हुई भूमि पर इस समय कीड़ों के मुख से चर्वित बीजों के समूह गिरते हैं ।

अपनी पूर्वावस्था का स्मरण करते हुए चारुदत्त से विदूषक जब उसकी चिन्ता का कारण पूछता है तो चारुदत्त कह उठता है—

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥

मृ० क० (१–१०)

घोर अन्धकार में जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सुशोभित होता है उसी प्रकार दुःख का अनुभव कर लेने पर सुख का आगमन आनन्दप्रद होता है किन्तु जो मनुष्य सुखी होकर निर्धन होता है वह शरीरधारी होते हुए भी मृतक के समान जीवन बिताता है ।

चारुदत्त कंगाली से इतना ऊब गया था कि वह विदूषक से यहाँ तक कहने लगा कि उसे तो दरिद्रता से मृत्यु कहीं अधिक प्रिय है—

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥ मृ० क० (१–११)

चारुदत्त की दृष्टि में निर्धनता और मृत्यु दोनों में मृत्यु अच्छी है, निर्धनता नहीं । मृत्यु से तो थोड़ी देर दुःख रहता है किन्तु निर्धनता में अनन्तकाल तक दुःख है ।

इतना ही नहीं, इसका और भी दुष्प्रभाव होता है :

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ मृ० क० (१–१४)

निर्धनता से लज्जा होती है। लज्जित मनुष्य तेजहीन हो जाता है। निस्तेज व्यक्ति संसार में तिरस्कृत होता है। तिरस्कृत होने पर विरक्ति हो जाती है। विरक्ति होने से शोक की उत्पत्ति होती है। शोकातुर हो जाने से बुद्धि क्षीण हो जाती है। बुद्धि क्षीण होने पर सर्वनाश होने लगता है। इस भाँति अहो! दरिद्रता सभी आपत्तियों का मूल कारण है।

विदूषक ने इस पर चारुदत्त से कहा कि हे मित्र! धन तो क्षणभंगुर है अतः उसकी याद में दुःख करना व्यर्थ है। इस पर चारुदत्त ने उत्तर दिया कि मेरे विचार से निर्धनता ही मनुष्यों की चिन्ता का एकमात्र कारण है :

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं,
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् ॥
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात् परिभवो,
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥ मृ० क० (१-१५)

धनहीन होना ही मनुष्यों की चिन्ता का आश्रय है, शत्रुओं के अपमान का स्थान है, यह स्वयं एक प्रकार से दूसरा शत्रु है। यह मित्रों की ओर से अपने को घृणित बनाता है और आत्मीय जनों के वैर का कारण है। इन्हीं बातों से दरिद्री को घर छोड़कर वन चले जाने की इच्छा होती है। यहाँ तक कि उसे स्त्री का अपमान सहना पड़ता है। कहाँ तक कहा जाय, हृदय में स्थित शोक की आग एक बार ही जला नहीं डालती किन्तु सुला-सुला कर मारती रहती है।

चारुदत्त की इन उक्तियों से विदूषक भी प्रभावित हो जाता है और देवताओं की पूजा के प्रति अपने को उदासीन दिखलाता है। संयोग से वसन्तसेना के समुपस्थित होने पर और चारुदत्त के द्वारा भ्रम से उसे रदनिका समझकर यह कहने पर कि रोहसेन को लेकर भीतर चली जाओ वसन्तसेना वेश्या होने के कारण मन ही मन हीन-भावना से चारुदत्त के घर के अन्दर प्रवेश करने में झिझकती है। इस पर चारुदत्त यह कहते हुए कि अये रदनिके! उत्तर भी नहीं देती। कष्ट है।

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते।
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रताम्* चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ॥
मृ० क० (१-५३)

दैववश मनुष्य के भाग्य की जब हीनावस्था की प्रतीक दरिद्रता आ जाती है तब उसके मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। यहाँ तक कि चिरकाल से अनुरक्त जन भी विरक्त हो जाते हैं।

धनाभाव में चारुदत्त के हृदय में घर करने वाले विचार किसी प्रकार भी दूर नहीं होते और निर्धनता के ही कारण वह अपने को हर ओर से नैराश्य में डूबा हुआ देखता है और कहता है कि बड़े कष्ट की बात है कि इस निष्ठुर दरिद्रता ने मेरे चरित्र को भी कलंकित कर दिया

> यदि तावत् कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे हृत: ।
> किमिदानीं नृशंसेन चारित्र्यमपि दूषितम् ॥
>
> मृ० क० (३—२५)

यदि दैव ने मेरे धन का अपहरण कर लिया था तो इस समय उस नृशंस ने (दरिद्रता ने) क्यों मेरे चरित्र को कलङ्कित कर दिया।

निश्चय ही चारुदत्त धन की कमी को तो सहन कर सकता है पर उसके कारण चरित्र के कलङ्क को सहन नहीं कर सकता। पर वह करे भी तो क्या, इसका तो एकमात्र कारण उसकी कंगाली है जिसे दूर करने में उसका वश नहीं चलता।

ऐसे में चारुदत्त की उसकी पत्नी धूता जब कष्ट की स्थिति में देखती है तो युक्ति से वह विदूषक को रत्नावली के व्रत के बहाने रत्नावली दान में दे देती है जिसे वह जानती है कि उसके हाथ वह चारुदत्त के पास पहुँच जायेगी। होता भी यही है पर उसे देखकर वह कह उठता है :—

> आत्मभाग्यक्षतद्रव्य:, स्त्रीद्रव्येणानुकम्पित: ।
> अर्थत: पुरुषो नारी या नारी सार्थत: पुमान् ॥ मृ० क० (३-२७)

दुर्भाग्य से धन नष्ट हो जाने पर मैं स्त्री के धन से अनुकम्पित हुआ हूँ। अर्थ से पुरुष स्त्री हो जाता है और अर्थ से ही स्त्री पुरुष हो जाती है।

निर्धनता से जो हीन भावना चारुदत्त के हृदय में घर कर गई थी वह दूर नहीं होती। विदूषक के द्वारा वसन्तसेना की कटु आलोचना सुन कर चारुदत्त दरिद्रता के कारण ही कह उठता है।

> सैषं करोति पुरतस्त्वरितं प्रयातुं,
> प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।
> सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलस्वभावा,
> खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥ मृ० क० (५-८)

वह कहता है कि मन शीघ्र भागने के लिए उत्सुक होता है किन्तु परिश्रम से अस्वीर होने के कारण उसके पैर उतने वेग से नहीं चलते। मनुष्य की

चपल मनोवृत्तियाँ तो सर्वत्र जाती हैं किन्तु असमर्थ होने से पुनः वे मनोवृत्तियाँ भी खिन्न होती हुई उसके हृदय में ही विलीन हो जाती हैं।

वह फिर विदूषक से कहता है कि हे मित्र :—

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसौ जन । (स्वगतम्)

न गुणहार्यो ह्यसौ जन । (प्रकाशम्)

यथमर्थे परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया ॥ मृ० क० (५-९)

जिसके पास धन है, उसकी बसन्तसेना है क्योंकि यह वेश्या धन से ही वश में की जा सकती है। (मन में) नहीं वह तो गुण के वशीभूत हो सकती है (प्रकट) हम लोग तो धनहीन हैं, अतः निश्चय ही बसन्तसेना मुझसे स्वयं परित्यक्ता है।

इसी समय चारुदत्त अपने को असहाय अवस्था में चारों ओर देखकर कह उठता है —

यान्ति हि मत्ताग्न्यमिलितदयकता' प्रयान्ति मे दूरतर वयस्या ।

परोऽपि बन्धु समर्थास्थितस्य मित्रं न कश्चिद् विषमस्थितस्य ॥

मृ० क० (१०-११)

ये मेरे मित्रगण भी भय से मुख ढककर मुझसे दूर हटकर जा रहे हैं। सम्पन्न अवस्था में पराये भी बन्धु हो जाते हैं किन्तु विपत्तिग्रस्त होने पर सुहृद भी बन्धुत्व छोड़ देते हैं।

चारुदत्त विपत्ति का कारण भी निर्धनता ही समझता है। उसका विश्वास है कि शकार की काली करतूतें, जिनके कारण चारुदत्त पर बसन्तसेना के मारने का मिथ्या आरोप लगाया गया है, इसीलिए सफल हुईं कि शकार सम्पन्न है और राजा का सम्बन्धी है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक में अन्त में, विजय धर्म की ही दिखाई है, पर वह भली भाँति स्पष्ट कर दिया है कि धन के कारण क्या-क्या दोष सम्भव नहीं हैं, वरन् सभी कुछ सम्भव है।

क्यों न हो? जहाँ शासकीय वर्ग के कुछ लोग ही दुराचार और भ्रष्टाचार को रोकने के स्थान पर उत्कोच (रिश्वत) लेकर दुराचारी और भ्रष्टाचारियों को बढ़ाता है वहाँ फिर इस पर कैसे रोक संभव है। समाज जब देखता है कि धन के बल पर अत्याचारी, अनाचारी, दुराचारी, भ्रष्टाचारी और रिश्वतखोर मनमानी कर रहे हैं और सम्पन्न हो रहे हैं तब वह कैसे अपने को इन बुराइयों से रोक सकता है। यह तो असाध्य रोग जैसा है।

उच्च वर्ग एवं निम्नवर्ग में मद्यपान की अधिकता

मद्यपान न केवल स्वास्थ्य के लिए घातक है वरन् इससे और भी अनेक दुराचार देखे जाते हैं। मद्यपी में सन्निपात के चिह्न, जैसे वस्त्रों पर कीचड़, असम्बद्ध बकना और विकलता पायी जाती है।

वैकल्यं वस्त्रीपातमसम्बद्धवचनम् ।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ॥

सुभाषित रत्नाकर, पृ० १०४।

मृच्छकटिक काल में मदिरापान की प्रथा थी। शराब पीने के स्थान मदिरालय, आपानक अथवा पानगोष्ठी कहलाते थे। शकार ने भिक्षु से कहा है :—

'आवाणअ मज्झपविट्ठस्स विअ रत्तमूलअस्स सीस दे मोडइस्सम्'[1]

मृ० क० (अष्टम अङ्क)

मदिरालय में लाई हुई रक्तमूलक के समान मैं तुम्हारे मस्तक को भग्न करता हूँ।

चतुर्थ अंक में भी वसन्तसेना के छठे प्रकोष्ठ में प्रवेश करने पर विदूषक ने मदिरासेवन की चर्चा करते हुए कहा है :—

'अवलोईअदि सककलं व पमट्ठदि हासो पिवीअदि व अणवरअ ससिक्कारं मइरा। इमे चेडा, इमा चेडिआओ, इमे अवरे अवधीरिदे पुत्तदारविता मणुस्सा करीआसविरपीद मदिरेहि अणेका पणेहिं जे मुक्का आसमा दाद सिवन्दि'।[2]

मृ० क० (च० अंक)

कोल कटाक्षपूर्वक देख रहे हैं, हँसी हो रही है, सी-सी करते हुए निरन्तर मदिरा का पान हो रहा है। ये चोर हैं और ये दूसरे पुत्र-कलत्र एवं धन का तिरस्कार कर यहाँ आये हुए मनुष्य उन घड़ों वाले मद्य को पी रहे हैं जिसे वेश्याओं ने पीकर छोड़ दिया है।

उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि मनोरंजन के समय मद्यपान होता था और आनन्द के साथ इसकी अभिव्यक्ति की जाती थी जैसा कि सी-सी की

---

१. आपानक मध्य प्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते मोटयामि (स० अनु०)

२. अवलोक्यते सकटाक्षम्, प्रवर्तते हास , पीयते च अनवरतं ससीत्कारं मदिरा। इमे चेटा, इमाश्चेटिका इमे अपरे अवधीरित पुत्रदारवित्ता मनुष्या. करका-सहितपीतमदिरैर्गणिकाजनैर्मुक्ता आसवा ताम् पिबन्ति। (स० अनु०)

ध्वनि से ज्ञात होता है। गर्मियों के दिनों में बर्फ में मिलाकर मदिरा पी जाती थी। वेश्यानुरागी व्यक्ति इस प्रकार बर्फ से मिली मदिरा को वेश्याओं को भेंट करते थे और उनसे अवशिष्ट पेय को स्वयं बाद में पीने में आनन्दानुभव करते थे।

यहीं अष्टम प्रकोष्ठ में वसन्तसेना की स्थूलकाय माता की चर्चा के समय विदूषक परिहास के साथ कहता है —

दासीए धीए। वरं ईदिसी सुअपीअ बठरी मुदो ज्जेव।[1]

अरी दासी की पुत्रि! इस प्रकार विशाल एवं स्थूल पेट वाले का मर जाना ही अच्छा है। इस विचार को श्लोक द्वारा भी विदूषक ने अभिव्यक्त किया है।

सीहु सुरासवमत्तिआ एआवत्थं गदाहि मत्तिआ।

जइ मरइ एत्थ मत्तिआ होदि सिआलसहस्स जत्तिआ।[2] मृ० क० (४-३०)

सीधु, सुरा और आसव इन तीन प्रकार के मद्यपान से मतवाली वसन्तसेना की माता इस प्रकार स्थूल हो गई है। यदि यहाँ इसकी मृत्यु हो जाय तो हजारों शृगालों का भोजनोत्सव हो जाय।

मृच्छकटिक काल में मद्यपान पुरुष एवं स्त्रीवर्ग में ही प्रचलित था। इतना अवश्य है कि इसका प्रचार द्यूत-प्रेमी और गणिकानुरक्त पुरुषों और वेश्याओं तक सीमित था। इसके पीनेवाले निम्नवर्ग के उच्छृंखल व्यक्ति होते थे। उच्चवर्ग में कहीं इसकी चर्चा नहीं है। मदिरा और इसके सेवन करने वालों को तत्कालीन समाज हेय दृष्टि से देखता था।

निष्कर्ष

वैसे नशीली वस्तुओं का सेवन चिरकाल से प्रचलित है। मद्यपान उनमें से एक है। न केवल यह भारत में, वरन् सर्वत्र देखा जाता है। इसकी बुराइयाँ सब जानते हैं और नैतिक रूप में इसका विरोध भी किया जाता है, फिर भी यह रुकता नहीं।

एक ओर यह आमोद-प्रमोद का साधन है तो दूसरी ओर श्रम की थकावट को दूर करने के लिए तथा अधिक कार्यक्षमता बनाये रखने के लिए इसका

---

१. दास्याः पुत्रि! वरम् ईदृश शुनकीन बठरी मृतएव। (सं० अनु०)

२. सीधुसुरासवमत्ता एतावदवस्थां गता हि माता।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रभोजना॥ (सं० अनु०)

प्रयोग किया जाता है, ऐसी भी धारणा है। फिर मदा मदा ही है और इसका प्रभाव शरीर और मस्तिष्क दोनों पर पड़ना स्वाभाविक है।

सामाजिक विषमताएँ

इस युग में सामाजिक भेदभाव बराबर बना हुआ था। चारुदत्त चाण्डाल से कोई वस्तु दानस्वरूप नहीं ग्रहण कर सकता था। चेट शकार का दास है, पर उसे कोई स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। अपने स्वामी का अपराध छिपाने से निषेध करने पर वह बन्दी बना दिया जाता है। उसने जब वसन्तसेना की हत्या के सम्बन्ध में सत्य का उद्घाटन किया तब चाण्डालों को भी विश्वास नहीं होता कि वह सत्यभाषण करता होगा। द्यूतक्रीडा, मद्यपान, दास्यभाव एवं चौर्यकर्म सामाजिक विषमताओं के स्पष्ट प्रतीक हैं।

निष्कर्ष

यद्यपि मृच्छकटिकार का उद्देश्य नहीं रहा है कि बुराइयों के बावजूद भी अच्छाइयों की ओर बढ़ा जाय, पर बुराइयों को सामने देखते हुए जनता का बढ़ता हुआ रुझान उस ओर से तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक कि शासन की ओर से उन बुराइयों पर प्रतिबन्ध न लगाया जाय। यही बात उस समय के समाज की रही जिससे ये बुराइयाँ भी अपना स्थान ग्रहण कर सकीं।

अध्याय विश्लेषण

मृच्छकटिक अपने समय के हिन्दू समाज की स्थिति को व्यक्त करता है। कैसी अनोखी बात है कि शताब्दियों बाद भी आज न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी इसी से मिलता-जुलता समाज दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से ही अपने-अपने समय की कुछ विशेषताएँ रही हैं।

सेवकों का रूप आजकल कुछ भिन्न है पर उस समय मूल्य से दास खरीदे जाते थे जिनपर स्वामियों का पूरा अधिकार था और एक दूसरे के प्रति उनकी सहानुभूति थी।

उस समय उज्जयिनी भारत की समृद्ध नगरी थी। अधिक समृद्धि भी बुराइयों का कारण बन जाती है जिसके फलस्वरूप वहाँ जुआ-चोरी जैसे जघन्यकार्य करने वालों की कमी नहीं थी। नागरिक विलास प्रिय, विलासी, विनोदशील एवं भावुक थे। अपने रूप-सौंदर्य को धनिकों के हाथ बेचने वाली वेश्याओं के साथ-साथ

उदात्त चरित्र एवं कलाप्रवीण गणिकाएँ भी थीं। वसन्तसेना उनमें से एक थी, जिसके अस्तित्व ने प्रस्तुत प्रकरण में जीवन डाल दिया।

द्यूतक्रीड़ा और मद्यपान से कोई वर्ग अछूता न बचा था। ये चीजें उस समाज के जीवन का अंग बन चुकी थीं। चोरी करने में किसी को झिझक न थी। धन और गहने चुराने के लिये हर कोई इस कार्य में प्रवृत्त हो सकता था, भले ही वह उत्तम वर्ण का हो। शर्विलक यद्यपि ब्राह्मण है पर चोरी जैसा दुष्कार्य करने से वह नहीं हिचकता। उसका उद्देश्य चोरी द्वारा धन एवं आभूषण प्राप्त करके मदनिका को दासी पद से छुड़ाकर प्रेयसी बनाना था। चोरी के अवसर पर वह अपने पवित्र जनेऊ की हँसी होने में भी संकोच नहीं करता।

ऐसे दूषित वातावरण में चारुदत्त जैसे उदार युवक और सच्चरित्र वसन्तसेना की कहानी गिरे हुए समाज को ऊपर उठाने की एक सुन्दर प्रहेलिका है। यह तो निश्चित है कि इस आदर्श गाथा के सहारे छोटी मोटी बुराइयाँ दब जाती हैं, पर इससे भी निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि शासन की ओर से जुआ, चोरी और मद्यपान आदि पर कोई *प्रतिबन्ध न था।*

पंचम अध्याय

मृच्छकटिक की विशिष्ट सामाजिक उपलब्धियाँ

वैज्ञानिक साहित्यिक शिक्षा का प्रचार

किसी भी देश और समाज के विकास के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इसी से ज्ञान का विकास एवं सभ्यता और संस्कृति का प्रसार होता है। मृच्छकटिक काल से पूर्व शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था। इस समय तक वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, रामायण और महाभारत की जानकारी विशद रूप से हो चुकी थी। मृच्छकटिक की कथावस्तु एवं तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियाँ इस बात की द्योतक हैं कि उस समय उच्चवर्ग में शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था। राजा का सम्बन्धी शकार निरक्षर था। इसका कारण यह था कि वह उच्च वर्ग का न था। राजा की रखैली के नाते वह राजा से सम्बन्धित था।

निम्नवर्ग में शिक्षा का अभाव था। न्यायालय में कायस्थ के प्रति अच्छी धारणा नहीं थी। शिक्षा के भी दो ही रूप थे, या तो वह उच्चकोटि की थी या फिर उसका अभाव ही था। राजा एवं न्यायाधीशों को ब्राह्मणों की भाँति उच्चशिक्षा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था।

मृच्छकटिक काल शिक्षा की दृष्टि से पर्याप्त विकसित था परन्तु शिक्षा उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। प्रारम्भ में शूद्रक का परिचय भी उसकी साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं कलात्मक योग्यताओं को दिखाकर दिया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय की पाठ्यविधि में सब प्रकार की शिक्षा सम्मिलित थी। निम्न कथन इस बात का द्योतक है—

> ऋग्वेद सामवेद गणितमथ कला वैशिकी हस्तिशिक्षा
> ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
> राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
> लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥

मृ० क० (१-४)

ऋग्वेद, सामवेद, गणितविद्या, नृत्यगीतादि, चौसठ कलाओं, व्यापार-नियम तथा हस्तिपालन आदि विद्याओं में निपुण तथा भगवान् शंकर की कृपा से अज्ञानरूपी अन्धकार के नष्ट होने से दिव्य दृष्टि लाभ कर, इसी प्रकार अपने पुत्र को राज्य सिंहासन पर आरूढ़ कर महान् उद्योग के द्वारा अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति कर एक सौ दस दिन की आयु प्राप्त कर राजा शूद्रक अग्नि में प्रविष्ट हो गये।

आरम्भ की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का प्रमुख स्थान था। आगे चलकर यह वैदिक शिक्षा का प्रमुख आधार बनी। विशेषतः यह धार्मिक शिक्षा पुरोहितों और ब्राह्मणों में प्रचलित थी। इस आधार पर वे लोग आगे चलकर अपने को पौरोहित्यकार्य एवं यज्ञविधि में दक्ष बनाते थे। धर्मशास्त्रों का अध्ययन न केवल सामान्यतः दैनिक धार्मिक कृत्यों के लिए आवश्यक था वरन् सामाजिक जीवन को उसी साँचे में ढालकर बिताना भी था। धर्मशास्त्र सामाजिक विधानों की संहिता समझी जाती है। इसीलिए न्यायाधीशों को उसका ज्ञान होना परमावश्यक है जिसके आधार पर वे अभियोगों में धार्मिक विचार से निर्णय दे सकें। न्यायाधीशों को अपने वैधानिक निर्णय का प्रमाण देने के लिए यथोचित धर्मशास्त्र अथवा उसके निर्माता का नाम उद्धृत करना पड़ता था। शकारश्रेष्ठि ने चारुदत्त के सम्बन्ध में कहा भी है—

अयं हि पातकी ''' विमर्शरुहि यह ॥

ऋग्वेद का स्वाध्याय तो उस समय विशेषतः होता ही था। सामवेद के मन्त्रों का भी सस्वर पाठ किया जाता था। गायन-कला एवं संगीत-विज्ञान की उत्पत्ति इसी से बतायी गयी है।

धर्मशास्त्र के स्वाध्याय एवं मनन की प्रवृत्ति तो सभ्य समाज में थी ही, साथ ही साहित्यिक शिक्षा भी इस युग में अपने में पूर्ण थी। प्राचीन साहित्य, दर्शन, पुराण, रामायण, महाभारत एवं काव्यों का अनुशीलन इस युग में अभिरुचिपूर्वक होता था।

रामायण और महाभारत की शिक्षा का इतना प्रचार था कि तत्कालीन नाटकों की कथावस्तु के स्रोत प्रायः ये ही ग्रन्थ होते थे। कल्पना पर निर्भर कलाओं एवं आख्यायिकाओं को महत्त्व नहीं दिया जाता था।

तत्कालीन समाज को हस्तिविद्या और चौर्य विद्या का अच्छा ज्ञान था। शूद्रक हस्तिविद्या का अच्छा विशेषज्ञ था। चौर्य शास्त्र भी पूर्ण विकसित हो

मुख्य था। सन्धिच्छेद के कुछ विशेष सूत्र थे। कनकशक्ति, भास्कर नन्दी एवं योगाचार्य इस शास्त्र के आदि विद्वान् माने जाते थे।

शूद्रक को अनेक विद्याओं का ज्ञान था। वह वैशिकी कला में भी निपुण था। वैशिकी के अन्तर्गत सभी ललित कलाएँ एवं अभिनय, नृत्य आदि हैं।

ऐसा लगता है कि उस समय अभिनय विद्या के प्रशिक्षण के लिए विशिष्ट शालाएँ स्थापित थीं। वेश्याओं के व्यवसाय के लिए सम्भव है ऐसे प्रशिक्षण का अधिक महत्त्व रहा हो।

निष्कर्ष

शिक्षा के विचार से आज के युग की प्राचीनकाल से तुलना करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामान्यतः आज का समाज बहुशिक्षित होते हुए भी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति से विपन्न है। इसका एक मात्र कारण यह है कि प्राचीनकाल के समाज की धर्म के प्रति आस्था और ईश्वर के प्रति विश्वास था। वे पाप से दूर बचने और पुण्य कार्य में व्यस्त रहते थे। अपने कर्तव्य-शास्त्र में उनकी निष्ठा थी। धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय एवं मनन उनके लिए केवल पढ़ने-पढ़ाने और विचारने के लिए नहीं था। विद्या उस समय ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और बल का उपयोग दूसरों की रक्षा के लिए था, पर आजकल तो समाज के अधिकांश व्यक्ति विद्या का उपयोग विवाद के लिए, धन का उपयोग पापपूर्ण कार्यों के लिए और शक्ति का प्रयोग दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए करते हैं।[1]

इस बदले हुए दृष्टिकोण से आज प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ी हुई शिक्षा भी समुचित काम नहीं पहुँचा रही है।

गणित के अध्ययन की झलक

धर्मशास्त्र, साहित्य, संगीत कला और विज्ञान के अध्ययन से विद्यानुरागियों का बौद्धिक विकास बढ़ता गया। उच्च वर्णों में विशेषतः ब्राह्मण वर्ग में गणित की ओर रुचि बढ़ती गयी। राजपुत्रों को भी इसकी शिक्षा दी जाती थी। शूद्रक को गणित का पर्याप्त ज्ञान था।

---

१. विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, दुर्जननिन्दा (श्लोक १५१)

मृच्छकटिककाल में अन्य पाठ्यविषयों के साथ गणित भी एक उपयोगी विषय था। नये विषय की ओर झुकाव होना स्वाभाविक है। अतः प्रतिभाशाली नवयुवकों ने इस विषय का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। ज्योतिष विद्या के विद्वानों को तो गणित का सहारा लेना ही पड़ता है। ज्योतिष के दो प्रकार हैं—एक गणित पर आधारित ज्योतिष और दूसरा फलित पर आधारित ज्योतिष। राजा शूद्रक की रुचि गणित में तो थी ही, ज्योतिष का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। इस ज्योतिष विद्या के द्वारा जीवन के भूत, भविष्यत् और वर्त-मान का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

ज्योतिष

ज्योतिष का विषय बड़ा रुचिकर है। प्रारम्भिक काल से ही शकुन आदि के रूप में इसकी मान्यता थी। यह फलित ज्योतिष का एक रूप है। फिर जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया और विविध शास्त्रों का प्रचार होता गया वैसे-वैसे ज्योतिष का विज्ञान भी प्रकाश में आने लगा। गणित पर आधारित ज्योतिष का रूप निस्संदेह जीवन में अक्षरशः सही उतरता है। फलित पर आधारित ज्योतिष के लिए यदि विशेष प्रतिभा की आवश्यकता है तो गणित पर आधारित ज्योतिष के लिए गणित के ज्ञान का अभ्यास आवश्यक है। गणित के जितने भी रूप आज विद्यमान हैं जैसे अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, ट्रिग्नोमैट्री, मैन्सुरेशन आदि सभी प्राचीनकाल में प्रचलित थे। आज भी लीलावती और सूर्य सिद्धांत ज्योतिष के प्राचीन महान् ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिन्होंने पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खोल दी हैं। मनुष्य की मुख मुद्रा, हस्तरेखा और जन्मकुण्डली आदि विविध रूपों में इसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

हस्तिविद्या, अश्वविद्या, विविध पक्षी, कीटाणु एवं पुष्प-पौधों का ज्ञान

सभ्यता और संस्कृति का विकास भारतवर्ष में वैदिक काल से ही आरम्भ हो गया था। जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया वह अपने आस-पास की सभी वस्तुओं से परिचित होने का जिज्ञासु रहा। खान-पान की व्यवस्था से निश्चिन्त होने पर उसका सारा समय पशु, पक्षी, कीटाणु तथा पेड़-पौधों, पुष्पों और फलों के ज्ञान में बीतता था। धीरे धीरे मनुष्य का वह ज्ञान परिपक्व हो गया कि कौन से जीव हिंसक हैं और कौन से अहिंसक। हिंसक जीवों से बचकर वह जीवन बिताने लगा और अहिंसक जीवों को अपना साथी बनाकर उनसे काम चलाने के प्रयत्न में लीन रहा। गाय, घोड़ा और हाथी ऐसे पशु रहे जिनसे

उसने अधिकाधिक लाभ उठाया। दूध के लिए गाय, घूमने के लिए घोड़ा, और शान शौकत के लिए उसने हाथी को अपना प्रिय पशु समझा। धीरे-धीरे इन पशुओं की उसे विशेष जानकारी हो गयी। इन्हें उसने पालना आरम्भ कर दिया। पशुओं की भाँति पक्षियों एवं कीटाणुओं की भी जानकारी मनुष्य की बढ़ती गयी। अहिंसक पक्षियों को उसने पशुओं की भाँति पाला। इन सबके साथ अन्य जीवों का भी ज्ञान उसे भली भाँति हो गया और विषैले कीटों से वह बचकर रहने लगा। कभी उनके काटे जाने पर किस वनस्पति से उसे लाभ होता इसका भी ज्ञान उसे थोड़े समय में हो गया। इस क्रम में अपने बढ़ते हुए परिवार के साथ उसे इन सबकी भी जानकारी होती गयी। तीतर, तोता, मैना आदि पक्षियों को उनकी विशेषताओं के कारण लोग पालने लगे। वनस्पति विज्ञान के साथ विभिन्न पेड़-पौधों के फल-फूलों से भी मनुष्य की जानकारी बहुत अधिक बढ़ गयी। सुन्दर फल-फूलों को वह उपयोग में लाने से पूर्व अपने आराध्य देवी-देवताओं को भेंट करता था।

पशु, पक्षी, कीटाणु एवं वनस्पति सम्बन्धी ग्रन्थों में इन सब की विशेष चर्चा है। साहित्यिक कलात्मक विकास के साथ मनुष्येतर जीवधारियों का ज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान भी मृच्छकटिककाल तक पर्याप्त रूप से बढ़ चुका था। मृच्छकटिककाल में इन सबका विकसित रूप हमारे सामने है। समृद्ध पुरुष अच्छे पशु-पक्षियों को अपने यहाँ आश्रय देते थे। वसन्तसेना के सुन्दर भवन को देखते हुए, दूसरे प्रकोष्ठ में पालतू पशुओं को देखकर मैत्रेय ने विविध पशुओं का बड़ा रोचक वर्णन किया है। 'ही ही भो, इदो वि दुदिए पओट्ठे पवहणो उवणीदजवसबुसकवलसुपुट्ठा तेल्लब्भत्तविसाणा बद्धा पवहणबइल्ला। अअं अवरो अवमाणिदो विअ कुलीणो दीहं णीससदि सेरिहो। इदो अ अवणीदजुद्धस्स मल्लस्स विअ मद्दीअदि गीवा मेसस्स। इदो इदो अवराण अस्साणं केसकप्पणा करीअदि। अअं अवरो पाडच्चरो विअ दिढबद्धो मक्कडओ साहामिओ। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ कूरभत्तमिस्सं पिण्डं हत्थी पडिच्छावीअदि मेत्तपुरिसेहिं'।[1]

मृ० क० (च० अ०)

---

१. आश्चर्यं भोः इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्याप्तोपनीतयवसबुसकवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रवहणबलीवर्दाः। अयमपरोऽवमानित इव कुलीनो दीर्घं निःश्वसिति सैरिभः। इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य। इत इतोऽपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते। अयमपरः पाटच्चर

अहा ! यहाँ भी दूसरे कक्ष में भूसा प्रकोष्ठ में रखी हुई घास भूसे के खाने से पुष्ट तथा तेल से स्निग्ध सींगवाले गाड़ी के बैल बंधे हुए हैं । इन दोनों में से एक भैंसा अपमानित कुलीन के समान दीर्घ निश्वास ले रहा है । इस ओर युद्ध से विरत योद्धा के समान मेढ़ की गर्दन मली जाती है । इधर अन्य घोड़ों की केश रचना हो रही है । यह बानर दूसरे चोर के समान घुड़साल में कसकर बँधा हुआ है । (दूसरी ओर देखकर) इधर तो भात से बहते हुए तेल से मिले हुए पिण्ड को महामात्य हाथी को खिला रहे हैं ।

आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते ।
हृदये गृह्यते नारी यदिदं नास्ति गम्यताम् ॥ मृ० क० (१–५०)

हाथी बन्धनस्तम्भ में बाँधकर वश में किया जाता है । घोड़ा लगाम के जोर से वश में होता है और स्त्री हृदय से अनुरक्त होने पर वशीभूत होती है । यदि ऐसी बात नहीं है तो निराश होकर जाइये ।

हस्तिविद्या की तो इसमें प्रारम्भ में चर्चा है । शूद्रक हस्तिविद्या में बड़ा दक्ष था और युद्ध में शत्रुओं के हस्तियों को वश में करना जानता था ।

'ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षाम्' से तो शूद्रक की हस्तिशिक्षा का बोध होता ही है । इससे आगे उसके हस्तियुद्ध का भी परिचय मिलता है—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥
मृ० क० (१–५)

संग्राम में कुशल, सावधान, वैदिकों में श्रेष्ठ, तपोनिष्ठ तथा शत्रुओं के हाथियों से मल्ल युद्ध करने के अभिलाषी शूद्रक नाम के राजा हुए ।

हस्तिविद्या की शिक्षा उस समय इतनी प्रचलित हो गयी थी कि सेवक कर्णपूरक तक उन्मत्त हाथी को वश में करना जानता था । हस्तिपालन उस समय पुरुषों की समृद्धि का प्रतीक था । आज भी ऐसा ही समझा जाता है पर यह मशीनों का युग है, अतः आवागमन के साधनों के पास हाथी के स्थान पर कारें दिखाई देती हैं । हाथियों के उस समय विभिन्न नाम रखे जाते थे । वसन्तसेना के हाथी का नाम खुण्टमोडक था ।

इस युवकवो मन्दुरायां बाधापूप । (अन्यतोऽवलोक्य) इतश्च कूटमृदंस-मिश्र पिण्ड हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः । (सं० अनु०)

हस्तिविद्या और अश्वविद्या के विविध पशुओं के ज्ञान के अतिरिक्त अनेक पक्षियों का भी ज्ञान उस समय पर्याप्त था। वसन्तसेना के सप्तम प्रकोष्ठ के वर्णन में विदूषक ने विविध पक्षियों का वर्णन करते हुए कहा है—

'ही ही भो। इदो वि सत्तमे पओट्ठे सुसिलिट्ठविहग वाडी सुहणिसण्णाइं अण्णोण्णचुम्बणपराइं सुहं अणुहवन्ति पारावदमिहुणाइं। दहिभत्त पूरिदोदरो बम्हणो विअ सुत्तं पढदि पञ्जरसुओ। इअं अवरा सामाणणा लद्धपसरा विअ घरदासी अहिअं कुरकुराअदि मअणसारिआ। अणेअ फल रसासादपहिट्ठकण्ठा कुम्भदासी विअ कूअदि परपुट्ठा। आलम्बिदा णाअदन्तेसु पञ्जर परम्पराओ। जोधीअन्ति लावआ। आलविअन्ति कपिञ्जला। पेसीअन्ति पञ्जरकवोदा। इदो तदो विविहमणि चित्तलिदो विअ अअं सहरिसं णच्चन्तो रविकिरण संतत्त पक्खुक्खेवेहिं विधुवेदि विअ पासादं घरमोरो (अण्णदो अवलोक्य) इदो पिण्डीकिदा विअ चन्दपादा पदगदिं सिक्खन्ता विअ कामिणीण पच्छादो परिब्भमन्ति राअहंस मिहुणा। एदे अवरे वुड्ढ महल्लआ विअ इदो तदो संचरन्ति घरसारसा। ही ही भो, पसारणम् किद गणिआए णाणापक्खिसमूहेहिं। ण सच्चं क्खु णन्दणवण विअ मे गणिआघर पडिभासदि'।[1] मृ० क० (च० अंक)

अहा! यहाँ भी सातवें प्रकोष्ठ में सुन्दर पक्षी गृह में सुखपूर्वक बैठे हुए परस्पर चुम्बन लेने में तत्पर कबूतर के जोड़े सुख अनुभव कर रहे हैं। दही और भात से सन्तुष्ट ब्राह्मण के समान, पिंजरे का तोता सुन्दर वाक्यों का उच्चारण कर रहा है। नायक के द्वारा अर्जित प्रभावशाली गृहसेविका के समान मद्

---

१. आश्चर्यं भो, इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहगवाटी सुखनिषण्णान्यन्योन्य चुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा स्वामिना लब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वाद प्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। अवलम्बिता नागदन्तेषु पञ्जरपरम्परा.। योध्यन्ते लावका आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोता.। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन् रविकिरणसंतप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासाद गृहमयूर। (अन्यतोऽवलोक्य) इत पिण्डीकृता इव चन्द्रपादा" पदगति शिक्षमाणा इव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहत्तरका इव इतस्ततः संचरन्ति गृहसारसा। आश्चर्यं भो, प्रसारणं कृत गणिकया नानापक्षिसमूहै. यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते। (छा० अनु०)

दूसरी मैना अधिक कुर कुर शब्द कर रही है। अनेक प्रकार के फलों का स्वाद लेने से सुन्दर चच्चवाली कुट्टनी के समान, कोयल कूक रही है। खूंटियों पर पिंजरों की पंक्तियां लटक रही हैं। लावक पक्षी लड़ रहे हैं। पिंजरे में स्थित तीतर बोल रहा है। पिंजरे में पाले हुए कबूतर निर्दिष्ट स्थान पर भेजे जा रहे हैं। विविध मणियों से चित्रित की भाँति ये गृहमयूर सहर्ष इधर-उधर नाचते हुए सूर्य की किरणों से तपते हुए प्रासाद को शान्त करने के लिए अपने परों से हवा कर रहे हैं। (दूसरी ओर देखकर) एकत्र स्थित चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल राजहंसों के जोड़े, कामिनियों से मदगति की शिक्षा ग्रहण करते हुए उन्हीं के पीछे घूम रहे हैं। ये दूसरे गृहसारस वृद्धश्रेष्ठों के समान इधर उधर घूम रहे हैं। आश्चर्य है अरे! वेश्या वसन्तसेना ने अनेक पक्षियों द्वारा इस कक्ष को व्याप्त कर दिया है। वास्तव में यह वेश्यागृह मुझे नन्दन वन के समान शोभित लग रहा है।

विविध पशु-पक्षियों की जानकारी के साथ कीटाणुओं की चर्चा भी उपमानों के रूप में अथवा सामान्यतः यहाँ देखी जाती है। वसन्तसेना द्वारा चारुदत्त के प्रति प्रेम-अभिव्यक्ति पर मदनिका कहती है—

'अज्जए कि क्षीणकुसुम सहमारपादव महुअरीओ उण सेवन्ति।'[1]

मृ० क० (द्वि० अङ्क०)

आर्ये! क्या मञ्जरियों से रहित आम्रवृक्ष का सेवन भ्रमरियां करती हैं?

यहाँ मञ्जरी से रहित आम्रवृक्ष की उपमा निर्धन चारुदत्त से और मधुकरी की उपमा वसन्तसेना से दी गयी है।

मृच्छकटिक के चतुर्थ अंक में विविध पशु-पक्षियों के वर्णन के साथ कतिपय पुष्प-पौधों का भी वर्णन है। वसन्तसेना का प्रासाद नन्दन वन की भाँति छटा दिखाता है। कुबेर भवन जैसा वसन्तसेना का घर देखकर विदूषक जब चेटी से वसन्तसेना के विषय में पूछता है तो चेटी कहती है —

'अज्ज। एसा रुक्खवाडिआए चिट्ठदि। ता पविसदु अज्जो'।[2]

आर्य! यह वसन्तसेना उद्यान में बैठी हुई है। आप उद्यान में प्रवेश करें।

मृ० क० (च० अंक)

---

१ आर्ये, कि क्षीणकुसुम सहकारपादप मधुकर्यः पुन सेवन्ते॥ (सं० अनु०)

२. आर्य। एषा वृक्ष वाटिकायां तिष्ठति। तत् प्रविशतु आर्यः।

उद्यान का रोचक वर्णन तृतीय अंक के 'समृद्धिशालिता के प्रतीक' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

और देखिये—

एसो असोअ गुच्छो णवणिग्गम-कुसुम-पल्लवो भादि।
सुभडोव्व समरमज्झ घणलोहिद पङ्कचच्चिक्को ॥[1] मृ० क० (४ १७)

और भी युद्धभूमि में, सघन रक्त के पंक से लिप्त योद्धा के समान नवीन उत्पन्न पुष्प एवं किसलय से युक्त यह अशोक वृक्ष सुशोभित हो रहा है।

पेड़ पौधों के प्रति उस अभिरुचि का प्रमाण इतनी बड़ी चढ़ी थी कि वसन्त-सेना मैत्रेय से चारुदत्त की उपमा उत्तम वृक्ष से देते हुए कहती है—

गुणप्रवाल विनयप्रशाखं विस्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
तं साधुवृक्षं स्वगुणै फलाढ्यं सुहृद् विहङ्गा सुखमाश्रयन्ति ॥
मृ० क० (८, ३२)

उदारता आदि गुण जिसके पल्लव हैं, नम्रता ही विनम्र शाखाएँ हैं, विश्वास ही जड़ है एवं गौरव ही पुष्प हैं, ऐसे परोपकार आदि अपने गुणों से ही जो गुणवान हो रहा है उस चारुदत्त रूपी उत्तम वृक्ष पर मित्र रूपी पक्षी क्या अब भी सुखपूर्वक निवास करते हैं।

मृच्छकटिककार प्रकृतिप्रेमी है। उसने अपनी कृति को विभिन्न अवसरों पर पशु, पक्षी, कीटाणु एवं पुष्प, पौधों के ज्ञान से और भी रोचक बना दिया है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक में वसन्तसेना के महल के प्रकोष्ठों में विविध पशु-पक्षी, कीटाणु एवं पुष्प-पौधों का सुन्दर वर्णन है। मानव का सदैव इनसे लगाव रहा है। इनसे सम्बन्धित अनेक चर्चाएँ हैं। गौ की महत्ता सभी स्वीकार करते हैं। उसकी उपयोगिता और वत्सलता से उसे हिन्दू धर्म में पूजा के योग्य माना गया है।

हरिण के सुन्दर और चमकीले चर्म ने आरण्यकजनों का मन भी मोहित कर दिया, फिर जटायु की सहानुभूति भी ममता का प्रतीक है। देवताओं ने पशुओं को अपना वाहन बनाकर उनसे अपना सान्निध्य प्रकट किया है। ज्ञान की

---

१. एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गम कुसुमपल्लवोभाति।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहित पङ्कचर्चिक्क ॥ (म० अनु०)

अभिज्ञानो देवी सरस्वती का वाहन हुआ है। कविप्रसिद्धि के अनुसार हंस का नीर-क्षीर विवेक कवियों के उपमान का विषय बना हुआ है।

गौ, सिंह, हस्ती की चर्चा संस्कृत कवियों ने प्रायः अपने काव्यों में की है। पक्षियों का भी वर्णन हमारे साहित्य में उपलब्ध है। तोता, सारिका और कोयल अपने-अपने गुणों के लिए प्रसिद्ध हैं। अपनी वाणी की मधुरता और अनुकरण शक्ति के कारण तोता आज भी पालतू पक्षी बना हुआ है। मदन मित्र के मकान का परिचय देते हुए यह संकेत किया गया था—

> स्पष्ट प्रमाण परम प्रमाण
> कीर्तयन्ता यत्र विरौमिरन्ति ।
> द्वारस्थनीडा तरसम्मितस्था,
> जानीहि तन्मदनमित्रधाम ॥ (प्रक्षिप्त)

अर्थात् जहाँ भाषा तोते पाठ ध्वनि कर रहे हों उसी को मदन मित्र का घर समझना चाहिए। सारिका का स्वर-माधुर्य आकर्षक होने से वह सभी का प्रिय पक्षी है। कोयल को परभृत कहा जाता है क्योंकि वह अपने बच्चों को कौए से पलवाती है।

मृच्छकटिक में उल्लिखित पशु-पक्षियों, कीटाणुओं तथा पेड़-पौधों का वर्णन विविध रूपों में है—

१. पशु—अश्व, हाथी, बलीवर्द, वृक (भेड़िया), गर्दभ, गृष्टि (गाय), हस्ती, वनद्विप, किशोरी (घोड़ी), कुक्कुर, अलर्क, (कुत्ता), शुनक, वृष, मार्जार, मेष, मीन, मृग, मूषक, सैरिभ, महिष, शाखामृग, वृष, शृगाल, क्रोष्ट (सियार), शूकर, सिंह, वृक तथा व्याघ्र।

२. पक्षी—बक, बलाक, चकोर, चक्रवाक, काक, कंक, कलविंक, कपोत, कोकिल, परभृत, परपुष्ट, चातक, मदनसारिका, मयूर, शिखंडी, पारावत, पतगपति (गरुड़), राजहंस, सारस, शुक, श्येन तथा वायस।

३. कीड़े मकोड़े—अग्निकीट, भृंग, अहि, भुजग, कुक्कुमनाग, पन्नग तथा सर्प।

४. वृक्ष तथा फूल—कदम्ब, अशोक, चूत, सहकार, जाती, कंटकी, करवीर, किंशुक, नलिनी, पद्म, नीप, पलाश, पनस, रत्नपंथा, आम्र और तमाल।[1]

---

1. G K. Bhat Preface to Mricchakatika, p 260.

भवन निर्माण-विधि एवं वास्तुकला

संस्कृत रूपकों में भवन-निर्माण एवं वास्तुकला के वर्णन का अभाव सा है। मृच्छकटिक इसका अपवाद है। इसमें न केवल भवन-निर्माण एवं वास्तुकला की चर्चा है अपितु उसका सम्यक् विवेचन भी है। चारुदत्त की स्वभावतः इस ओर रुचि थी। उसने मन्दिर, कुटी, विश्रान्ति भवन, झीलें, कुएँ आदि का निर्माण कराया। मूर्तिकला भी इस समय उन्नति पर थी। मन्दिरों में एक से एक देवताओं की सुन्दर प्रतिमाएँ थीं। भवनों के बनवाने में इस बात का विचार रखा जाता था कि वे मजबूत, खुले हुए और हवादार हों। उनके आगे उपवन बना रहता हो।

चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रासाद तत्कालीन भवन-निर्माण के सुन्दर प्रतीक हैं। विविध प्रकार के निर्मित भवनों की पंक्ति में प्रासाद के दरवाजे पर एक बालाग्र प्रतोलिका (Gate) होती थी जिस पर बैठकर बाजार में फाँसी के लिए ले जाते हुए चारुदत्त और उसके पीछे जाती हुई भीड़ को देखा था। चारुदत्त का भवन बहुत हवादार और खुला हुआ प्रतीत होता है। वह ईंटों की सुदृढ़ दीवार से सुरक्षित था। उसके एक ओर का दरवाजा पक्षद्वार (Side door) के नाम से प्रसिद्ध था और दूसरी ओर वृक्षवाटिका था। इसके और मुख्य भवन के बीच खुला हुआ मैदान था। यहाँ एक सुन्दर प्रासाद (Pleasure house) था जिसमें वेदिका थी। इसमें कबूतरों का आवास था। मुख्य भवन में प्रवेश करते ही चतुःशाला (Quadrangle) में आ जाते थे। मकान की दीवारें पक्की ईंटों की बनी थीं, पर एक स्थान पर भवन की दीवार निरन्तर जल और सूर्य का आघात देने से कमजोर हो गयी थी। ऐसे स्थान पर चूहे दीवार में सूराख बना देते थे। चारुदत्त के दुर्भाग्य से निर्धनता के कारण भवन की मरम्मत जब बंद हो गयी तो उसकी दुर्दशा हो गयी। शर्विलक का ध्यान दरवाजे के पुराने पल्लों की ओर गया है। मुख्य द्वार के बड़े पल्ले अपने स्थानों से कीलों के न होने से लटक रहे हैं। किवाड़ों में अर्गला भी नहीं है।

शर्विलक की कृपा से बन्धन-मुक्त आर्यक भटकता हुआ जब आगे बढ़ता है तो चारुदत्त के घर में प्रवेश करने से पूर्व कहता है—

> इदं गृहं भिन्नदत्तबन्धो विशीर्णसंधिश्च महाकपाटः।
> ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतो यथा प्रपन्नो मम तुल्यभाग्यः ॥ मृ० क० (९-१)

यह घर टूटा हुआ है। इसके बड़े किवाड़ों में अर्गला नहीं लगी है। दरार खुली हुई है। अवश्य ही यह मेरे जैसे भाग्यवाला कुटुम्बी विपत्तिग्रस्त

दशा को प्राप्त हो गया है। चारुदत्त ने वसन्तसेना के समक्ष स्वयं स्वीकार किया है कि उसका भवन जीर्ण-शीर्ण हो रहा है।

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं, शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम्।
एषा च स्फुटितसुधानुलेपनार्द्रा संश्लिष्टा सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥

मृ० क० (५-१०)

मृच्छकटिक में भवन निर्माण का सबसे सुन्दर उदाहरण वसन्तसेना का प्रासाद है। वह वास्तव में विलासिता एवं समृद्धिसम्पन्नता का प्रतीक है। उसमें एक अलिन्दिका (Balcony) थी जो राजपथ की ओर खुलती थी, जहाँ से वसन्तसेना ने हाथी की घटना के पश्चात् चारुदत्त को देखा था। तात्कालिक भवनों में बड़ी घर शाला अथवा एक उद्यान का होना अच्छा समझा जाता था। कहीं-कहीं उसमें व्यायाम भी होता था। वसन्तसेना का प्रासाद ऐसा ही था। उसका शयन एक निजी कक्ष था जो प्रासाद की पहली मंजिल पर था। उसकी खिड़कियाँ बाग और मन्दिर की ओर खुलती थी। शयनकक्ष उससे पृथक् थे। मैत्रेय के वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्रासाद बहुत बड़ा था और उसमें आठ कक्ष थे। उसका प्रमुख द्वार धनुषाकार था जो स्तम्भों पर आधारित था। मंगल-सूचक आम की हरी पत्तियों से एवं हाथीदाँत से वह सुसज्जित रहता था। दोनों ओर जल से पूर्ण मङ्गलकलश रहते थे और मल्लिका पुष्पहारों से सुशोभित थे। दोनों ओर लटकते हुए पुष्पहार इन्द्र के हाथी ऐरावत की हिलती हुई सूँड़ के समान बड़े सुन्दर लगते थे। उसमें कैसी शोभनीय पताकाएँ हवा में लहराती हुई स्वागत का प्रतीक थी। दरवाजे की चौखटें सोने की बनी हुई थी जिसमें हीरे जड़े हुए थे। उनके सामने का भाग झाड़-बुहारा था जिसपर पानी का छिड़काव करके लीप दिया जाता था। विभिन्न प्रकार के पौधे, पृथक् आकार में, धरती में जमाये जाते थे जिनके सुगन्धित पुष्प प्रतिदिन देवपूजा के काम में आते थे। वसन्तसेना के भवन के आठो प्रकोष्ठ तत्सम्बन्धी कला के प्रतीक हैं। पहले प्रकोष्ठ के छोटे भवनों की श्रेणी चन्द्रमा, शंख और कमलनाल के तुल्य कान्ति-वाली थी। सुधापूर्ण से युक्त रत्नखचित सुनहरी सीढ़ियों वाले रम्य प्रासाद अपने वातायन रूपी मुख चन्द्र से मानो उज्जयिनी को निहार रहे थे। दूसरे प्रकोष्ठ में पशुशाला थी जिसमें विविध पशु रहते थे। तीसरे प्रकोष्ठ में कुलीन पुरुषों के बैठने के लिए आसन थे। जहाँ जुआ खेलने की चौकी अथवा निर्मित मैना से आकार की गोटों से युक्त थी और जहाँ वेश्याएँ एवं विट कार्यतत्पर दिखाई देते थे। चतुर्थ प्रकोष्ठ संगीतशाला के रूप में था, जहाँ विविध वाद्यों की ध्वनि

गूँजती रहती थी। पाँचवाँ प्रकोष्ठ भोजन भवन के रूप में था जहाँ विविध व्यञ्जनों की सुगन्धि आह्लादित करती रहती थी। छठा प्रकोष्ठ इन्द्रधनुष की भाँति रंग-बिरंगी मणियों एवं हीरे-जवाहरात से जगमगा रहा था, जहाँ शिल्पकारों का समुदाय रत्नविशेषों पर विचार करते हुए विविध आभूषणों के निर्माण में संलग्न था। मदिरालय भी यहीं था। चेट-चेटियाँ एवं अन्य व्यक्ति यहाँ मदिरापान करते थे। सातवाँ प्रकोष्ठ पक्षिशाला के रूप में था। यहाँ विविध पक्षी अपने मनोरंजन से सभी को आनन्दित करते थे। इसे देखकर विदूषक ने कहा था कि मानो मुझे नन्दनवन सा लग रहा है। आठवाँ प्रकोष्ठ वसन्तसेना के भाई और माता के रहने का स्थान था। सुगन्धित रंगबिरंगे पुष्पों से युक्त वसन्तसेना की पुष्पवाटिका थी, जो स्वभावतः सभी को मुग्ध कर रही थी। इस समृद्ध भवन के सौन्दर्य को देखकर विदूषक ने कहा था कि वस्तुतः मैंने प्रकोष्ठ में एकत्र स्थित त्रैलोक्य को देख लिया है। उसे यहाँ भ्रान्ति हो रही थी कि यह सच में वेश्यागार है अथवा कुबेर के भवन का एक भाग है।

निष्कर्ष

संस्कृत में बहुत से नाटक, काव्य एवं गद्य ग्रन्थ हैं पर उनमें मृच्छकटिक की भाँति भवनों का विशद वर्णन नहीं है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जनता का ध्यान आवासगृहों को सुन्दर बनाने की ओर भी गया पर संस्कृत के लेखक और कवियों ने अपनी कृतियों में प्राकृतिक सुरम्य स्थानों का ही वर्णन किया है। रमणीक आवास-गृह के वर्णन में जो सफलता इस दिशा में मृच्छकटिककार ने प्राप्त की है वह सच में सराहनीय है। साथ में यह भी सोचने की बात है कि जब वेश्या का घर इतना सुन्दर है तब धनिक वर्ग का कितना सुन्दर होगा।

आज भी बड़े बड़े विशाल भवन लगभग उस समय जैसे ही हैं।

संगीत वाद्य-वैभव

सामाजिक जीवन में संगीत का प्रमुख स्थान है। मनोरंजन के लिए इसका महत्त्व चिरकाल से ही चला आ रहा है। वेदों में सामवेद संगीत के लिए प्रधान है। साहित्य और संगीत के समन्वय की ओर विद्वानों की रुचि प्रारम्भ से ही रही है। आज समाज में मनोरंजन का सबसे बड़ा साधन चलचित्र (सिनेमा) है। संगीत के बिना यह भी निष्प्राण है। अतः संगीत मनोरंजन-प्रधान है। यह एक सर्वसम्मत विषय है। मृच्छकटिक में इसका समुचित स्थान है। मृच्छकटिक के समय कलाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था। नाट-

समुन्नत दशा में थी। संगीत मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन माना जाता था। वसन्तसेना-विषयक विट और शकार के संभाषण में विट की वसन्तसेना के प्रति उक्ति संगीत की जानकारी का प्रतीक है—

> प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा ।
> विटजननखघट्टितेव वीणा जलधरगर्जितभीतसारसीव ॥
>
> मृ० क० (१-२४)

विट लोगों के नख से घर्षित वीणा के समान भागने के कारण हिलते हुए कुण्डलों के बार-बार स्पर्श से घर्षित कपोलों वाली तुम बादल के गर्जन से भयभीत सारसी की भाँति भयातुर होकर क्यों भागी जा रही हो?

वाद्य के साथ नृत्य की भी चर्चा है। वैसे भी वसन्तसेना गणिका थी और गणिकाओं का संगीत और नृत्य रुचिकर विषय है।

विट ने वसन्तसेना से कहा है—

> किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
> नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
> उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-
> र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ॥ मृ० क० (१-१७)

भय से सुकुमारता को त्याग देने वाली, नृत्य के प्रयोग से दक्ष चरणों को शीघ्रता से रखती हुई, व्याकुल एवं चंचल कटाक्षों से दृष्टिपात करती हुई, शिकारी के पीछा करने से चकित हुई तुम हरिणी के समान क्यों जा रही हो?

संगीत-विषयक स्वर-नैपुण्य की चर्चा करते हुए विट वसन्तसेना के सम्बन्ध में कहता है—

> एष रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया ।
> वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ मृ० क० (१-४२)

इस वसन्तसेना ने नाट्यशाला में प्रवेश तथा कलाओं की शिक्षा के द्वारा दूसरों को ठगने में कुशल हो जाने के कारण स्वर-परिवर्तन में निपुणता प्राप्त कर ली है।

संगीत के सम्बन्ध में वसंतसेना की चर्चा के साथ पुरुषों में भी यह अभिरुचि कम न थी। चारुदत्त रेभिल के गाये हुए सुन्दर संगीत के सम्बन्ध में विदूषक से कहता है—

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च।
किंवा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै-
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये॥ मृ० क० (३-४)

रेभिल का वह गीत कितना अनुरागवर्धक, मधुर, सुसंगत, स्पष्ट, भावमय, कोमल और चित्ताकर्षक था। हमारे अधिक प्रशंसा करने से क्या लाभ? यदि रेभिल कहीं से छिपकर गाता तो अवश्य अनुमान किया जाता कि कोई रमणी गा रही है।

इतना ही नहीं और भी—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं,
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव॥ मृ० क० (३-५)

यद्यपि गायन समाप्त हो चुका है फिर भी उसकी वह स्वर परंपरा, कोमल वाक्य, सुन्दर वीणा की ध्वनि, वर्णों के आरोहावरोह के समय उसकी उच्चता तथा अवसान के समय उसकी कोमलता, लीलापूर्वक वाणी का संयमन तथा पुनः मनोहर राग का दोनों बार उच्चारण इस समय तक ठीक हमारे हृदय में गूँज रहा है।

वसन्तसेना-विषयक वार्तालाप में चेट भावरत अपनी वीणा और संगीत के विषय में कहता है—

वंशं वाए सत्तच्छिद्द सुघदं वीणं वाए सत्ततन्ति णदन्तिम्।
गीअं गाए गद्दहस्साणुरूवं के मे गाणे तुम्बुरू णालदे वा॥[1]

मृ० क० (५-११)

मैं सात छेद वाली बाँसुरी से मधुर ध्वनि निकालता हूँ, सात तारों से बजने वाली वीणा को बजाता हूँ तथा गधे के तुल्य गाना गाता हूँ। हमारे गान के सामने प्रसिद्ध गन्धर्व तुम्बुरु तथा देवर्षि नारद भी तुच्छ हैं।

वीणा की प्रशंसा में चारुदत्त ने भी कितना सुन्दर कहा है :—

---

१. वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम्।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा॥ (सं० अनु०)

वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम् । कुतः—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः ।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥ मृ० क० (३-३)

यह मनोरंजक वीणा उत्कण्ठित मनुष्य के लिये मनोनुकूल मित्र है। निर्दिष्ट स्थान पर गुप्त प्रेमी के आने में विलम्ब होने पर मन बहलाव का साधन है। वियोग से उत्पीड़ित जनों की धैर्य स्थिति के लिए प्रेयसी तुल्य है और अनुरागियों में प्रेम बढ़ाने के लिए यह सुखकर वस्तु है।

संगीत और नाच उस समय समाज में मनोरंजन का विषय अवश्य था पर कलाकारों की स्थिति अच्छी न थी। प्रारम्भ में सूत्रधार की उक्ति से यह स्पष्ट है—

नास्ति किञ्च प्रातराशोऽस्माकं गृहे ।

प्रातःकाल हमारे घर में अल्पाहार तक नहीं है। इधर शर्विलक चारुदत्त के भवन की दीवार में सेंध लगाने के पश्चात् घर में जाकर अन्दर मृदंग, वीणा आदि देखकर कहता है।—

(समन्तादवलोक्य) अये, अयं मृदंगः । अयं दर्दुरः । अयं पणवः । इयमपि वीणा । एते वंशाः । अमी पुस्तकाः । कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम् । अथवा भवनप्रत्ययात्प्रविष्टोऽस्मि । तत्किं परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभयाच्चौरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति ।—मृ० क० (पृ० ८४)

(चारों ओर देखकर) अरे यह मृदंग है, यह दर्दुर है, यह पणव है, यह वीणा है, ये बाँसुरियाँ हैं और ये पुस्तकें हैं अथवा भवन के विश्वास से प्रविष्ट हुआ हूँ तो क्या वास्तव में यह निर्धन है ? अथवा राजा या चोर के भय से द्रव्य पृथ्वी में गाड़कर रखता है।

वसन्तसेना के भवन के चतुर्थ प्रकोष्ठ को देखकर विदूषक कहता है :—

(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो इदो वि चउत्थे पओट्ठे जुवदिजण-ताडिदा जलधरा विअ गम्भीरं णदन्ति मुरआ, खीणपुण्णाओ विअ गअणादो तारआओ णिवडन्ति कंसतालआ, महुअरविरुदं विअ महुरं वज्जदि वंसो । इध अवरा ईसापणअकुविदकामिणी विअ अङ्कारोविदा करपहारपरामरिसेण सारिअदि

वीणा। इमाओ अवराओ कुसुमरसमत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुर पगीदाओ णच्चिणादारिआओ णच्चिअन्ति, णट्टम पढिअन्ति, ससियारओ। ओलम्बिदा गवक्खेसु वाद गेह्णन्ति सलिलगग्गरीओ।'[1]—मृ० क० (च० अंक)

अरे आश्चर्य ! यहाँ चतुर्थ प्रकोष्ठ में भी युवतियों के हाथ से बजाये गये मृदंग बादलों के समान गम्भीर शब्द कर रहे हैं। पुण्यक्षीण होने पर आकाश से गिरते हुये तारों के समान मंजीर गिर रहे हैं। भ्रमर गुंजन की भाँति बाँसुरी मधुरता से बजायी जा रही है। अन्य स्त्री की ईर्ष्या के कारण प्रणय कुपित कामिनी के समान गोद में रखी हुई वीणा नख के स्पर्श से बजाई जा रही है। दूसरे ये पुष्परस से मतवाली भ्रमरियों की भाँति अति मधुर गाती हुई वेश्या पुत्रियाँ नचाई जा रही हैं। शृंगाररयुक्त अभिनय जन्हें सिखाये जा रहे हैं। खिड़कियों में लटकते हुए पानी के घड़े वायु ग्रहण कर रहे हैं।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति में नृत्य, संगीत और वाद्य, कला के रूप में पुरुषों एवं महिलाओं दोनों के लिए रुचि का विषय था। परन्तु वर्तमान काल में तो नृत्य और संगीत महिलाओं के लिए और वाद्य पुरुषों के लिए सीमित सा हो गया है। पहले इस कला का बहुत सम्मान था पर मुगलकाल में विशेषतः औरंगजेब के समय में इसे सम्मान नहीं मिला। आगे चलकर कुछ सामान्य वर्ग के हाथों में पड़कर यह कला गाने-बजाने का विषय बन गयी। प्राचीन समाज में उच्चवर्ग जिस प्रकार इसे अपनाता था वैसा आज के समाज में नहीं है। यह तो सर्वमान्य है कि प्राचीन काल में नृत्य, संगीत और वाद्य विद्वानों की रुचि के विषय थे। आज भी देवमन्दिरों में कहीं-कहीं प्रातः इसका आयोजन देखने को मिलता है।

लेखनकला, चित्रकला, शिल्प एवं काम कला

संस्कृत की यह उक्ति "साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशु पुच्छविषाण-

---

१ आश्चर्य भो, इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीर नदन्ति मृदङ्गा, क्षीणपुण्या इव गगनात्तारकाणिपतन्ति कांस्यतालाः, मधुकरविरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः। इयमपरेर्ष्याप्रणयकुपितकामिनीवा-ङ्कारोपिता करजस्पर्शमर्दन सार्यते वीणा। इमा अपरा कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्योऽतिमधुर प्रगीता गणिकादारिका नर्त्यन्ते, नाट्यं पाठ्यन्ते सशृङ्गारम्। अवलम्बिता गवाक्षेषु वात गृह्णन्ति सलिलगर्गर्यः ॥ (स० अनु०)

हीन '' सांस्कृतिक रुचि का प्रतीक है। समाज में साहित्य, संगीत और कला का सामञ्जस्य ही देखने को मिलता है। मानव जीवन यदि इससे समन्वित नहीं है तो निश्चय ही उसमें कला के प्रति अभिरुचि का अभाव होगा और वह पशु कोटि में गिना जायेगा।

लेखनकला का उस युग में पर्याप्त विकास हो चुका था। प्रमाणभूत तथ्यों को लेखबद्ध करने की प्रथा थी। सभिक द्वारा द्यूतक्रीडा के प्रसंग में ऋणपत्र प्रस्तुत किया गया था। अभियोग-सम्बन्धी वैधानिक विवरण भी लेखबद्ध किये जाते थे। कायस्थ एक प्रकार से लिपिक का ही कार्य करता था। ब्राह्मण जाति के मनुष्य अपने कार्य की सारी याद रखने के लिए लेखबद्ध पत्रियों की पहचान करते थे। चारुदत्त के घर पुस्तकों का अच्छा संग्रह था।

चित्रकला भी उस समय पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। प्रिय चारुदत्त का चित्र बनाने में वसन्तसेना जिस आनन्द का अनुभव करती है वह भी अपूर्व है। वसन्तसेना कहती है—

हञ्जे मदणिए, अवि सुसदिसी इयं चित्ताकिदी अज्जचारुदत्तस्स।[1]

मृ० क० (च० अंक)

चेटि मदनिके! क्या यह चित्रस्थ आकृति आर्य चारुदत्त के अनुरूप है?

मदनिका के अनुरूप बताने पर वसन्तसेना पूछती है, तुम कैसे जानती हो?

मदनिका कहती है। 'जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्ठी अणुलग्गा'।[2]

मृ० क० (च० अंक)

आर्या की स्नेहपूर्ण दृष्टि इसमें संलग्न है।

चारुदत्त का पत्रच्छेद्य विधि के प्रति कितना अनुराग है। मेघ पर दृष्टि पड़ने से चित्र ही चौकस हुआ और एक आकर्षक कला का ज्ञान हुआ।

> संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव,
> व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः।
> तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
> पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना॥ मृ०क० (५-५)

एक दूसरे से मिले हुए चक्रवाक के जोड़ों के समान, उड़ते हुए हंसों, जैसे

---

१. चेटि मदनिके। अपि सुसदृशीयं चित्राकृतिरार्यचारुदत्तस्य। (सं० अनु०)
२. येनार्याया सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना। (सं० अनु०)

समुद्र की लहरों से इधर-उधर फेंके हुए मत्स्य समुदाय और मगरों के सदृश तथा अट्टालिकाओं जैसे (ऊँचे) भिन्न भिन्न विस्तृत आकारों को प्राप्त करने वाले वायु द्वारा छिन्न-भिन्न, उमड़ते हुए बादलों के द्वारा यहाँ आकाश पत्रच्छेद विधि द्वारा चित्रित सा शोभित हो रहा है।

पत्रच्छेद से ज्ञात होता है कि चित्रकार पहले पत्र को छेद-छेद कर चित्र बनाते थे। भित्तिचित्र का भी उस समय प्रचलन था। फलक पर ही नहीं, भित्ति पर भी चित्र बनते थे। चारुदत्त ने प्रेमचर्चा में वसन्तसेना से कहा है—

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं
शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम् ।
एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपा-
त्संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥ मृ० क० (५-५०)

जिसके स्तम्भों के आधार के लिए बनाये गये वेदी समूह नीचे तक हिल रहे हैं ऐसा वितान जर्जरित होने के कारण खम्भों पर किसी प्रकार ठहरा हुआ है और यह चित्रित दीवार सुधाद्रव के लेपन के छूट जाने और अधिक जल से भीगने के कारण ढील गयी है।

यह स्थापत्यकला का प्रतीक है और शिल्प का द्योतक है। चित्रकला की भाँति अन्य कलाओं की भी इसमें चर्चा है। द्यूतकर और माथुर के वार्तालाप में इसकी झलक है जब कि द्यूतकर ने माथुर से देवमन्दिर में प्रवेश करने के समय पूछा है :

'कध कट्ठमयी पडिमा' ?[1] मृ० क० (द्वि० अंक)

क्या काठ की मूर्ति ?

माथुर ने कहा—

'अरे णहु णहु । सेलपडिमा' ।[2] मृ० क० (द्वि० अंक)

अरे नहीं नहीं पत्थर की मूर्ति है।

वसंतसेना और संवाहक की बातचीत में भी कला की चर्चा है। संवाहक ने कहा है—

---

१. कथं काष्ठमयी प्रतिमा ? (सं० अनु०)
२. अरे ! न खलु न खलु शैलप्रतिमा । (सं० अनु०)

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाथवा कुतः कामः ।
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥

मृ० क० (५-१४)

यदि कोप करती हो तो रति प्रेम नहीं है अथवा क्रोध के बिना रतिसुख कहाँ ? स्वयं कुपित होकर प्रिय को कुपित करो, स्वयं प्रसन्न हो और प्रिय को प्रसन्न करो।

दूसरी ओर शकार के विट का कहना है—

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः ।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥ मृ० क० (८-९)

स्त्रियों के द्वारा तिरस्कृत हुए अधम कायर पुरुषों की कामवासना अधिक बढ़ जाती है किन्तु सज्जनों की कामवासना तो स्त्रियों से अपमानित होने पर कम हो जाती है अथवा रहती ही नहीं।

सच तो यह है कि कामवासना में सफलता तभी मिलती है जब कामुक रति और कोप दोनों में प्रवीण हो। इस सम्बन्ध में मृच्छकटिककार ने वेश्या-व्यवहार का कैसा सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। वसन्तसेना के वर्षाकाल में चारुदत्त के घर पहुँचने पर विट वसन्तसेना से कहता है :—

शाठ्योपकूटकपटानृतजन्मभूमे
धूर्तात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य
दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिरस्तु ॥ मृ० क० (५-३२)

जो दम्भ सहित माया, कपट तथा असत्य का जन्मस्थान है, धूर्तता ही जिसकी आत्मास्वरूप है, रतिक्रीड़ा ने जिसको आवास बनाया है, जहाँ रमण के सुख का संग्रह है ऐसे वेश्यारूपी बाजार या वेश्या व्यवहार की उदारतारूपी विक्रेयवस्तु के द्वारा ही सुखपूर्वक मूल्य सिद्धि हो।

वधू शब्द के सम्बन्ध में शर्विलक ने वसन्तसेना से कहा है—

आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति ।

मृ० क० (द० अंक)

आर्ये वसन्तसेना ! राजा प्रसन्न होकर आपको वधू शब्द से अनुगृहीत करते हैं। इससे वेश्याजीवन की अपेक्षा गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठता प्रकट होती है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक के रचयिता की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यह रचना अपने में सर्वांगपूर्ण है। यदि यह कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी कि जीवन के सभी आवश्यक अंगों पर इसमें प्रकाश डाला गया है। मानव जीवन की प्राप्ति ईश्वर की अद्भुत देन है। अतः इस जीवन को कलात्मक ढंग से बिताने में ही हमारा गौरव है। जीवन को सुव्यवस्थित रूप से चलाना ही सचमुच कला है। इस कला का दर्शन वैसे तो अनेक रूपों में होता है पर कुछ कलाएँ ऐसी हैं जो जीवन का अंग बन चुकी हैं। भवनकला, चित्रकला, शिल्पकला, कामकला आदि कुछ ऐसी कलाएँ हैं जिनसे जीवन कुछ आकर्षक बन जाता है।

मृच्छकटिककाल में निम्नवर्ग यदि एक ओर अशिक्षित था तो उच्चवर्ग इतना सुशिक्षित था कि निम्नवर्ग से अपने चालचलन एवं व्यवहार की शिष्टता से पूर्णभिन्न रहता था। कलाओं की जानकारी की दृष्टि से यदि कुछ कलाएँ उच्चवर्ग में विशेष आदरणीय थीं तो कुछ निम्न-वर्ग में प्रचलित थीं। परस्पर आदान-प्रदान की भावना से कला उस युग में एक ऐसा माध्यम रही जिसने सभी को एक सूत्र में बाँधे रखा।

चित्रकला, पत्रच्छेद्य, चित्रभित्ति, स्थापत्यकला, शिल्पकला एवं संवाहन कला आदि ऐसी कलाएँ उस समय समुन्नत रूप में थीं जिनके द्वारा सामाजिक जीवन परिष्कृत हो सका था। सम्भवतः आज जिन कलाओं को आधुनिक कला के नाम से पुकारा जाता है उनका सूत्रपात उस समय हो चुका था।

काम प्रसङ्ग पर प्रकाश डालते हुए उसे भी एक कला का रूप दिया गया है और इस भाँति कलात्मक ढंग से जीवन में उसकी अनुभूति की गयी।

तत्कालीन खानपान, वेशभूषा, आभूषण एवं प्रसाधन

जैसे-जैसे भारत में सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ वैसे-वैसे समाज का रहन-सहन बदलता गया। जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण होने पर उन्हें और परिष्कृत रूप दिया जाने लगा। यद्यपि भोजन और वस्त्र जनसाधारण की अनिवार्य आवश्यकता है और उसकी पूर्ति किसी न किसी रूप में सदा ही होती रही है फिर भी सभ्य समाज उसका परिष्कृत रूप वांछित दिशा में ले जाने की ओर प्रवृत्त होता है।

मृच्छकटिककाल में खानपान और वेशभूषा प्रायः सात्विक थी। चावल का प्रयोग अनेक रूपों में होता था। गुड़, दही और दूध में से प्रत्येक के साथ उसे

मिलाकर विविध रूप में खाया जाता था। मिष्टान्न में लड्डू और पूओं का प्रयोग होता था। सम्भवतः दूध से बनी मिठाइयाँ भी प्रचलित थीं। मछली, मांस और मदिरा का प्रयोग भी किसी विशेष वर्ग में होता था।

अपने को अलंकृत करने की रुचि जनसाधारण में आरम्भ से रही है। जब जिस समय सोने, चाँदी और मूँगे-मोती का प्रचलन नहीं था तब भी पुष्पों से अपने को अलंकृत करने की इच्छा स्वाभाविक रूप में पायी जाती थी। धीरे-धीरे जैसे धातुओं का ज्ञान हुआ और उसमें भी सोने-चाँदी और मूँगे-मोती का वैशिष्ट्य सामने आया वैसे-वैसे इनके आभूषण बनने लगे और स्त्रियाँ अपने को अलंकृत करने लगीं। उस समय प्रसाधन की ओर भी नर-नारियों का झुकाव था। शरीर के अन्य अंगों के प्रसाधन के साथ-साथ केशों के प्रसाधन की ओर विशेष ध्यान था। नारियों का केश-विन्यास उनकी शोभा का प्रमुख अंग था। केशों में पुष्पों का गूँथना और पुष्प, मालायें धारण करना स्त्रियों के शृङ्गार सौंदर्य की एक विधि थी।

भारतीय समाज ने प्रादेशिक जलवायु के अनुसार अपने खानपान और वेशभूषा को अपनाया तथा आभूषण और प्रसाधनों से अपने को सुसज्जित किया।

मृच्छकटिक के आरम्भ में आहार-विषयक सूत्रधार के विचार निम्न पंक्तियों से व्यक्त होते हैं :—

'हीमाणहे ! किं णु क्खु अम्हाणं गेहे अण्णं विअ संविहाणअं वट्टदि। आआमि-तण्डुलोदअप्पवाहा रच्छा लोहकडाहपरिवत्तणकसणसारा किदविसेसआ विअ जुअदी अहिअदरं सोहदि भूमी। सिणिद्धगन्धेण उद्दीविअन्ती विअ अहिअं बाधेदि मं बुभुक्खा। ता किं पुव्वज्जिदं णिहाणं उववण्णं भवे। आदु अहं ज्जेव बुभुक्खिदो अण्णमअं जीअलोअं पेक्खामि। णत्थि किल पादरासो अम्हाणं गेहे। पाणाधिअं बाधेदि मं बुभुक्खा इध सव्वं णवं संविहाणअं वट्टदि। एक्को वण्णअं पीसेदि अवरा सुमणाइं गुम्फेदि'।[1] मृ० क० (प्रथम अंक)

हमारे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। सभी चावलों के जल

---

1 आश्चर्यम्। किं नु खल्वस्माकं गृहेऽन्यदिव संविधानकं वर्तते। आयामितण्डु-लोदकप्रवाहा रथ्या। लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषकेव युवतिरधिकतरं शोभते भूमिः। स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमाना अधिकं बाधते मां बुभुक्षा। तत्किं पूर्वार्जितं निधानमुत्पन्नं भवेत्। अथवाहमेव बुभुक्षितोऽन्नमयं जीवलोकं पश्यामि। नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे। प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा

के विस्तृत प्रवाह से व्याप्त है। कोई की कड़ाही को माँजने के लिए घुमाने से चितकबरी हुई भूमि काला तिलक लगाये हुए युवती के समान अत्यधिक शोभित हो रही है। घी आदि की स्निग्ध गन्ध से उद्दीप्त हुई भूख मुझे अत्यधिक पीड़ित कर रही है, तो क्या पूर्वजों द्वारा संचित खजाना निकल आया है या मैं ही भूख से संसार को अन्नमय देख रहा हूँ। हमारे घर में तो कलेवा है ही नहीं। भूख के मारे मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। यहाँ सब नया आयोजन है। एक सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को गूँथ रही है। लड्डुओं से तृप्त विदूषक की बात भी इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है :—

'जो णाम अहं तत्तभवदो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्तं पअत्तसिद्धेहिं उग्गारसुरहिगन्धेहिं मोदएहिं ज्जेव असिदो अब्भन्तरचदुस्सालअदुआरे उवविट्ठो मल्लअसदपरिवुदो चित्तअरो विअ अङ्गुलीहिं छिविअ छिविअ अवणेमि। णअरचत्तरवुसहो विअ रोमन्थाअमाणो चिट्ठामि'।[1] मृ० क० (प्र० अंक)

जो मैं पूज्य चारुदत्त की सम्पन्नता के कारण रात-दिन यत्नपूर्वक तैयार किये गये खाने के बाद जिनकी डकार भी सुगन्धित है, ऐसे लड्डुओं के खाने से परितृप्त हुआ, भीतरी चतुःशाला के द्वार पर बैठा हुआ खाद्य पदार्थों से पूर्ण सैकड़ों पात्रों से घिरा हुआ चित्रकार के समान अंगुलियों से छू-छू करके छोड़ देता था, नगर चत्वर के साँड की तरह जुगाली करता बैठा रहता था।

इस भाँति यह निश्चित है कि उस समय आहार-विज्ञान का विषय भी कम रुचिकर नहीं था। विशेष अवसर पर भोजन-व्यवस्था निम्न पद से ज्ञात होती है। सूत्रधार द्वारा नटी से बात करने पर कि कुछ खाने को है क्या? नटी कहती है —

गुडोदणं घिअं दहिं तण्डुलाइं अय्येण अत्तव्वं रसाअणं सव्वं अत्थि त्ति। एव्वं दे देवा आसासेन्तु।[2] मृ० क० (प्र० अंक)

इदं सर्वमपि अभिनवं वर्तते। एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति। (सं० अनु०)

1. यो नामाहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य ऋद्ध्याहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैरुद्गारसुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽभ्यन्तरचतुःशालद्वारे उपविष्टो मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकार इवाङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थायमानस्तिष्ठामि। (सं० अनु०)
2. गुडौदनं घृतं दधि तण्डुला आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति। एवं ते देवा आशासन्ताम्। (सं० अनु०)

गुड़, भात, घी, दही, चावल आर्य के खाने योग्य सब सरस भोजन है। इस प्रकार आपके देवता (उपर्युक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिए) आशीर्वाद दें।

वसंतसेना के वैभव के अनुकूल उसके यहाँ की भोजन विधि भी बड़े ठाठ की है। विदूषक पाँचवें कक्ष में पाकशाला को देखकर कहता है :—

'ही ही भो, इदो वि पंचमे पओट्ठे अअं दलिद्दजणलोहुप्पादणकरो आहरदि उच्छलिदो हिंगुतेल्लगन्धो। विविहसुरहिधूमुग्गारेहिं णिच्चं संदाविज्जमाणं णीससदि विअ महाणसं दुआरमुहेहिं। अधिअं उस्सुआवेदि मं साहिज्जमाण-बहुविहभक्खभोअणगन्धो। अअं अवरो पडच्चरं विअ धोवेदि पसुवोट्टिं कप्पडि-आरओ। बहुविहाहारविआरं उववादेदि सूअआरो। वज्झन्ति मोदआ, पच्चन्ति अपूपआ'।[1] मृ० क० (च० अंक)

अरे आश्चर्य। यहाँ पाँचवें प्रकोष्ठ में भी यह निर्धन मनुष्यों को लोभ उत्पन्न करने वाली हींग और तेल की तीव्र गन्ध मुझे आकर्षित कर रही है। नित्य सन्तप्त की जाती हुई पाकशाला नाना प्रकार के सुगन्धित धुँएँ को प्रकट करने वाले द्वार रूपी मुखों से निःश्वास ले रही है। बनाये हुए अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों एवं व्यञ्जनों की गन्ध मुझे अधिक उत्सुक बना रही है। दूसरा यह कसाई का लड़का मारे हुए पशु की पेट की थैली को पुराने वस्त्र की भाँति धो रहा है। रसोइया भाँति-भाँति के आहार बना रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे हैं। पुवे पकाये जा रहे हैं। उस युग तक के सूपकार का बड़ा स्थान था जो आज रसोइये का। आहारविज्ञान में यह युग पर्याप्त विकसित हो चुका था।

माँसाहार सम्भवतः धन दिनों कुछ विशिष्ट आहार माना जाता हो। चेट वसन्तसेना से कहता है —

---

1. आश्चर्यं भोः। इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर आहरत्यु-च्छलितो हिङ्गुतैलगन्धः। विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं सन्ताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकयति मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोजन-गन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव प्रक्षालयति पशूदरवेष्टिं कार्पटिकदारकः। बहु-विधाहारविकारमुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः पच्यन्तेऽपूपकाः॥ (सं० अनु०)

रामेहि अ लाअशालं तो खादिहिसि मच्छमंशकम् ।
एदेहि मच्छमंशकेहि शुणआ मडअं ण शेवन्ति ॥[1]

मृ० क० (१–२१)

राजा के कृपापात्र शकार के साथ रमण करो तब मछली और मांस खाओगी । इस मछली और मांस से तृप्त शकार के कुत्ते मृत-जीव का मांस सेवन नहीं करते ।

सड़े हुए मांस का भी उस समय प्रचार था इसका उदाहरण देते हुए शकार ने विदूषक को संकेत किया है—

कुक्कुमालुआ गोप्फवशित्तवेण्टा शाके अ शुक्खे तलिदे हु मंशे ।
भत्ते अ हेमन्तिअलत्तिशिद्धे लीणे अ वेले ण हु होदि पूदी ॥[2]

मृ० क० (१–५१)

गोबर से लिप्त डण्ठल वाला कालीफल (कूष्माण्ड), सूखा हुआ शाक, तला हुआ मांस, हेमन्त ऋतु की रात्रि में बनाया हुआ भात अधिक काल बीत जाने पर भी विकृत नहीं होते ।

शकार की इस उक्ति से उसके पाकविज्ञान की कुशलता ज्ञात होती है । चेट से उसने अपने मध्याह्न भोजन की भी चर्चा की है :—

मंशेण तिक्खामिलकेण भत्ते शाकेण शूपेण शमच्छकेण ।
भुत्तं मए अत्तणकश्श गेहे शालिश्शकूलेण गुलोदणेण ॥[3]

मृ० क० (१०-२९)

मैंने अपने घर तीखे खट्टे मांस, शाक, मछली, दाल, शालि के भात तथा गुड़ मिश्रित चावल के साथ भोजन किया है ।

शकार को अपने घर के भोजन के सम्बन्ध में विश्वास था कि ऐसा भोजन

---

१. रमय च राजश्यालं तत खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥ (सं० अनु०)

२. कूष्माण्डी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्कं तलितं खलु मांसम् ।
भक्तं च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायां च वेलायां न खलु भवति पूति ॥
(सं० अनु०)

३. मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन ।
भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीक्रूरेण गुडौदनेन ॥ (सं० अनु०)

अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है इसी से वह वसन्तसेना को फुसलाते हुए विट से कहता है—

> वलिस्सदे अम्बरकालिआर्ं पावारअं सुत्तसदेहि जुत्तम् ।
> मंसं च खादुं तह तुट्टि कादुं चुहु चुहु चुक्कु चुहु चुहुत्ति ॥[1]
>
> मृ० क० (८–२१)

यदि तुम सैकड़ों सूतों से बने हुए लम्बी किनारी वाले उत्तरीय (दुपट्टे) को पुरस्कार रूप में लेकर, मांस खाना तथा मुझे प्रसन्न करना चाहते हो (तो मेरा प्रिय करो)।

मांस और घृत को विशिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थ समझते हुए शकार ने विट से कहा है—

> सव्वकालं मए पुट्ठे मंसेण अ घिएण अ ।
> अज्जे कज्जे समुप्पण्णे जादे मे वेरिए कधम् ॥[2]
>
> मृ० क० (८–२८)

हर समय मांस तथा घृत से मैंने तुम्हें पुष्ट किया है। आज काम आ पड़ने पर तुम मेरे वैरी कैसे हो गये ?

डा० जी० के० भाट ने विट को ब्राह्मण समझते हुए कहा है—

The Vita who is supposed to the Brahmin by caste partook of meat.[3]

शकार जब वसन्तसेना के मारने के प्रयास में था तो विट ने विरोध किया, इसी से शकार ने उस पर आभार प्रदर्शन किया।

शकार को स्वर माधुर्य के लिए विशेष मसालों से मिश्रित सुगन्धित मांस का भी अच्छा ज्ञान था। मधुर स्वर से गाने में अपने को दक्ष समझते हुए उसने विट से कहा है—

---

१. यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैरुपेतम् ।
मांसं च खादितुं तथा तुष्टिं कर्तुं चुहु चुहु चुक्कु चुहु चुहु इति ॥ (सं० अनु०)

२. सर्वकालं मया पुष्टो मांसेन च घृतेन च ।
अद्य कार्यसमुत्पन्ने जातो मे वैरिकः कथम् ॥ (सं० अनु०)

३. Dr. G. K. Bhat : Preface to Mricchkatika, p. 248.

हिङ्गूज्जले जीरकभद्दमुस्ते वचाह गण्ठी सगुडा अ सुण्ठी ।
एषे मए सेविद गन्धजुत्ती कध ण हग्गे मधुलस्सलेत्ति ॥[1]

मृ॰ क॰ (८-१३)

हींग से मिश्रित जीरे तथा मोथे सहित भाद्र मोथा, वच की गांठ और गुड़ सहित सोंठ इस सुगंधित योग का मैंने सेवन किया है तब मैं मधुर स्वर वाला क्यों न होऊँ ?

फिर मे जब गाने की प्रशंसा करते हुए उसे गन्धर्व बता दिया तो शकार कहने लगा—

हिङ्गूज्जले दिण्णमरीचचुण्णे वग्घालिदे तेल्लघिएण मिस्से ।
भुत्ते मए पालहुदीअमंसे कध ण हग्गे मधुलस्सलेत्ति ॥[2]

मृ॰ क॰ (८-१४)

मैंने हींग से युक्त काली मिर्च के चूर्ण से बघारा हुआ तथा तेल और घी से मिश्रित कोयल का मांस खाया है फिर मैं मधुर स्वर वाला क्यों न होऊँ ?

शकार को चटपटे पदार्थों के खाने में रुचि थी । स्वर माधुर्य में भी उसने इन्हीं बातों का उल्लेख किया है ।

मदिरापान भी उस समय खूब प्रचलित था । कतिपय महिलायें भी इसका सेवन करती थी । चेटी के यह कहने पर कि वसन्तसेना की माता चौथिया ज्वर से पीड़ित है विदूषक ने कहा कि यह तो वास्तविक मदिरा पान से मोटी है—

सीधुसुरासवमत्तिआ एआवत्थं गदा हि मत्तिआ ।
जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि शिआलसहस्सपज्जत्तिआ ॥[3]

मृ॰ क॰ (४-३०)

सीधु, सुरा एवं आसव से मत्त वसन्तसेना की माता इस अतिशय सुस्निग्धता

---

१. हिङ्गूज्ज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थि सगुडा च शुण्ठी ।
एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथ नाहं मधुरस्वर इति । (सं॰ अनु॰)

२. हिङ्गूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम् ।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथ नाहं मधुरस्वर इति ॥ (सं॰ अनु॰)

३. सीधुसुरासवमत्ता एतामवस्थां गता हि माता ।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रपर्याप्तिका ॥ (सं॰ अनु॰)

को प्राप्त हो गयी है। यदि यह यहाँ मर जाती है तो हजारों शृगालों की तृप्ति के लिए पर्याप्त होगी।

खानपान के साथ उस युग की वेशभूषा की जानकारी भी आवश्यक है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है तो भी यथास्थान कुछ वस्त्रों की जानकारी प्राप्त होती है। पुरुष एवं महिलाएँ दोनों उत्तरीय (प्रावारक) का प्रयोग करते थे। विवाहित नारियाँ एक अतिरिक्त वस्त्र का प्रयोग अवगुण्ठन (घूँघट) के लिए करती थीं। कर्णपूरक तथा शकार के वस्त्र चमक-दमक से पूर्ण थे पर दर्दुरक (जुआरी) का दुपट्टा जीर्ण-शीर्ण था। विदूषक के स्नान के समय प्रयोग में आने वाली स्नानशाटी भी रखी थी जिसमें वसन्तसेना के आभूषण लपेटे गये थे। चारुदत्त का उत्तरीय चमेली के पुष्पों से सुगंधित था। महिलाएँ रंगीन वस्त्र पहनती थीं। शकार और विट द्वारा जिस समय वसन्तसेना का पीछा किया जा रहा था वह लाल रंग का रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थी। विट ने भागती हुई वसन्तसेना को रोकते हुए कहा है—

> किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना
>
> रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
>
> रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती
>
> टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा॥ मृ० क० (१-२०)

सुन्दर नवीन केले के पौधे के समान, हिलती-डुलती हुई तथा भय से काँपती हुई वायु के द्वारा हिलते छोरवाले लाल रेशमी वस्त्र को धारण करती हुई टाँकी द्वारा छेदी जाती हुई मनःशिला की कन्दरा से निकलने वाली चिनगारियों के समान केशपाश में गुँथे हुए रक्तकमलों की कलियों को भय से दौड़ने के कारण बिखराती हुई कहाँ जा रही हो?

वसन्तसेना की माता का दुपट्टा रखे हुए पुष्पों से अलंकृत था और उसके भाई का उत्तरीय रेशमी (पट्ट प्रावारक) था। उत्तरीय सम्भवतः सम्मान का वस्त्र था और किसी पर प्रसन्न होकर उपहार रूप में प्रदान किया जाता था। चारुदत्त ने कर्णपूरक को उत्तरीय दिया था। शकार ने भी वसन्तसेना की हत्या करने के लिए विट को सैकड़ों सूत्रों से निर्मित विशाल उत्तरीय देने का वचन दिया था।

साधुओं की पोशाक और ही प्रकार की थी। भिक्षु चीवर पहनते थे। नारियों को भी ऊपर से वस्त्राच्छादित किया जाता था। वर्धमानक की इसी

मूक है को कि जाने में हुए विलम्ब के कारण गाड़ियाँ बदल गयी और वसन्तसेना उपयुक्त गाड़ी में न बैठ सकी।

पैरों को मुलायम रखने के लिए महिलाएँ जूते पहनती थीं। विदूषक के अनुसार वसन्तसेना की माता तैलसिक्त जूते पहने हुई थी।

'भोदि, एसा उण का फुल्लपावारअपाउदा उवाणहजुअलणिक्खित्ततेल्लचिक्क-णेहिं पादेहिं उच्चासणे उवविट्ठा चिट्ठदि'।[1]

मृ० क० (च० अंक)

धागों से वस्त्र पर बनाये गये कृत्रिम पुष्पों से युक्त उत्तरीय ओढ़े हुए दोनों जूतों में तेल से चिकने पैरों को डाले हुए ऊँचे आसन पर यह कौन बैठी है।

वेशभूषा के विचार से उस समय का समाज पर्याप्त विकसित हो चुका था। आभूषणों की ओर भी ध्यान कम न था। शृंगार के लिए धारण किये जाने वाले कई प्रकार के आभूषणों की चर्चा मृच्छकटिक में आयी है। आभूषणों की चोरी मृच्छकटिक के कथानक का एक विशेष अंश है। महिलाएँ जहाँ एक ओर आभूषणों के लिए इच्छुक थीं वहाँ दूसरी ओर अवसर पर अपनी मान मर्यादा के लिए उन्हें त्याग देने में भी संकोच नहीं करती थी। वसन्तसेना ने संवाहक को जुआकर और माथुर से आभूषण देकर छुड़ाया था। वसन्तसेना जैसी सम्पन्न महिलाएँ अलंकारों में कुण्डल, नूपुर तथा मणिविभिन्न करधनी का प्रयोग करती थी। नूपुर की ध्वनि बड़ी मधुर होती थी और उसमें लगे मोती नक्षत्रों की भाँति चमकते थे। पुरुष अँगूठी, कटक या कंकण धारण करते थे। सन्यासी को हाथी से बचाने पर अँगूठी उपहार में देने के लिए चारुदत्त स्वभावत अपनी अंगुली छूने लगे पर उसके अभाव में कर्णपूरक को उत्तरीय ही दे दिया। अंगूठी का पहनना महिलाओं एवं पुरुषों के लिए मंगल का प्रतीक था। स्वर्ण की अधिकता उस समय इसी से ज्ञात होती है कि वसन्तसेना ने जिस पेटिका में अपने आभूषण चारुदत्त के घर छिपवाये थे वह स्वर्ण निर्मित थी। वसन्तसेना का छठा प्रकोष्ठ शृंगार सामग्री के साथ आभूषणों से अलंकृत था। विदूषक ने कहा है :—

'ही ही भो इदो वि छट्ठे पओट्ठे अमू दाव सुवण्णरअणाणं कम्मतोरणाइ णीलरअणविणिक्खित्ताइ इन्दाउहट्ठाणं विअ दरिसअन्ति। वेदुरिअमोत्तिअपवाल-

---

१. भवति, एषा पुनः का पुष्पप्रावारकप्रावृतोपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासन उपविष्टा तिष्ठति। (सं० अनु०)

अपुप्फराअइन्दणीलकक्केतरअपदुमराअमरगअपहुदिआइं रअणविसेसाइं अण्णोण्णं विआरेन्ति सिप्पिणो। बज्झन्ति जादरूवेहिं माणिक्काइं। घडिज्जन्ति सुवण्णा-लंकारा। रत्तसुत्तेण गत्थीअन्ति मोत्तिआभरणाइं। घसीअन्ति धीरं वेरुलिआइं। छेदीअन्ति सङ्खा। साणिज्जन्ति पवालआ। सुक्खाविअन्ति ओल्लविदकुङ्कुम-पत्थरा। साअरिअदि कत्थूरिआ विसेसेण घसीअदि चन्दणरसो। संजोईअन्ति गन्ध-जुत्तीओ। दीअदि गणिआकामुकाणं सकप्पूरं ताम्बोलम्।"[1]

मृ० क० (च० अंक)

अरे आश्चर्य! यहाँ छठे प्रकोष्ठ में भी ये नीलम रत्न जटित स्वर्णरत्नों के विविध रत्नपुञ्ज तोरण इन्द्रधनुष की समानता सी प्रदर्शित कर रहे हैं। शिल्पी जन वैदूर्य, मोती, मूँगा, पुखराज, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि रत्नविशेषों का परस्पर विचार कर रहे हैं। सोने के साथ रत्न जड़े जा रहे हैं। स्वर्णाभूषण गढ़े जा रहे हैं। मुक्ताभूषण लाल धागे से गूँथे जा रहे हैं। वैदूर्य धैर्य-पूर्वक धीरे-धीरे घिसे जा रहे हैं। शंख काटे जा रहे हैं। मूँगे शाण से घिसे जा रहे हैं। गीले केसर की गड्डी सुखायी जा रही है। कस्तूरी भीगी की जा रही है। चन्दन का रस विशेष रूप से घिसा जा रहा है। विभिन्न गन्धों के मिश्रण किये जा रहे हैं। वेश्या और कामुकों को कपूर सहित पान दिया जा रहा है।

इस वर्णन से यह निश्चित है कि उस समय मणिकारों से वैदूर्य, प्रवाल, मौक्तिक, पुष्पराग, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत इत्यादि अनेक रत्नों व जवाहरात से विविध प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे।

श्रृंगार के लिए प्रसाधन में फूलों का भी उपयोग होता था। रात्रि के समय वसन्तसेना फूलों की माला धारण करती थी। शकार और विट के संवाद में विट ने कहा है—

---

१. आश्चर्यं भोः, इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैदूर्यमौक्तिकप्रवालक-पुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन् रत्नविशेषानन्योन्यं विचार-यन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि। घट्यन्ते सुवर्णालङ्काराः। रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरं वैदूर्याणि। छिद्यन्ते शङ्खाः। शाणैर्घृष्यन्ते प्रवालकाः। शोष्यन्ते आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः। संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः। दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। (छ० अनु०)

नूपुरों का जोड़ा गिर रहा है। मणिखचित मेखलायें तथा मधुरत्न समूह से भरे हुए मणिसुन्दर कंगन विगलित होने से परस्पर घर्षण होने के कारण टूट रहे हैं।

शकार का केशविन्यास भी क्या ही विचित्र है? वह स्वयं कहता है—

> खणेण गण्ठी खणमुक्कके मे खणेण बाला खणकुन्तले वा।
> खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्ते विचित्ते हगे लाअशाले ॥[1]
>
> मृ० श० ९, २

किसी क्षण बालों को बाँध लेता हूँ। क्षण में उनका जूड़ा बना लेता हूँ। क्षण में उन्हें स्वाभाविक रूप में छोड़ देता हूँ। क्षण में उन्हें बिखरा देता हूँ तथा क्षणभर में ही उन केशपाशों को ऊँचे बना लेता हूँ। इस प्रकार रंग-बिरंगा अद्भुत राजा का साला हूँ।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक एक ऐसी रचना है जिसमें जीवनोपयोगी विषयों की चर्चा है। यहाँ तक कि खानपान, वेशभूषा एवं प्रसाधन का भी उसमें विशद विवेचन है। आहार की चर्चा आरम्भ में सूत्रधार के घर में अभिरूपपति व्रत से होती है पर उससे एक सामान्य गृहस्थ के भोजन की झलक मिलती है। सम्पन्न वर्गों के भोजन का वर्णन वसन्तसेना के पाक प्रकोष्ठ से ज्ञात होता है, फिर सामंती वृत्ति के भोजन की चर्चा शकार सम्बन्धी विभिन्न आहारों से ज्ञात हो जाती है।

इस समय चावल का प्रयोग अधिक और विभिन्न प्रकार से होता था। तन्दुल भक्त (भात), गुड़ ओदन (गुड़ मिश्रित), दध्यन्न ओदन (दही मिश्रित), पायस (दूध मिश्रित) एवं शालिकूर (धान का उबाला चावल) आदि उसके विविध रूप आहार के लिए प्रयुक्त होते थे। सम्भवतः इसमें अच्छे चावल का प्रयोग दध्यन्नओदन और पायस के लिए किया जाता हो और सामान्य चावल अन्य विधियों से काम में लाया जाता हो। तेलमिश्रित चावल के लड्डू हाथियों को खिलाये जाते थे। मोदक और अपूपक भी विशेष अवसरों पर मिष्ठान्न के रूप में काम में आते थे। तेल का प्रयोग चटपटी वस्तुओं के तलने में किया जाता था। इन वस्तुओं में मसाले के लिए हींग,

---

1. क्षणेन ग्रन्थि क्षणमुक्तिका मे क्षणेन बाला क्षण कुन्तला वा।
   क्षणेन मुक्ता क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रा विचित्रोऽहं राजश्यालः ॥

जीरा, भद्रमुस्त, वचा, सोंठ तथा मिर्च काम में लायी जाती थी। रक्तमूलक (लाल मूली या गाजर) की चटनी बनायी जाती थी। हरे शाकों का प्रयोग भी होता था। अचार भी काम में लाया जाता था। सामान्य भोजन में रुचि के अनुसार जनसमुदाय के लिए मछली, मांस का अंश भी पर्याप्त रूप में रहता था। मांस को सुस्वादु बनाने के लिए मसालों का प्रयोग होता था। मद्यपान खूब प्रचलित हो चुका था। सीधु, सुरा एवं आसव नामों से इसका उल्लेख है।

वस्त्रों का जहाँ तक सम्बन्ध है उन दिनों स्त्री और पुरुष उत्तरीय (दुपट्टे) का प्रयोग करते थे।

दर्दुरक (जुआरी) का अपना उत्तरीय और मैत्रेय की तरह फटी जीर्ण-शीर्ण बताए गये हैं। स्तर के अनुसार उत्तरीय की विशेषता थी। चारुदत्त का उत्तरीय चमेली के पुष्पों से सुवासित था। महिलाएँ रंगीन वस्त्र पहनती थीं। इसकी पुष्टि वसन्तसेना के लाल रंग के रेशमी वस्त्र से होती है जिसे वह अपना पीछा किये जाने के समय पहने हुए थी। कढ़े हुए पुष्प वाले उत्तरीय सम्पन्न महिलाएँ धारण करती थीं।

आभूषण भी उस समय सम्पन्न परिवारों में धारण किये जाते थे। महिलाएँ कुण्डल, नूपुर और करधनी का प्रयोग करती थीं। पुरुष अंगूठी और कंगन पहनते थे। मणि एवं जवाहरात से स्वर्णाभूषण जड़े हुए होते थे।

प्रसाधन के लिए पुष्पमालाएँ धारण की जाती थीं। केशविन्यास अनेक प्रकार से होता था। महिलाएँ अपने केशों को पुष्पों से अलंकृत एवं सुवासित बनाती थीं। सुपारी आदि के साथ ताम्बूल सेवन में कपूर का भी मिश्रण रहता था।

अध्याय विश्लेषण

प्रथम अंक के प्रारम्भ में शूद्रक सम्बन्धी श्लोक से यह निश्चित है कि उस समय साहित्य, विज्ञान, गणित एवं ज्योतिष विद्या का अच्छा प्रचार था। उसी श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि उस समय हस्तिविद्या का भी ज्ञान श्रेष्ठ समझा गया। पक्षियों की चर्चा भी यथास्थान की गयी है। कीटाणुओं का भी उल्लेख प्रकरण में है। इन सबसे स्पष्ट है कि उस समय साहित्यिक दृष्टि से न केवल मानव-संबंधी ज्ञान की उपलब्धि में ही जनता की रुचि थी वरन् वे पशु-पक्षियों के ज्ञान की प्राप्ति में भी रुचि लेते थे। पेड़-पौधों की ओर भी ध्यान था। मकानों के आगे आंगन में पुष्पों के पौधे लगाये जाते थे। चाँदी से पहले

भी पुष्पमाला पहनाई जाती थी। चारुदत्त को भी कनेर पुष्प की माला पहनाई गई थी। जाती कुसुम से सुवासित प्रावारक (दुपट्टे) को चर्चा से भी पुरुषों की सुगन्धिप्रियता स्पष्ट है।

भवनों के निर्माण में जनसाधारण की रुचि का पता वसन्तसेना के प्रासादों से भली भाँति ज्ञात हो रहा है। वास्तुविद्या भी पूर्ण रूप से इस समय विकसित थी। मन्दिरों, धर्मशालाओं, विहारों तथा अन्य प्रासादों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि स्थापत्य, इंजीनियरिंग आदि का भी यथेष्ट विकास हो चुका था।

संगीत अपने गायन और वादन दोनों रूपों में उत्कृष्ट कोटि का था। रेभिल नगर का एक प्रसिद्ध गायक था। वसन्तसेना के महल के तीसरे प्रकोष्ठ में संगीत का अभ्यास विशिष्ट रूप से होता था। चारुदत्त के घर में शर्विलक को चोरी के समय ढक्का, मृदंग, पणव, पटह, वंश (बाँसुरी), वीणा तथा सभी प्राप्त हुए थे। चित्रकला का भी सम्भ्रांत परिवारों में सम्मान था। वसन्तसेना ने चारुदत्त का चित्र स्वतः बनाया था। कला के और भी विविध रूप थे। लेखनकला का भी लोगों को अच्छा ज्ञान था। कायस्थ समवाय इसमें कुशल थे। कामकला की चर्चा वसन्तसेना और विट के संभाषण में है। यह निश्चित है कि तत्कालीन समाज विविध कला-प्रेमी था। मधुरभाषी पक्षियों को पालने की भी प्रथा थी। वसन्तसेना के प्रासाद कक्ष में इसकी चर्चा है।

भोजन-सम्बन्धी सुस्वादु एवं मधुर पदार्थों की ओर भी जनसाधारण की रुचि थी। अनेक प्रकार के सुस्वादु व्यंजन बनाये जाते थे। चावल खाद्य पदार्थों में विशेषतः उपयोग में आता था। इसे कई प्रकार से बनाया जाता था। मछली, मांस का भोजन साधारणरूप से प्रचलित था। गुड़ मसालों से मिश्रित मांस स्वर को मधुर बनाता है, ऐसा शकार का विश्वास था।

वस्त्रों में सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग मात्र देखा न गया। दुपट्टे का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों ही करते थे। भिक्षु चीवर पहनते थे। अलंकारों में कुण्डल, नूपुर तथा मणिनिर्मित करधनी का प्रयोग प्रचलित था। वसन्तसेना के छठे प्रकोष्ठ के वर्णन में वैदूर्य, प्रवाल, मौक्तिक, पुष्पराग, मरकत इत्यादि से बने विविध प्रकार के आभूषणों की चर्चा है। साथ ही यक्ष, कुंकुम, कस्तूरी, चन्दनरस इत्यादि सुगन्धित द्रव्य के प्रयोग का भी उल्लेख है। कपूर के साथ पान खाने की भी चर्चा की गयी है। प्रसाधन अनेक रूपों में आकर्षक था। अभिसारिका के रूप में अपने प्रेमियों से मिलने के लिए जाने से पूर्व प्रेमिकाएँ शृंगार सामग्री से अपने को विभूषित करती थीं।

✲

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ

मृच्छकटिक काल मे राज्य का छोटे प्रदेशो मे विभाजन

सुव्यवस्थित परिवार वही है जिसका प्रमुख व्यक्ति बहुत कुशल हुआ हो और अपने सम्बन्धियों को स्नेह एव आदर की दृष्टि से देखता हो। ऐसा परिवार जिसमें सभी व्यक्ति अपनी अपनी चलाते हों और एक दूसरे की न सुनते हों वह कभी सुव्यवस्थित नहीं हो सकता।

> सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
> सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ।। (प्रदीप)

प्राचीनकाल में राज्यों की स्थिति भी ऐसी ही रही है। कभी शासन सूत्र किसी एक सुयोग्य व्यक्ति के हाथ से चलता रहा ठीक रहा। कभी छोटा राज्य भी किसी अयोग्य व्यक्ति के हाथो पर गया तो उसमें भी अशान्ति ही रही। यही कारण है कि प्राचीन इतिहास में सम्राटों की शासन व्यवस्था प्रसिद्ध रही है और इसके विपरीत छोटे-छोटे राज्यों के शासक प्रायः असफल रहे हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक काल में राज्य छोटे छोटे प्रदेशों में विभाजित था। इन प्रदेशों के राजा शासन के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र थे और इसलिए स्वेच्छाचारी होते थे। इसी से देश की राजनीतिक दशा बड़ी डावाडोल थी। आर्यक ने पालक की हत्या की[1] सम्भवतः इस समय देश में सार्वभौम सम्राट् नहीं था। अनेक राजा थे और वे भी शक्तिहीन थे। छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते रहते थे। शासन प्रबन्ध अच्छा नहीं था। प्रत्येक राज्यकर्मचारी स्वाभिमानी था और अपने-अपने पद का गर्व करता था। वह जब चाहता था अपना कार्य छोड़ कर चल भी देता था। वीरक और चन्दनक के वार्तालापों से राज्यकर्मचारियों की अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता

---

१ आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ।। मृ० क० १०, ५१

है। शासन प्रबन्ध की शिथिलता का एक बुरा प्रभाव यह भी था कि राज्य में विद्रोहियों की संख्या वृद्धि पर थी और षड्यन्त्रकारियों को अपनी कुत्सित योजनाएँ पूरी करने का अवसर मिलता रहता था। इन षड्यन्त्रों में चोर, जुआरी, विद्रोही राज्यकर्मचारी, असन्तुष्ट पदाधिकारी और राजा द्वारा अपमानित व्यक्ति सम्मिलित रहते थे। इस प्रकार के षड्यन्त्रों से राज्य उलटना सहज था। तभी तो शर्विलक ने मदनिका द्वारा आर्यक की रक्षा के लिए राजा पालक का विरोध करते हुए कहा है—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णा-
न्राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥ मृ० क० ४,२६

जिस प्रकार राजा उदयन की रक्षा के लिए यौगन्धरायण ने प्रयत्न किया था उसी भाँति अपने मित्र आर्यक के उद्धार के लिए राजा के कुटुम्बी पूर्व अपनी भुजा के पराक्रम से विख्यात वीर राजा के तिरस्कार से क्रुद्ध तथा मन्त्री आदि राजा के कर्मचारियों को उकसाता हूँ।

और भी—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं
रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः ।
सरभसमभिपत्य मोचयामि
स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम् ॥ मृ० क० ४,२७

दुर्जन शत्रुओं ने आर्यक से स्वयं शंकित होकर बिना कारण उस प्रिय मित्र को कारागार में डाल दिया है। इसलिए राहुमुख में पड़े हुए चन्द्रमण्डल के समान मैं शीघ्र चलकर आर्यक का उद्धार करता हूँ।

इन उक्तियों से शर्विलक के अद्भुत साहस का परिचय मिलता है।

उस समय षड्यन्त्र का सन्देह होने पर किसी भी पुरुष को पकड़कर अनिश्चित काल के लिए जेल में डाल दिया जाता था। यही राजा पालक ने आर्यक को ऐसे ही जेल में डाल दिया है। राजनीतिक कैदी होने के नाते बेड़ियों से जकड़े आर्यक का कहना है—

हित्वाहं नरपतिबन्धनापदेश-
व्यापत्तिव्यसनमहार्णवं महान्तम्

पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनात् भ्रमामि ॥ मृ० क० ६,१

राजा के महाबन्धन रूप कपट की आपत्ति से उत्पन्न हुए सागर को पार करके बन्धन को तोड़े हुए हाथी के समान चरण के अग्रभाग में लगे हुए शृंखला-पाश को खींचता हुआ मैं विचरण कर रहा हूँ।

राजाओं की परस्पर कलह की स्थिति से देश का वातावरण उस समय शान्त न था। तत्कालीन प्रमुख राज्यों में उज्जयिनी की चर्चा विशेष है। दूसरा राज्य कुशावती का है जो कि वेणा नदी के किनारे स्थित है जिसे कि आर्यक ने राज्यारूढ़ होते ही चारुदत्त को दिया था। प्राचीन भारत की राजनीतिक दशा में दो राज्यों के बीच आन्तरिक विरोध एक सामान्य बात थी। दुर्बल शासक पर छोटा सबल शासक भी किस भाँति आक्रमण करके उसे दबा लेता है इसका परिचय निम्न उक्ति से मिलता है—

हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः । मृ० क० ५,१७

सबल राजा नगर के बीच मन्द पराक्रम वाले शत्रु का सर्वस्व उसी प्रकार अपहरण करता है जिस प्रकार आकाश में मेघ, मन्द तेज वाले चन्द्रमा की किरणों को ढक लेता है।

उज्जयिनी राज्य तो राजनीतिक क्रान्ति का अखाड़ा रहा है। यहाँ का राजा पालक क्रान्तिकारी दल के नेता के द्वारा मार डाला गया। पालक अच्छा शासक न था और उसे अपने सैनिक और मन्त्रियों से भी सहायता प्राप्त न थी। यही कारण था कि सारी प्रजा में और अधिकारी वर्ग के देखते-देखते उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े, दूसरी ओर प्रजाजनों और सैनी आर्यक के प्रति सभी की सहानुभूति थी। पालक के पश्चात् नवीन शासक आर्यक का राज्यारोहण कितना सुन्दर है। शर्विलक सहसा मंच पर आकर कहता है—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो-
स्तद्राज्ये त्वरितमभिषिच्य चार्यकं तम् ।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोचयेऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥ मृ० क० १०,५०

मैं दुष्ट राजा पालक को मारकर शीघ्र आर्यक को अभिषिक्त कर उसकी

आज्ञा मस्तक पर रखकर युद्ध में पड़े हुए चारुदत्त का उद्धार करेगा। इतना ही नहीं, जनता को यह भी बतायेगा—

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रभावात्।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥

मृ० क० १०,४८

सिद्धों के आदेशानुसार भाग्य के उत्कर्ष से सेना एवं मन्त्रियों से रहित उस शत्रु पालक को मारकर तथा पुरवासियों को धैर्य धारण कराकर इन्द्र के राज्य के समान शत्रु पालक के, संसार में श्रेष्ठ समस्त राज्य को, आर्यक ने प्राप्त कर लिया।

इन्द्र की चर्चा से मृच्छकटिककार ने यह दिखाया है कि जिस भाँति कभी सर्वत्र इन्द्र का राज्य था उसी भाँति आर्यक का राज्य भी सार्वभौम होगा। वास्तव में यह अतिशयोक्ति उसके गौरव का प्रतीक है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक में जहाँ एक ओर वसन्तसेना एवं चारुदत्त तथा मदनिका और शर्विलक का वैवाहिक सम्बन्ध दिखाया गया है वहाँ दूसरी ओर राजनीतिक क्रान्ति में दुष्ट राजा के स्थान पर सज्जन शासक के सिंहासनारूढ़ होने की भी चर्चा है। इतिहास के प्राचीन पृष्ठों पर यदि दृष्टि डालें तो प्रारम्भ से आज तक यही देखने को मिलेगा कि संसार का सबसे बड़ा झगड़ा सदा से नर और नारी से सम्बन्धित रहा है और ही उसके रूपों में मिलता रही है। दूसरी ओर यह विरोध शासकों के बीच रहा है जहाँ शक्ति का सतर्क औचित्य और अनौचित्य की प्राप्ति के लिए सदैव रहा है। इन्हीं दोनों बातों को लेकर मृच्छकटिककार ने अपनी कथावस्तु को सँजोया है। उसकी दृष्टि कितनी पैनी रही, उसने अपनी प्रतिभा से दोनों का समाधान जनता के समक्ष एक सुन्दर प्रकरण के रूप में प्रस्तुत किया।

स्वेच्छाचारिता की चरम सीमा

शासन सदैव वही अच्छा माना जाता है जिसमें सुयोग्य अधिकारियों को धर्म और नीति के अनुकूल अपने मनोनीत विचारों को पूर्ण करने का अवसर मिले। इसी विचार से प्रजातन्त्र शासन की सराहना की जाती है। इस सम्बन्ध में एक ग्रीक विद्वान् हीरोडोटस का मत है—"Herodotus the Greek writer defined democracy as that form of Government in which

the supreme power of the state was vested in the member of the community as a whole "

इसके विपरीत तानाशाही राज्य को इसलिए दोषी ठहराया जाता है कि उसमें शासक की ओर से ईमानदारी नहीं बरती जाती वरन् स्वेच्छाचारिता को अपनाया जाता है। इसी से कहा जाता है—

"Whatever the original need of a dictatorship was it has always degenerated into a reign of terror under which the most violent methods of crude repression are employed to intimidate the people."

स्वेच्छाचारी शासकों से जनता सदैव कष्ट पाती रही। गिने चुने लोग जो उनकी हाँ में हाँ मिलाने वाले होते थे वे ही प्रसन्न रहते थे।

मृच्छकटिक काल में छोटे-छोटे प्रदेशों में बँटे हुए राज्यों के शासक स्वेच्छाचारी होते थे। पालक भी इसी प्रकार का शासक था। मनु का तो वह मानता ही नहीं। अधिकरणिक के कहने पर भी—

आर्य चारुदत्त ! निर्णये वयं प्रमाणम् । शेषे तु राजा । तथापि
शोधनक विज्ञाप्यतां राजा पालकः—
अयं हि पातकी ' विभवैरक्षतैः सह ॥

आर्य चारुदत्त ! निर्णय करने में हम लोग अधिकारी हैं और आगे राजा को स्वतन्त्र। फिर भी शोधनक ! राजा पालक को इसकी सूचना दे दो।

'मनु के अनुसार यह पातकी ब्राह्मण मारा नहीं जा सकता है; सम्पूर्ण वैभव के साथ इसे राष्ट्र से बहिष्कृत कर दो।' पालक उसकी एक नहीं सुनता और आर्य चारुदत्त को शूली का कठोर दण्ड देता है यहाँ तक कि शकार चारुदत्त को भी कहना पड़ता है—

अहो अविमृश्यकारी राजा पालकः । मृ० क० (९० ४२)

अरे राजा पालक अविचारी है।

और तो और राजा पालक के सम्बन्धी भी तो इस स्वेच्छाचारिता से दूर नहीं हैं। भिक्षु (बौद्ध सन्यासी) के सरोवर में चीवर धोने पर राजा पालक के साले शकार (संस्थानक) की डाँट से बचते हुए कहा है—

'एदे वि णामवासवसथ्थये आअदे। एक्केण भिक्खुणा अवमाहे विदे
अण्ण पि जहिं जहिं भिक्खु पेक्खामि, तहिं तहिं जेव पिअ गाढं विलिणाइ

ओपाडेदि। ता कहिं अशलणे शलणं गमिश्शम्। अधवा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे।'[1] (मृ० क० अष्टम अंक)

आश्चर्य है यह तो राजा का साला संस्थानक आ गया। एक भिक्षुक के अपराध करने पर दूसरे भी जिस किसी भिक्षुक को देखता है उसी को बैल के समान नासिका छेद कर बाहर कर देता है। अब असहाय मैं किसकी शरण में जाऊँ अथवा भगवान बुद्ध ही मेरे आश्रय हैं।

ऐसे नृशंस और क्रूर शासन की कल्पना ही जब भयावह है तब सच में वह कितना दुर्दान्त रहा होगा। ऐसा राजतंत्र जिसमें राजा की असीमित शक्ति हो वहाँ निरंकुशता के अतिरिक्त और शासन हो क्या हो सकता है? उस समय राजा न केवल शासन की कार्यकारिणी का प्रमुख था वरन् कानूनों का निर्माता भी स्वयं था। इसी का प्रमाण था कि आर्यक ने भी गणिका वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू के रूप में औचित्य प्रदान किया। न्याय-सम्बन्धी विषयों में राजा अन्तिम अधिकारी था। यहाँ तक कि न्यायाधीशों की नियुक्ति और उनका निरस्तीकरण सब कुछ राजा के अधीन था। तभी तो शकार का अधिकरणिक से कहने का साहस हुआ—

(सक्रोधम्) 'आ किं ण दीशदि मम ववहाले। जइ ण दीशदि। तदो आवुत्तं लाअणं पालअं बहिणीवदिं विण्णविअ बहिणिं मादिअं अ विण्णविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ' [2] मृ० क० (न० अंक)

(क्रोध के साथ) मेरे अभियोग पर क्यों नहीं विचार होगा? यदि विचार नहीं होगा तो अपने जीजा बहिन के पति राजा पालक से कहकर तथा बहिन एवं माता को सूचित कर इस न्यायाधीश को निकलवाकर इसके स्थान पर किसी दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करवाऊँगा।

जिस राजतंत्र में राजा और उसके सम्बन्धी केवल इसलिए कि वे राज-

---

1. एष स राजश्यालसंस्थानक आगतः। एतेन भिक्षुकापराधे दृष्टेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासिकां विद्धापयित्वापवाहयति। तदशरणः कुत्र शरणं गमिष्यामि। अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।
2. आः किं न दृश्यते मम व्यवहारः? यदि न दृश्यते तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्यान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि।

घराने के हैं अपने अधिकारों का यदि असीमित रूप से दुरुपयोग करें तो क्यों न वह कुशासन अनीति के गर्त में विलीन होगा। यही दशा उस समय के स्वेच्छाचारी कुशासकों की रही।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक काल में राजाओं की स्थिति सुदृढ़ न थी। कोई सम्राट नहीं था। प्रशासन भी शिथिल था। स्वेच्छाचारिता, कुटिलता और निरंकुशता सर्वत्र थी इसीलिए राजा पालक पर आर्यक की विजय दिखाकर मृच्छकटिककार ने अनीति पर नीति की विजय प्रदर्शित की है।

तात्कालिक क्रांति योजना

शासक अच्छा हो या बुरा अधिकारीवर्ग एवं जनता में उसके शासन के प्रति प्रतिक्रियाएँ होना स्वाभाविक है। रामराज्य को लोग आज भी अच्छा कहते हैं और अंग्रेजी, तैमूरी एवं नादिरशाही शासन को बुरा बताते हैं। न केवल भारत में वरन् संसार के सुदूर राष्ट्रों में इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक क्रांतियाँ हुई हैं। ये क्रांतियाँ तभी हुई हैं जब कुशासकों के अत्याचारों से प्रजा त्राहि त्राहि करने लगी है और उसे क्रांति के अतिरिक्त अपने बचाव का कोई मार्ग नहीं सूझा है।

मृच्छकटिककाल में राजा पालक के अत्याचार से सारी प्रजा पीड़ित थी। शकार के पक्षपात से उसने न्यायाधीशों के न्याय की अवहेलना की। प्रथम तो चारुदत्त निर्दोष था फिर भी शकार की कुत्सित योजनाओं ने उसे दोषी बनाने में कोई कोर कसर नहीं रखी, जिसके फलस्वरूप अधिकारी चारुदत्त भी चारुदत्त को निर्दोष कहने में संकोच ही करता रहा पर मनु की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए अधिकरणिक ने देश निष्कासन ही चारुदत्त के लिए ठीक समझा पर दुष्टपालक ने उसे ठुकराया

शोधनक की निम्न उक्ति देखिए —

'राजपालको भणादि—जेण अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो वसन्तसेणा वावादिदा तं ताहं ज्जेव आहरणाइं गले बंधिय डिण्डिमं ताडिय दक्खिणमसाणं णइय सूले भञ्जेधत्ति'[1] मृ० क० (नवम अंक)।

---

१ राजा पालको भणति येन अर्थकल्यवर्तस्य कारणात् वसन्तसेना व्यापादिता तं तान्येव आभरणानि गलेबद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा दक्षिणश्मशानं नीत्वा शूले भङ्क्त इति।

राजा पालक कहते हैं कि जिस जनस्वामी अलंकार के कारण वसन्तसेना मारी गयी है उसके गले में उन्हीं अलंकारों को बाँधकर, नगाड़ा पीटकर दक्षिण श्मशान में ले जाकर शूली पर चढ़ा दो।

इधर आर्यक को राजा बनाने का प्रयत्न पहले से ही चल रहा था और शर्विलक उसका नेता था। उस समय का असंतुष्ट पीड़ित प्रजावर्ग इस बात के लिए चिन्तित था कि वह क्रांति द्वारा दुष्ट राजा पालक को राज्यच्युत करे और उसके स्थान पर शर्विलक के नेतृत्व में आर्यक को पदारूढ़ करे। चाण्डालों की बातचीत से भी, जो कि चारुदत्त को फाँसी देने के लिए तत्पर थे, इसकी झलक मिलती है।

'कदावि कोवि साहू अत्थं दइअ वज्झं मोआवेदि। कदावि रण्णो पुत्ते भावि, तेण वड्ढावेण सव्ववज्झाण मोक्खे होदि। कदावि हत्थी बन्धं खण्डेदि, तेण संभमेण वज्झे मुक्के होदि। कदावि राअपरिवट्टे होदि, तेण सव्ववज्झाण मोक्खे होदि'।[1] मृ० क० (द० अंक).

कभी कोई साधु पुरुष धन देकर वध्य पुरुष को छुड़ा देता है। कभी राजा के पुत्र उत्पन्न हो जाता है जिससे कि बड़े महोत्सव के समय सभी वध्य पुरुषों को छोड़ दिया जाता है। कभी हाथी बन्धनस्तम्भ तोड़कर निकल पड़ता है जिस घबराहट में वध्य पुरुष मुक्त हो जाता है। कभी राज्य-परिवर्तन हो जाता है जिससे सभी वध्य पुरुषों की मुक्ति हो जाती है।

अतः शकार की कुटिलता के कारण और चारुदत्त के निर्दोष होने के कारण चाण्डाल भी चारुदत्त को फाँसी देने में हिचकिचा रहे थे। वे विलम्ब इसलिए लगा रहे थे कि सम्भवतः कोई बात ऐसी हो जाये जिससे उन्हें चारुदत्त को फाँसी न देनी पड़े और वह जीवित रह जाय। राज-परिवर्तन की सम्भावना उन्हें ज्ञात थी अतः इस कथन में उसकी चर्चा है। वध में विलम्ब के कारण की पुष्टि भी निम्न पुष्ट प्रमाण से चाण्डाल ने की है—

'अले भट्टिओ हिअम पिदुणा सग्गं गच्छन्तेण, जधा—पुत्त वीरअ जद गुह

---

१. कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्त्वा वध्यं मोचयति। कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति। कदापि हस्ती बन्धं खण्डयति, तेन सम्भ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति। कदापि राजपरिवर्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति।

वज्झपालिआ होदि, मा सहसा वावादइदि सज्जनम्[1] । मृ० क० (द० अंक)

अरे ! स्वर्गारोहण करते हुये पिताजी ने मुझे आदेश दिया था कि पुत्र वीरक ! यदि वध करने की तुम्हारी बारी हो तो वध्य पुरुष को सहसा मत मारना ।

चारुदत्त के प्रति चाण्डालों से लेकर अधिकारियों तक का सौजन्यपूर्ण व्यवहार इस बात का प्रतीक है कि चारुदत्त का नाम सबों के हृदयों में स्थान था। यहाँ तक कि आर्यक भी उसका आभारी था। एक बार इन्ही की गाड़ी में चढ़कर वह इनकी शरण में गया था। इसी के फलस्वरूप तो आर्यक ने पालक को मारकर उज्जयिनी का राज्य पाते ही सबसे पहले चारुदत्त को वेणा नदी के तट पर स्थित कुशावती नगरी का राज्य दे दिया। आर्यक ने राज्यारूढ होते ही अपने अनुकूल वातावरण बनाने में बड़ी कुशलता दिखाई। उसकी सफलता का एक मात्र कारण इसी में था, उसने सज्जनों से आत्मीयता और दुर्जनो पर कड़ी दृष्टि रखी।

निष्कर्ष

तत्कालीन राज्य व्यवस्था में प्रशासकों द्वारा किए जाने वाले सभी निर्णय राजा को मान्य न थे। यही कारण था कि राजा पालक ने चारुदत्त-वसंती मृत्युदंड के औचित्य पर ध्यान न देते हुए उसे फाँसी का आदेश दे दिया।

राजा पालक की निरंकुशता तथा राजा आर्यक का औदार्य जनसमुदाय के विरोध का कारण बना। इसी के परिणाम-स्वरूप शर्विलक के सहयोग से आर्यक को प्रोत्साहन मिला और पालक के स्थान पर आर्यक ने शासन का भार सँभाला। चारुदत्त भी बन्धन मुक्त हुए और वसन्तसेना भी उनके साथ वैवाहिक जीवन यापन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

विभिन्न पदाधिकारी एवं प्रजारक्षक

उस समय समूचे देश का शासन राजा के हाथ में था और न्याय व्यवस्था, पुलिस व्यवस्था एवं नगरपालिका उसी से प्रेरित होकर कार्यों की देखभाल करती थी। राजविधान के अनुसार शासन चलता था। कानून की अवहेलना करने वाले के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग चलाया जाता था। पराजित वर्ग

---

1. अरे, अभिलषितम पिता स्वर्ग गच्छता, यथा—पुत्र वीरक, यदि तव वध्य-पालिका भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम्।

को दण्ड का आदेश होता था। पुलिस के हाथ में दण्डव्यवस्था थी। दण्ड के लिए वह अभियुक्त को विवश भी करती थी। सामान्यतः सभी राजकीय कार्यालयों का एक प्रमुख अधिकारी होता था जिसका सम्पर्क राज्याश्रित उच्च अधिकारियों से होता था और वे उच्च अधिकारी अपना सीधा सम्बन्ध राजा से रखते थे।

मृच्छकटिक में जिस राज्य का प्रमुख वर्णन है वह है उज्जयिनी। वैसे कुशावती की भी चर्चा इसमें है। उज्जयिनी के विभिन्न पदाधिकारियों की चर्चा इसमें प्राप्त होती है। न्याय विभाग के उच्च अधिकारी को अधिकरणिक कहते थे। इसी अधिकरणिक की सहायता के लिए दो पदाधिकारी और होते थे जिन्हें श्रेष्ठिन् और कायस्थ कहते थे। सामान्यतः न्यायालय के पदाधिकारियों के अधिकरणिक को भोजक कहा जाता था। न्याययुक्त अधिकारी-मण्डल (Panel of assessors) में राज्य के सम्मानित व्यक्ति होते थे जो अधिकरणिक के साथ बैठकर न्याय के सम्बन्ध में अपना उचित परामर्श देते थे।

राज्य की आभ्यन्तर और बाह्य रक्षा के लिए भी विशिष्ट पदाधिकारी थे। बाह्य रक्षा के लिए सैनिक व्यवस्था थी। वसन्तसेना के सेवक चेट के व्यंग्यपूर्ण प्रश्न पर—

'सुसमिद्धाण गामाण क्को रक्खणं करेदि।'[1] मृ० क० (पञ्चम अङ्क)

सुसमृद्ध ग्रामों की कौन रक्षा करता है? विदूषक ने उत्तर दिया—रथ्या (गली)। इस पर चेट हँसा। विदूषक भी सन्देह में पड़ गया और चारुदत्त से पूछने लगा। तब चारुदत्त ने कहा, सेना।

राज्य की ओर से गुप्तचर विभाग की भी व्यवस्था थी। राजनीतिक विरोधों को रोकने के लिए और राज्यसम्बन्धी सभी बातों की जानकारी के लिए गुप्तचरों का सीधा सम्बन्ध राजा से था। इसका परिचय आर्यक के संरक्षण में तत्पर चारुदत्त के कथन से प्राप्त होता है—

> इत्थेवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं
> स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
> मैत्रेय क्षिप निगडं पुराणकूपे
> पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या॥ मृ० क० ७,८

राजा पालक का इस प्रकार महान् अपकार करके (आर्यक की रक्षा करके)

---

१. सुसमृद्धानां ग्रामाणां का रक्षां करोति।

इस समय सम्भवतः भी ठहरना उचित नहीं है। हे मैत्रेय ! इस बन्धन (बेड़ी) को पुराने कूप में गिरा दो। कहीं राजा गुप्तचरों दृष्टि से इसे देख न लें।

राजा एवं राज्य की सुरक्षा के लिए सुव्यवस्थित व्यवस्था थी। राज्याधिकारियों के अतिरिक्त नगर की प्राकृतिक सुरक्षा भी दुर्गों से होती थी और नगर चारों ओर प्राकार से घिरा था जिसके विभिन्न स्थानों पर घूम फिर कर सदेह के अवसरों पर नगर की देखभाल की जाती थी। चारों दिशाओं में नगर के पास गवाक्षों द्वार थे जहाँ बाहरी प्रवेश की देखभाल के लिए पदाधिकारी प्रधानरक्षकों (पुलिस अफसरों) का कड़ा पहरा रहता था, कुछ गुप्त स्थान (Sentry posts) भी बने थे जो सम्भवतः सभी प्रवेश द्वारों पर थे। इनकी चर्चा छठे अंक में वीरक और चन्दनक के प्रवहण (Carts) निरीक्षण काल में आई है।

रक्षक (*Sentries and Guardes*) नगर की रक्षा करते थे और विशेषतः रात्रि के समय सड़कों पर लगातार घूमते रहते थे। यह सब व्यवस्था तो बाह्यरक्षा के सम्बन्ध में रही। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तर व्यवस्था प्रशासक पदाधिकारियों (Police Officers) के द्वारा विशेष रूप से होती थी।

पुलिस पदाधिकारी अनेक थे जो अपने-अपने विभागों की समुचित देखभाल करते थे। पुलिस विभाग का सर्वोच्च मुख्य पदाधिकारी प्रधान दण्डधारक अथवा पृथ्वी दण्डपालक कहलाता था जिसके अधीन पूरी पुलिस थी। यह पद वीरक को प्राप्त था। यह तान्त्रिक कहलाता था। नगर की सुरक्षा का भार इसी पर होता था। अतः यह नगर-रक्षाधिकर्ता होता था।

बलपति अथवा महत्तर का एक पद था। यह एक प्रकार का कप्तान अथवा प्रधान पुलिस अधिकारी होता था। यह पद उस समय चन्दनक को प्राप्त था।

ये वीरक और चन्दनक राजा के विश्वास पात्र थे अतः राजप्रत्ययित कहलाते थे।

राष्ट्रीय (Superintendent Police) का पद साधारणतः राजा के साले को दिया जाता था। शकार को इस पद पर रहने का अधिक सौभाग्य प्राप्त था। राष्ट्रीय शकार के नाते ही उसकी अनधिकार चेष्टाओं ने वसन्तसेना को चाह में चारुदत्त को विरोधी बनाया। अन्य छोटे पदाधिकारी थे जिन पर बड़ों का नियन्त्रण था। ऐसे ही पदाधिकारियों द्वारा राज्य की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी पर सर्वोच्च नियन्त्रण राजा का ही था।

निष्कर्ष

पालक का शासन प्रमादपूर्ण था यह निश्चित है। इसका मुख्य कारण स्वयं शासक पालक था। इसकी छाप औरों पर भी पड़ी। पदाधिकारियों की उपेक्षा से ही तो राज्यक्रान्ति का विरोधियों को अवसर प्राप्त हुआ। यदि प्रत्येक पदाधिकारी अपने अपने स्थान पर अपने कर्तव्य का पालन करता तो क्यों राज्य की व्यवस्था भंग होती। जिस गाड़ी पर वसन्तसेना को बैठकर पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान जाना था उस पर बरीगृह से भागा हुआ आर्यक बैठ गया और राजा के साले संस्थानक की गाड़ी पर वसन्तसेना बैठकर चल दी। आर्यक के सम्बन्ध में चन्दनक के सचेत करने पर जब गाड़ीवान से पूछा तो ज्ञात हुआ कि इसमें वसन्तसेना पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान जा रही है। चन्दनक ने भी यह सुनकर गाड़ी देखने में उपेक्षा दिखाई और वसन्तसेना एवं चारुदत्त के प्रति सद्भाव व्यक्त करते हुए वीरक से कहा—आश्चर्य है, तुम उन्हें नहीं जानते इस पर वीरक ने कहा—

जाणामि चारुदत्त वसन्तसेणं अ सुट्ठु जाणामि।
पत्ते अ राअकज्जे पिअरं पि अहं ण आणामि ॥[1] मृ० क० ६,१९

मैं आर्य चारुदत्त को जानता हूँ और वसन्तसेना को भी अच्छी तरह जानता हूँ किन्तु राजा का कार्य उपस्थित होने पर मैं अपने पिता को भी नहीं जानता।

वीरक के ऐसे विचार उसकी राजभक्ति के निश्चय ही द्योतक हैं, पर चंदनक तो आर्यक को पहचानकर उसके गिड़गिड़ाने पर उसे अभयदान दे चुका था, अतः वीरक के निरीक्षण हेतु प्रयास करने पर उसने उसके बाल खींचकर भूमि पर गिरा दिया और पैरों से रौंद दिया। इस पर वीरक ने कहा—

ता सुणु रे, अहिअरणमज्झे जइ दे
चउरंग ण कप्पावेमि, तदो ण होमि वीरओ' ॥[2] मृ० क० (५०मक)

चतुरंग दण्ड में मस्तक मुण्डन, बेंत से मारना, धन लेना और बहिष्कार की गणना की जाती है।

---

१. जानामि चारुदत्तं वसन्तसेना च सुष्ठु जानामि।
प्राप्ते च राज्यकार्ये पितरमप्यहं न जानामि ॥

२. तच्छृणु रे, अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरंगं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः।

तो सुनो यदि न्यायालय में मैं तुम्हें चतुरङ्ग दण्ड न दिलवाऊँ तो मेरा नाम वीरक नहीं।

इन बातों से चन्दनक अपने को अपमानित समझकर वीरक को नाई होने के नाते बुरा कहने लगा और वीरक चन्दनक को चमार होने के नाते धिक्कारने लगा। यद्यपि दोनों हीनवर्ण थे तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि नाई अपने को श्रेष्ठ समझते थे और चमार को शूद्र एवं अस्पृश्य समझा जाता था। वैसे भी पदाधिकारी के नाते वीरक पद पर चन्दनक से श्रेष्ठ था। वीरक और चन्दनक का पुलिस विभाग में होना यद्यपि इस बात का प्रतीक है कि उस समय राज्य की दृष्टि में राज्यकर्मचारियों की नियुक्ति में भेदभाव नहीं था।

नगररक्षकों का प्रमाद तो शर्विलक की "अहोनगररक्षिणांप्रमादः" उक्ति से भी स्पष्ट है जिसमें आश्चर्यपूर्वक नगररक्षकों की असावधानता व्यक्त की गयी है। यहाँ तक कि पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान जैसे सार्वजनिक स्थान में किसी शव का पाया जाना आश्चर्य है। यह कोई साधारण बात नहीं कि स्वयं नगर रक्षाधिकृत वीरक आकर शर्विलक से कहता है—'दृष्टं च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम्'। मृ० क० (न० अ)

प्रमाद का एक कारण यह भी हो सकता है कि सब अधिकारी जानते थे कि राजा स्वयं व्यवस्थापक है तो उनका पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं है। अतः उनकी देखभाल चलती फिरती थी। यदि आजकल पुलिस विभाग में कोई दुर्व्यवस्था है तो आश्चर्य इसलिए नहीं कि प्रारंभ से ही यह विभाग स्वेच्छाचारी रहा है। इतना अवश्य है कि पहले उत्कोच (रिश्वत का रूप) नहीं था। उस समय के न्याय विभाग के पदाधिकारी अपने स्थान पर अवश्य निर्भीक और निष्पक्ष होते थे। पूर्णतः वे भी अपनी स्थिति सुदृढ़ नहीं समझते थे। इसीलिए राजा का रुख देखकर न्याय करते थे।

आजकल के न्याय विभाग में भी कहीं-कहीं यह दोष देखने को मिलता है। यद्यपि प्रजातन्त्र में ऐसा नहीं होना चाहिए पर स्वार्थ और प्रलोभन में आज न्याय का सिंहासन भी डिगकर अन्याय की ओर मुड़ने लगा है।

नगर व्यवस्था समिति (नगरपालिका)

सम्पूर्ण राज्य की व्यवस्था तो राजा के नाम पर प्राचीनकाल में न्याय विभाग एवं पुलिस विभाग द्वारा होती थी पर नगरों की आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति नागरिकों द्वारा होनी चाहिए। संभवतः इनकी सामान्य

व्यवस्था उस समय शिष्ट समुदाय की योजना से होती होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि नगरों में भवन निर्माण, जल और प्रकाश व्यवस्था, स्वच्छता, शिक्षा, कर वसूली, शिक्षा संगठन, मन्दिर, कुएं, सार्वजनिक भवन, द्यूतगृह आदि की तत्कालीन व्यवस्था उत्तम थी। वसन्तसेना के भवन इसके प्रतीक हैं।

यह स्थिति किसी न किसी रूप में बहुत प्राचीनकाल से चली आती है। ठीक भी है जितनी अच्छी व्यवस्था नागरिक अपने नगर की स्वयं कर सकते हैं उतनी और लोगों के विचारों में आ भी नहीं सकती। राज्य तो नगरों के लिए इस सम्बन्ध में निश्चित धनराशि ही व्यय कर सकता है अथवा कुछ और नियम बना सकता है पर समुचित देखभाल तो स्थानीय नागरिक ही कर सकते हैं।

यही कारण है कि इस प्रकार की शासन व्यवस्था में सुरक्षा और शांति का पूर्ण साम्राज्य था एवं सार्वजनिक कार्य अपने-अपने विभागों द्वारा सुचारु रूप से चलते थे। निश्चय ही सड़कें और गलियाँ यातायात के लिए चौड़ी और ढालू बनायी जाती होंगी जिससे पानी इकट्ठा न हो पर सम्भवतः ऐसा राज-कार्यालयों के सामने होगा, सामान्य रूप से न होता। उनके दोनों ओर नालियाँ होंगी जिनसे घरों का और बरसात का पानी बहता रहे। यही रूप आजकल भी देखा जाता है। राजपथ अथवा राजमार्ग (Range high way) और चतुष्पथ (Public squares) की सुव्यवस्था भी होगी पर तत्कालीन गलियाँ सूखी नहीं थीं वरन् भवनों के निर्माण से बन्द थीं, यदि ऐसा न होता तो चारुदत्त की गाड़ी दूसरा मार्ग बदलकर क्यों जाती ? इसका कारण तो यही था कि पहला मार्ग आगे स्तम्भ से अवरुद्ध था। वर्षा ऋतु में सड़कों पर कीचड़ हो जाती थी। इसका प्रमाण यही है कि जब आंधी और वर्षा में वसन्तसेना चारुदत्त के घर पहुँचती है तब उसके मकान में प्रवेश करने से पूर्व अपने पैरों को धो लेती है। इससे ज्ञात होता है कि नगर की सभी सड़कें पक्की नहीं थीं। यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि सार्वजनिक भवन, द्यूतगृह, मन्दिर, तालाब, कुएँ, पार्क और मन्दिर आदि का निर्माण जो नागरिकों द्वारा दी हुई धनराशि से होता था किस के निरीक्षण में था, पर यह निश्चित है कि नगरपालिका की शासन-व्यवस्था पर ही यह आधारित था। सम्भवतः इसका कोई पृथक् विभाग हो जो नगरपालिका जैसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत हो। यह तो स्पष्ट है कि वृक्षारोपण और उसकी देखभाल, साथ ही पुष्पकरण्डक जैसे उद्यानों की व्यवस्था समुचित थी। वृक्षों में पुष्प और फलों की देखभाल उद्यानरक्षक करते थे। चिट

ने शकार को काणेलीपुत्र से सम्बोधित करते हुए उद्यान की शोभा जिस रूप में दिखाई है यह भी देखने योग्य है—

> अमी हि वृक्षाः फलपुष्पशोभिताः
> कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः ।
> नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिताः
> नराः सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥ मृ० क० ८, ७

फल एवं पुष्पों से शोभित, निश्चल लताओं से भी भली भाँति आवेष्टित वृक्ष राजा की आज्ञा से रक्षकों द्वारा रक्षित सपत्नीक पुरुषों के समान सुख को प्राप्त कर रहे हैं।

यह भी स्पष्ट है कि द्यूतगृह का व्यवस्थापक सभिक था। यह विदूषक की *निम्न उक्ति से ज्ञात होता है जो कि स्वर्णाभूषणों के खो जाने के सम्बन्ध में* वसन्तसेना के प्रति उक्त है—

'सो अ सहिओ राअवत्थहारी ण जाणिअदि कहिं गदोत्ति ।'[1]

मृ० क० (च० अं०)[1]

द्यूत का व्यवस्थापक यह सभिक राजपुरुष न मालूम कहाँ चला गया।

नगर के नाते बाग एवं द्यूतगृह भी नगरपालिका जैसी व्यवस्था के अन्तर्गत थे। उस समय की कर व्यवस्था भी समीचीन थी। चारुदत्त ने वृक्ष वर्णन में उपमा अलंकार द्वारा कैसा सुन्दर रूपक इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है—

> वणिज इव भान्ति तरवः, पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि ।
> शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति ॥

मृ० क० ७, १

वृक्ष वाणिज्य के समान सुशोभित हो रहे हैं। पुष्प विक्रेय वस्तु के तुल्य वर्तमान हैं और भ्रमर राजपुरुष के समान राजभाग लेते हुए परिभ्रमण कर रहे हैं।

अनेक भ्रमर रूपी पुरुषों के राजभाग ग्रहण के समान कहने से इस बात की ध्वनि मिलती है कि कर वसूली एक-दो व्यक्तियों के द्वारा नहीं वरन् अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाती थी। सम्भवतः सुरक्षा के लिए साथ में पुलिस भी रहती हो।

---

१. स च सभिको राजवार्त्तापहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति ।

वर्तमान नगरपालिकायें निस्सन्देह तत्कालीन सम्मिलित शासन-व्यवस्था की प्रतिरूप हैं। यह निश्चित है कि इनका जन्म वर्षों पूर्व इस देश में किसी रूप में हो चुका था।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक में जिस युग की चर्चा है उस समय राज्य छोटे थे। अतः व्यवस्था समीचीन प्रतीत होती है। नगर-व्यवस्था में सभी कर्मचारी अपने-अपने कार्य में कुशल थे। नगरपालिका और जिला परिषद् का वर्तमान स्वरूप तत्कालीन सुव्यवस्था से परिलक्षित होता है।

भारतीय नरेशों की प्रतिष्ठा उनके लोकप्रिय शासन के कारण रही है। धर्मशास्त्रों के अनुसार आरम्भ से ही यहाँ के शासकों को इस बात का ध्यान रहा है कि वे ईश्वरीय प्रतिनिधि हैं। अतः उनका कर्तव्य जनता की सेवा करना है।

न्यायाधीशों की योग्यता एवं फौजदारी न्याय विभाग

तत्कालीन न्यायाधीश मनुस्मृति एवं धर्मग्रन्थों को न्याय का आधार मानते थे। इसी विचार से विवादास्पद विषयों में उनके निर्णय धर्मसंगत और निष्पक्ष होते थे पर कभी-कभी किसी विशेष स्थिति में वे पूर्णरूप से न्याय करने में स्वतन्त्र न थे। उन पर राजा और उनके कृपाभाजन व्यक्तियों का आतंक था। अतः कुछ लोग न्यायसम्बन्धी निर्णय देने में यह सोचा करते थे कि राजा के इच्छानुसार उनका निर्णय हो। शकार ने इसीलिए तो अधिकरणिक को बुरी तरह धमकाया और यह कहने का साहस किया—

'एव्व भणामि—अवलज्झाह वि ण म मे किं पि कलइशदि।'[1]

मैं कहता हूँ मेरे अपराध करने पर भी राजा मुझे कुछ दण्ड नहीं दे सकते।

मृच्छकटिक का नवम अंक उस समय की न्याय व्यवस्था से भरा पड़ा है। न्यायालय में एक अधिकरणिक अथवा न्यायाधीश होता था। उसकी सहायता के लिए एक श्रेष्ठी असेसर के रूप में होता था। तथा कायस्थ पेशकार के रूप में कार्य करता था। यह लिपिक होता था। शोधनक चपरासी का एक भिन्न कर्मचारी होता था। न्यायालय में सम्भ्रान्त वर्गों को बैठने के लिए आसन दिये जाते थे। न्यायाधीश ने चारुदत्त का परिचय पाकर कहा है—'स्वागतमार्यस्य। भद्र शोधनक आर्यस्यासनमुपनय।' मृ० क० (न० अंक)

1. एव भणामि—अपराद्धस्यापि न मे मे किमपि करिष्यति।

आपका अभिनन्दन करता हूँ। भद्र शोधनक ! आर्य चारुदत्त के लिए आसन लाओ। न्यायाधीश निष्पक्ष होते थे एवं जनता के साथ सहानुभूति एवं शिष्टता का व्यवहार करते थे। वादी-प्रतिवादी के कथन को लिपिबद्ध कर लिया जाता था और साक्षी का भी ध्यान रखा जाता था। न्याय निःशुल्क था और उसमें अधिक समय नहीं लगता था। मृत्युदण्ड का भी शीघ्र निर्णय कर दिया जाता था किन्तु न्यायाधीश के निर्णय को अंतिम स्वीकृति राजा ही देता था। यों तो राजा का निर्णय ही सर्वोपरि विधान था पर न्यायनिर्णय मनुस्मृति के आधार पर किया जाता था। कभी-कभी न्यायाधीश अभियुक्तों को बात सुनकर और अभियोग को पूर्ण रूप से समझकर उसका सब विवरण अपनी संस्तुति के साथ राजा के समीप भेज देता था और उस पर राजा का अंतिम निर्णय होता था। यद्यपि आधिकरणिक का न्यायसम्बन्धी प्रयास अधिकाधिक समुचित होता था फिर भी वह सबकी प्रसन्नता का पात्र न था और भलाई के स्थान पर उसे बुराई ही मिलती थी।

अधिकरणिक ने स्वयं कहा है कि व्यवहारपराधीनता से वादी-प्रतिवादी का मनोगत भाव जान लेना हम जैसे न्यायाधीशों के लिए बड़ा कठिन है :

> छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
> स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूता: स्वयम्।
> तैः पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
> संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥　　　　मृ० क० ९, ३

वादी एवं प्रतिवादी सब सत्य बात को छिपाकर मनोविपरीत असत्य अभियोग को उपस्थित करते हैं। स्वार्थ के अनुराग के वशीभूत होकर न्यायालय में वह अपने दोषों को नहीं कहते। पक्ष और विपक्ष से परिवर्धित दोष ही राजा तक पहुँच पाता है। यही कारण है कि उचित न्याय का होना असम्भव है। सारांश यह है कि न्यायाधीश पर प्राय: दोष लगाये जाते हैं पर उसके गुणों को नहीं देखा जाता। सच तो यह है कि विजेता अपने प्रमाणसंबंधी प्रपत्रों और आत्म-गौरव की प्रशंसा करते हैं और पराजित निर्णायक न्यायाधीशों की निन्दा करते हैं। इसके अतिरिक्त और भी देखिए—

> छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृता
> स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम्।
> ये पक्षापरपक्षदोषसहिता पापानि संकुर्वते
> संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरत: ॥　　　　मृ० क० ९,४

वादी-प्रतिवादी क्रोधित रूप में सत्य को छिपाकर अन्यायपूर्ण असत्य अभि-योग उपस्थित करते हैं अर्थात् वे परस्पर एक दूसरे के दोषों को कहते हैं और अपने दोषों पर पर्दा डालते हैं। सम्भवतः वे न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते। अतः निश्चय ही वे नष्ट हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में निर्णायक भी उचित न्याय करने में सफल नहीं होते। अतः वे दोष के भागी होते हैं और जनता में अपयश के पात्र बनते हैं। उन्हें फिर कीर्ति कैसे प्राप्त हो? वह तो उससे दूर ही रहेगी। अतः न्यायाधीश को बहुत समझदार होना चाहिए और ईर्ष्याभाव से दूर होना चाहिए।

> शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-
> स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
> क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो,
> द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥ मृ० क० ९, ५

अधिकरणिक (निर्णायक न्यायाधीश) को धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। वादी प्रतिवादी के कपट-व्यवहार को समझने में दक्ष वक्ता तथा क्रोधरहित भी होना चाहिए। मित्र, शत्रु एवं स्वजनों को उसे तुल्य दृष्टि से देखना चाहिए। वादी-प्रतिवादियों के अभियोग का उचित रूप से निर्णय करना चाहिए। दुर्बलों को सहारा देने वाले, धूर्तों को दण्ड देने वाले, धर्मात्मा, लोभरहित निर्णायक को उपाय रहते निर्णय के लिए उसके वास्तविक तत्त्व को जानने में तत्पर एवं राजकीय कोप को दूर करने वाला होना चाहिए।

मृच्छकटिकम् में न्याय की विस्तृत एवं वास्तविक व्यवस्था का दर्शन चारुदत्त और शकार के अभियोग से स्पष्ट देखने को मिलता है। मृत्युदण्ड जैसे गम्भीर दण्ड का भी निर्णय तुरत कर दिया जाता था। अभियोग की सुनवाई एक विशेष न्यायभवन में होती थी जिसे अधिकरण मण्डप कहते थे। न्यायालय से सम्बन्धित एक सेवक शोधनक होता था जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। उसका कार्य इस न्यायभवन को स्वच्छ रखना और न्यायाधिकारियों के बैठने की समुचित व्यवस्था करना था। वह सम्भवतः अर्दली जैसा होता था। वह न्याया-धीश का सन्देशवाहक भी होता था और वादी-प्रतिवादियों को आवाज लगाने का काम करता था। इसी ने अधिकरणिक से शकार का परिचय कराया है और वसन्तसेना की माता को भी वही लेने गया था। उस समय के न्यायभवन विशाल होते थे जिनके चारों ओर हरी घास होती थी। इस भूमि-भाग को दूर्वा चत्वर कहते थे। यह वह स्थान था जहाँ न्यायकक्ष में अभियोग की सुनवाई से पूर्व

तत्संबंधित व्यक्ति प्रतीक्षा में अपना समय बिताते थे। वे लोग जो न्यायालय में साथ-साथ रहते थे चाक्षक कहलाते थे। सम्भवतः यह मुख्तार अथवा वकील रहे होंगे।

न्यायालय के पदाधिकारी सामान्य रूप से अधिकरण भोजक कहलाते थे। न्यायाधीश को अधिकरणिक कहते थे। असेसरों का मण्डल (Panel of assessors) जो न्यायसम्बन्धी वैधानिक परामर्श में न्यायाधीश के साथ रहता था उसे न्यायपुरुष कहते थे। इस मण्डल में श्रेष्ठी और कायस्थ होते थे। धर्म-सम्बद्ध न्याय की पुष्टि से संस्कृत के एक विद्वान् ब्राह्मण का होना भी इसमें आवश्यक था, जिसे अधिकर्ता कहा गया है। इसकी नियुक्ति राजा के द्वारा होती थी। जैसा कि कहा जा चुका है कि केवल अभियोगों के वैधानिक निर्णय में न्यायाधीश अवश्य अधिकारी होते थे पर उनकी स्थिति सुदृढ़ न थी। किसी भी समय राजा के आदेश पर उन्हें राजकीय सेवाओं से पृथक् कर दिया जाता था। प्राणदण्ड की पुष्टि अथवा उससे मुक्ति केवल राजाज्ञा पर थी। न्याय-सम्बन्धी निर्णयों में राजा ही अन्तिम अधिकारी होता था। अधिकरणिक वाद का निर्णय देते थे और राजा उसकी पुष्टि करता था।

जनता की पारस्परिक चल-अचल सम्पत्ति एवं स्त्री विवादों को आगे बढ़ाने के लिए और एतद्विषयक न्याय प्राप्त करने के लिए विशेष पद्धति थी। सामान्यतः ऐसे वैधानिक विरोध अभियोग कहे जाते हैं पर मृच्छकटिककाल में इन्हें व्यवहार के नाम से पुकारा जाता था। वैधानिक रूप-रेखाओं को व्यवहार के नाम से सम्बोधित करते हैं। न्यायालय में वादी अपने अभियोग को प्रतिवादी के विरोध में लिखित रूप में देता था। शकार और चौरक के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि न्यायाधीश के समक्ष ये अभियोग तत्क्षण प्रस्तुत होते थे। वादी (Plaintiff) कार्यार्थी अथवा व्यवहारार्थी कहलाते थे। प्रतिवादी को (Defendant) प्रत्यर्थी कहते थे। न्यायाधीश दोनों दलों से प्रश्न करता था। कार्यार्थी और प्रत्यर्थी से तर्क-वितर्क भी करता था। न्यायालय में बुलाये हुए साक्षियों को सुना जाता था। साक्षियों के बयान, जैसा ऊपर कहा है, लेखबद्ध होते थे और उनपर विचार किया जाता था। अनेक कानूनी बातों को अभियोग के समय उपस्थित की जाती थीं उन्हें कायस्थ लेखबद्ध करते थे। न्यायाधीश का निर्णय साक्ष्यों की तुलनात्मक पुष्टि पर होता था। वास्तविक तथ्य खोजकर ही निर्णय दिया जाता था। इसके विचार के लिए न्यायाधीश के सहायक असेसर होते थे। व्यवहार में वैधानिक सत्य की खोज के

लिए बड़ा प्रयास किया जाता था। दो ही ढंग से इस पर विचार होता था। एक तो इस सम्बन्ध में वादियों और प्रतिवादियों के प्रस्तुत प्रश्नों पर विचार किया जाता था। दूसरे न्यायाधीश सगृहीत बिन्दुओं पर आधारित मुख्यमुख्य कारणों से अपनी प्रतिभा के बल पर सचाई खोजने में तत्पर रहते थे।

अपराधी को पकड़ने में दो बातें बड़ा काम करती हैं—एक तो वह सद्यस्तंग गृहीत (Red handed) हो और दूसरे अपराध को स्वीकार करने वाला स्वयं प्रतिपन्न हो। सत्य की खोज के सम्बन्ध में अधिकरणिक ने चारुदत्त से कहा है—

व्यवहार सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां ब्रूहि निश्चयम्।
ब्रूहि सत्यमतः धैर्यं छलमत्र न गृह्यते॥ मृ० क० ९,१८

यह व्यवहार विघ्नयुक्त है। हृदय में स्थित लज्जा को छोड़ दो। सच कहो। विलम्ब मत करो। अथवा सत्य कहने के लिए पर्याप्त धैर्य धारण करो। व्यवहार में कपट को स्वीकार नहीं किया जाता।

यह निश्चित है कि न्यायाधीश अथवा अधिकरणिक अपन पद को सार्थक बनाते हुए उत्तरदायित्वपूर्ण होता था। वह सर्वेव यह प्रयास करता था कि उसका निर्णय साक्ष्य के परीक्षण पर आधारित और विधान की धाराओं के अन्तर्गत हो।

निष्कर्ष

निर्णायकों का निर्णय यद्यपि निष्पक्ष होता था तथापि उनमें कुछ लोग ऐसे भी थे जो राजा की रुचि देखकर निर्णय देते थे। ऐसा होना उस समय आवश्यक सा हो गया था क्योंकि निर्णायक यह जानते थे कि यदि उनके निर्णय में राजा ने कुछ परिवर्तन किया तो वह शोभनीय न होगा और निर्णायक की प्रतिष्ठा पर ठेस पहुँचेगी।

फिर भी कुछक न्यायाधीश अपना निर्णय साक्ष्यों के आधार पर वैधानिक धाराओं के अन्तर्गत लिखते थे कि जिससे निर्णय भी समुचित हो और राजा को उसे बदलने का साहस न कर सके। कुछ न्यायाधीश यह जानते हुए कि सम्भवत: उनका निर्णय समुचित होने हुए भी राजा द्वारा रद्द किया जाए वे निर्भीक होकर अपना निर्णय प्रदान लिखते थे। चारुदत्त के सम्बन्ध में यही हुआ। अधिकरणिक ने मनु का प्रमाण देकर चारुदत्त के लिए प्राणदण्ड की संस्तुति नहीं की थी पर राजा ने शकार के पक्षपात से मनु के आदेश की अवहेलना करते हुए न्यायाधीश के निर्णय को न मानकर चारुदत्त को प्राणदण्ड का आदेश कर

हो दिया। न्यायाधीश अपने किसी भी निर्णय देने से पूर्व अधिकार समुदाय श्रेष्ठी, कायस्थ और मनुस्मृति के विशेषज्ञ ब्राह्मण से भी परामर्श कर लेता था। राजा को सम्भवत न्यायाधीश द्वारा दिए हुए निर्णय को देखने का अवकाश मिल जाता था क्योंकि अभियोगों की संख्या उस समय विशेष न थी। आजकल की भाँति न तो वाद के निर्णय में अधिक समय लगता था और न धनराशि ही विशेष व्यय होती थी। वकील भी उस समय नहीं होते थे। इसकी आवश्यकता भी न थी क्योंकि राजा की दृष्टि तो प्रत्येक वाद के निर्णय पर पड़ती ही थी।

अधिकरणमण्डप भी वर्तमान न्यायालय के अनुकूल ही था। वर्तमान न्यायालय व्यवस्था तत्कालीन न्यायालयों का विकसित रूप है। इतना अवश्य है कि वर्तमान काल की भाँति उस समय उत्कोच का बाजार गर्म न था और न एक पक्ष के वकील नतिकता की दृष्टि से दूसरे पक्ष से मिलना उचित समझते थे। अपने अधिकारों के लिए उस समय भी मानव प्रयत्नशील रहता था। उसकी प्राप्ति में बाधा देखकर उसे न्यायालय की शरण लेनी पड़ती थी।

वर्तमान काल में तो न्यायालयों के विविध रूप हैं। दीवानी में धन-संपत्ति एवं व्यवहार आदि के अभियोग होते हैं। फौजदारी में मार-पीट एवं स्त्री अपहरण आदि के विरुद्ध उपालम्भ सुने जाते हैं। माल के अभियोगों के भी न्यायालय पृथक् होते हैं। चौहद्दर बस्ती की सीमा निर्धारण के लिए चकबन्दी के न्यायालयों में आवेदन किया जाता है। आयकर के न्यायालय भी कुछ दिनों से आरम्भ हो गए हैं जिनमें समुचित आय न दिखाने पर शासन की चोरी समझी जाती है। सेल्स टैक्स के भी अभियोग अब प्रारम्भ हो गये हैं जिनमें बिक्री कर पर अभियोग होते हैं। मकान एवं दुकानों के सम्बन्ध में मकानदार और किरायेदार के बीच विरोध को समाप्त करने के लिए और वस्तुओं पर नियंत्रण रखने के लिए भी न्यायालय हैं जहाँ जिलापूर्ति अधिकारी तत्सम्बन्धी अभियोग सुनते हैं। बिना टिकट यात्रा करने वालों एवं रेलवे को हानि पहुँचाने वाली जनता के विरुद्ध भी अभियोगों की सुनवाई होती है जिनका निर्णय रेलवे मजिस्ट्रेटों के अधीन है।

विवाद के अवसर पर साक्ष्य एवं मित्र सहयोग

विवादेऽन्विष्यते पक्ष, संग्रामेऽपि च साधनम् ।
सामर्थ्यमाप्तवतो हि प्रवर्तन्ते धनार्थिन ॥[1]

---

१ पञ्चतन्त्र, मित्रभेद, प्रथम तन्त्र, पृ० १८१ ।

विवाद में पहले पत्र (अभिलेख) देखा जाता है। उसके अभाव में साक्षी, साक्षी के अभाव में शपथ लेनी पड़ती है—ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

अभियोगों में गवाहों का प्रचलन प्राचीनकाल की भांति आजकल भी है। यह गवाही जिसमें प्रतिष्ठित व्यक्ति की होती है उसको प्रमाणित मानी जाती है। मित्र का सहयोग भी सामान्यतः और व्यावहारिक में उस युग में सराहनीय था।

मृच्छकटिककाल में वाद का निर्णय साक्ष्य के आधार पर शीघ्र होता था। सब सम्भव प्रयासों से अनेक प्रकार से साक्ष्य के आधार पर वाद का निर्णय किया जाता था। निर्णय के लिए जब प्रत्यक्ष साक्ष्य अपर्याप्त होता था तब अप्रत्यक्ष अथवा विस्तृत साक्ष्य इसके लिए प्रयुक्त होते थे। अपने सन्तोष के लिए अधिकरणिक किसी को साक्ष्य के लिए बुला सकता था। अपराधी घोषित होने पर आवश्यकतानुसार इसके लिए यह कोड़ों से दण्डित होता था। अधिकरणिक ने आर्य चारुदत्त को भी इसका संकेत दिया है—

> इदानीं सुकुमारेऽस्मिन्नि शङ्क कर्कशा कशाः।
> तव गात्रे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः॥ मृ० क० ९,१६

इस समय तुम्हारे इस कोमल शरीर पर कठोर कोड़े हमारे मनोरथों के साथ ही गिरने लगेंगे। किसी भी ओर से जब, साक्ष्य अपूर्ण एवं सन्दिग्ध होता था तब दिव्य परीक्षा के चार साधनों (विष, जल, तुला और अग्नि) में किसी एक को अपनाया जाता था जिससे अभियुक्त की सरलता की सच्ची परीक्षा हो जाती थी। चारुदत्त के मृत्युदण्ड प्रसङ्ग पर 'सामाजिक जीवन की एक झाँकी' में इसका उल्लेख है।

मृच्छकटिक काल में सत्य के निर्णय के लिए निम्न चार विधियाँ प्रचलित थीं। याज्ञवल्क्य स्मृति में इसका उल्लेख है।[1]

---

१ तुलाग्न्यापोविषकोशो दिव्यानीहविशुद्धये।
महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि॥
तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः।
प्रतिमानसमीभूतोरेखां कृत्वावतारितः॥
त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता।
तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय॥

१. प्रमाणित अपराधी को विष खिलाया जाता था पर निष्पाप होने से उस पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता था।

२. ऐसे व्यक्ति को नाभिपर्यन्त जल में लगातार उतने समय तक डुबकियाँ दी जाती थी जितने समय तक कोई वेगवान् धनुर्धारी तत्काल फेंके गये बाण को ले आता था। यदि वह सत्य में अपराधी होता था तब तो जल में डूबता था अन्यथा नहीं।

यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय।
शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत्॥
करौ विमृदितव्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत्।
सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत्॥
त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक।
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे मम॥
तस्येत्युक्तवतो लोहं पञ्चाशत्पलिकं समम्।
अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि॥
स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत्।
षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम्॥
मुक्त्वाग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात्।
अन्तरा पतिते पिण्डे सन्देहे वा पुनर्हरेत्॥
सत्येन माभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य कम्।
नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत्॥
समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जवी नरः।
गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात्॥
त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मे व्यवस्थितः।
त्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम्॥
एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम्।
यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत्॥
देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत्।
संस्राव्य पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम्॥
आ चतुर्दशकादह्नो यस्य नो राजदैविकम्।
व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यादसंशयम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, द्वि० अ०
सप्तम दिव्य प्रकरण, श्लोक ९५, १००-१११

३. ऐसे व्यक्ति को तुला के एक पलड़े में बिठाकर उसके भार के तुल्य बाटों से तोला जाता था। यदि वह निरपराध होता था तो उसका पलड़ा हल्का रहने से ऊपर रहता था।

४. ऐसे व्यक्ति के हाथ पर अभिमन्त्रित पीपल के सात पत्ते सूत से बाँधे जाते थे और फिर उस पर नियतकाल तक तपा हुआ लौह गोलक रखा जाता था। यदि वह निष्पाप होता था तो नहीं जलता था।

चौदह दिन से पूर्व जिसे राजा या दैव से कोई दुःख प्राप्त न हो उसे भी शुद्ध समझा जाता था।

यदि अधिकरणिक के समक्ष वाद के निर्णय के लिए पर्याप्त सामग्री होती थी तो वह दिव्यपरीक्षा के साधनों का आश्रय नहीं लेता था और सीधे राजा के पास अन्तिम निर्णय के लिए अभियोग को अपनी संस्तुति सहित पेश किया करता था।

मृच्छकटिक में चारुदत्त, मैत्रेय और आर्यक, शर्विलक का मैत्री सम्बन्ध भी बहुत सुंदर दिखाया गया है और उसे बड़ी महत्ता दी गयी है। विशेषता तो यह है कि इसमें सामान्य वर्ग का विशेष वर्ग से मैत्री का चित्र प्रस्तुत किया गया है जबकि मित्रता के बन्धन के सामान्य में सामान्य स्तर में इसको उचित कहा गया है—

> ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
> तयोर्विवाहमैत्री च न तु पुष्टविपुष्टयो.॥[1]

समान आर्थिक स्थिति में और समान वंश में मित्रता और विवाह उचित है अन्यथा अनुचित है। इस क्षेत्र में मृच्छकटिक इसका अपवाद है। मैत्रेय वहाँ विश्वस्त विदूषक है। वह केवल भोजनभट्ट नहीं अपितु चारुदत्त का सर्वकालिक है। आरम्भ में जब चारुदत्त अपनी निर्धनता के कारण अपने सहयोगियों एवं मित्रों की उदासीनता पर पश्चात्ताप व्यक्त करता है तभी सहसा विदूषक को देखकर वह कह उठता है—

> 'अये सर्वकालमित्रं मैत्रेय प्राप्त.। सखे! स्वागतम् आस्यताम्।'
>
> मृ० क० (प्रथम अंक)

अरे, सब समय के मित्र मैत्रेय आ गये। सखे, स्वागत है। बैठिए।

---

१. पञ्चतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति, द्वितीय खंड, पृ० २१४।

मित्र से उस युग में बड़ा सहारा अनुभव किया जाता था। उसका मित्र सबसे बड़ा हितैषी समझा जाता था। चारुदत्त ने विदूषक से कहा कि मैं दरिद्र नहीं हूँ भले ही इस समय धन का अभाव है।

> विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान्।
> सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥ मृ० क० ३,२८

उपरोक्त के अनुसार धन वाली पत्नी, सुख दुःख में समान रहने वाले आप जैसे मित्र और सत्य का परित्याग न होना, ये सब निर्धनों के लिए दुर्लभ हो हैं, किन्तु हमारे पास ये सभी पदार्थ वर्तमान हैं।

आपत्तिकाल में अथवा आवश्यकता के समय मित्र की उपयोगिता सैकड़ों पत्नियों से भी अधिक समझी जाती थी। शर्विलक ने जब यह सुना कि उसका मित्र आर्यक राजा पालक के द्वारा पकड़ा गया है तब वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। इधर आर्यक की सहायता का प्रश्न उधर नवविवाहिता पत्नी का साथ। शीघ्र ही उसने मदनिका से स्वीकृति पाकर उसे सेठ के साथ रेभिल सेठ के घर पहुँचा दिया। मदनिका भी कितनी समझदार थी। वह मित्र की सहायता में बाधक नहीं बनी। इसी समय शर्विलक ने कहा है—

> द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
> सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥
>
> मृ० क० ४,२९

संसार में मनुष्यों के लिए स्त्री और मित्र यही दोनों अति प्रिय हैं किन्तु इस समय जबकि मित्र कारागार में है सैकड़ों स्त्रियों से भी मित्र श्रेष्ठतम है।

निष्कर्ष

मृच्छकटिककाल के आसपास का समय ऐसा रहा है जिसमें धर्मशास्त्रों के अनुसार शासनप्रणाली अपनायी जाती थी। विशेषतः मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर विवाद के अवसरों पर किसी और प्रकार के प्रमाण के अभाव में विवादों का निर्णय साक्षियों के वक्तव्यों पर ही आधारित था। निर्णायक अधिकरणिक इस सम्बन्ध में वादी-प्रतिवादी के तथा उनके साक्षियों के वक्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने सहायकों के परामर्श से निर्णय देते थे। इस दिशा में उनका अन्तिम प्रयास यह रहता था कि निर्णय निष्पक्ष और वास्तविक हो।

शासनप्रथा इस रूप में सम्भवतः आज भी प्रचलित है पर दिव्य परीक्षा

वैसी कोई विधि इस समय नहीं है। हाँ, कुछ पहले ऐसा अवश्य था कि हिन्दू अपनी सफाई के लिए पोथी और मुसलमान कुरान अपने हाथ में लेकर अपने पक्ष की सफाई के लिए शपथ द्वारा अपने कथन को प्रमाणित करते थे पर आज सफाई के निर्णय में यह आधार नहीं माने जाते। यद्यपि वाद को आगे बढ़ने से रोकने के लिए वे ठीक थे पर आज के बौद्धिक युग में अपील द्वारा वाद को उच्चतम न्यायालय तक बढ़ाया जा सकता है और उसका निर्णय न्यायाधीशों के ही हाथ है। वादी और प्रतिवादी को अपने प्रमाण, प्रश्नों के रूप में अथवा साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करने के अतिरिक्त कोई दूसरा अधिकार इस सम्बन्ध में नहीं रहते।

जीवनकाल में आपत्तिग्रस्त होने पर मित्रों का सहयोग सदा से चला आया है। मृच्छकटिक में यह दिखाया गया है कि सदैव अपने से तीन स्तर का मित्र कठिन अवसर पर अधिक सहायक होता है यहाँ तक कि वह प्राण देने को भी उद्यत हो जाता है। चारुदत्त और आर्यक के क्रमशः मैत्रेय और शर्विलक ऐसे ही मित्र थे। विशेष स्थिति में उस समय पत्नी से भी बढ़कर मित्र माना गया है। तत्कालीन अच्छे मित्रों में निम्न लक्षण सब में मिलते थे :—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

भर्तृहरि (नी० शतक, ७२)

आजकल ऐसे मित्र सौभाग्य से ही प्राप्त होते हैं।

विभिन्न अभियोगों में मनु द्वारा समर्थित दण्डप्रणाली एवं रक्षाधिकारियों (पुलिस) द्वारा उसकी व्यवस्था

शासन की सुव्यवस्था के लिए जहाँ एक ओर न्याय की समुचित व्यवस्था आवश्यक है वहीं दूसरी ओर उसका पालन भी बहुत आवश्यक है। यदि न्याया-धीशों द्वारा दिए गए निर्णय का समुचित पालन न हो तो सारी व्यवस्था भंग हो जाय। यह व्यवस्था सुगठित पुलिस द्वारा ही सम्भव है। मृच्छकटिक काल में दण्ड विधान एवं पुलिस व्यवस्था समीचीन थी।

उस समय अपराधों के लिए कड़ी सजाएँ दी जाती थीं। अपराधियों के दोषों के छिपाये जाने पर सार्वजनिक स्थानों में कोड़े लगवाये जाते थे।

हत्या के अपराध में दण्ड से गरदन उड़ाने, फाँसी पर चढ़ाने, कुत्तों से नुचवाने और आरे से चिरवाने तक की सजाएँ दी जाती थी। फाँसी पर लटकाने का काम चाण्डाल करते थे। वध्यस्थान श्मशान पर होते थे। प्राणदण्ड का आदेश मिलने पर अपराधी अभियुक्त को वध्य स्थान पर विशेष प्रकार से ले जाया जाता था। चाण्डाल अपराधी के मस्तक पर लाल चन्दन लगाकर करवीर (कनेर पुष्प) की माला पहनाकर उसके कंधे पर शूल रखकर जिसे वह स्वयं उठाता था बाजे बजाते हुए श्मशान ले जाते थे। मार्ग में अपराधी का परिचय देकर उसके अपराध और दण्ड की घोषणा की जाती थी। यही कारण है कि पुलिस का उस समय अच्छा आधिपत्य था और दण्ड का पालन करने में प्रजा आना पीछा नहीं करती थी।

मृच्छकटिककाल में निम्नलिखित अपराधों पर प्रचलित परम्परा के अनुसार दण्ड दिये जाते थे —

१ द्यूत का धन न देना,
२ नारी हत्या और
३ राजनीतिक अपराध
(क) शासकीय कर्तव्यपरायण अधिकारी से विवाद और
(ख) राजनीतिक शत्रु की क्रियात्मक रूप से सहायता अथवा उसे आश्रय देना।

१. जब कभी द्यूत में विजयी पक्ष को पराजित व्यक्ति से धन प्राप्त नहीं होता था तब वह उसके साथ कड़ा व्यवहार करता था। द्यूतकरमण्डली (gambling assembly) के द्वारा पराजित जुआरी को धन चुकाना आवश्यक होता था और वह उसे बिना दिए छुटकारा नहीं पा सकता था। इसी कारण संवाहक अपने छुटकारे के लिए माथुर और द्यूतकर (Master of the gambling house) की आँखों में धूल झोंककर भागता हुआ उनके चंगुल से छूटने का प्रयत्न किया परन्तु फिर भी कष्ट से छुटकारा न मिला अर्थात् ऋण के चुंगल से न बचा। इस सम्बन्ध में इतने कठोर नियम थे कि चाहे व्यक्ति को भीख माँगनी पड़े, उधार लेना पड़े, चोरी करनी पड़े अथवा स्वयं को बेचना पड़े फिर भी द्यूत का ऋण चुकाना ही होता। एतद्विषयक अपराधी को उसके स्वामी द्यूतकर द्वारा चार दिन लटका भी दिया जाता था। उसे सड़कों पर घसीटा भी जाता था जिससे कि उसकी पीठ सड़कों और पत्थरों से छिल जाती थी, कभी

कभी कभी उसे कुत्ते भी उस पर छोड दिये जाते थे जो कि उसकी जघाओ में काट लेते थे।

द्यूत के प्रसग में दर्दुरक ने संवाहक के सबध में कहा —

> य स्तब्ध दिवसान्तमागतशिरो नास्ते समुत्कम्पितो
> यस्योद्धर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जात किण ।
> यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तर चर्व्यते
> तस्यात्यायतकोमलस्य सतत द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥ मृ० क० २,११

हमारे समान जो सायकाल तक निश्चल नतमस्तक होकर नही रह सकता है। नुकीले पत्थरों पर घसीटे जाने से जिसकी पीठ पर चिह्न नही पड गये हैं तथा जघा का मध्यभाग कुत्तों से नही काटा गया है उस लम्बे एव कोमल शरीर वाले मनुष्य के निरन्तर जुआ खेलने से क्या लाभ ?

द्यूत में पराजित व्यक्ति को दी हुई यह भयकर यातना बेदना इस बात का प्रतीक है कि इस सबध में दण्ड व्यवस्था कठोर थी।

२. वैसे तो उस समय किसी प्रकार की भी हत्या एक बडा अपराध माना जाता था पर विशेष रूप से नारी-हत्या एक घृणित अपराध माना जाता था।

३. न्यायालय में चन्दनक के विरुद्ध एक अभियोग वीरक प्रस्तुत करता है जिसमें स्पष्टरूप से उसे इस बात के लिए दोषी ठहराता है कि उसने उस पर दैनिक प्रहार करते हुए शासकीय कर्तव्य को पालन करने से रोका। ऐसा करना एक भयानक अपराध है। इस अभियोग का परिणाम तो नहीं दिखाया गया पर वीरक की यह धमकी कि यह चन्दनक के टुकडे कर देगा और यह कल्पना कि चन्दनक को अपने परिवार के साथ भागना पडा, इस बात के सूचक हैं कि उसका अपराध असाधारण था। वीरक ने चन्दनक से कहा था—'श्रृणु रे! अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्गम न कल्पयामि, ततो न होमि वीरको'।[1]

आधुनिक दण्डव्यवस्था को देखते हुए उस समय अपराधियों को दिये हुए दण्ड निश्चय ही अपेक्षाकृत कठोर थे। धार्मिक पुरुषों को भी सामान्य सी बात पर अवश्य देने की भावना से कठोर दण्ड दिया जाता था। पुष्पकरण्डक उद्यान के सरोवर में कोपीन के धोने पर शकार की डाँट सुनकर भिक्षु के भय से काँप उठने की चर्चा पहले की जा चुकी है।

---

1. श्रृणु श्रृणु रे। अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्ग न कल्पयामि तदा न भवामि वीरक।

सच तो यह है कि पशु की भाँति बलि के लिए अपराधी को मृत्यु दण्ड के लिए ले जाते थे। इतना ही नहीं, स्वयं अपने कंधे पर शूल रखे हुए चारुदत्त को चाण्डालों के साथ बड़े समारोह में वध्यस्थान जाना पड़ा था। नगर में चारों ओर प्रमुख स्थान थे, जहाँ एक-एक कर अपराधी के अपराध की घोषणा की जाती थी और लोगों को सचेत किया जाता था कि वे इस प्रकार का अपराध न करें। निर्दोष चारुदत्त को इस बात के लिए विवश किया गया कि वह यह कहे कि उसने वसन्तसेना को मारा है। इस भाँति प्राणदण्ड के अवसर पर विशेष प्रकार की ध्वनि करने वाले वाद्य पटहों को बाँस की खपच्चियों से बजाते हुए वध्य स्थान पर ले जाया जाता था। इसे प्राणदण्ड से पूर्व अपराधी को विकृत दशा में घुमाना पड़ता था। प्राणदण्ड के समय सबसे पूर्व सिर पर कुल्हाड़ी से घातक प्रहार किया जाता था फिर शरीर को शूल पर लटका दिया जाता था। पशु, पक्षी उस शव को नोचकर खा जाते थे।

इस प्रकार की क्रूर और भयंकर दण्ड सम्बन्धी व्यवस्थाएँ उस समय थी। इस शासन दण्डव्यवस्था का केवल एक ही उद्देश्य था और वह यह कि जनता राजा से न केवल आतंकित रहे अपितु सदैव भय से भयभीत रहे। शासकों का यह विश्वास था कि अपराधों को रोकने के लिए ऐसी कठोर दण्ड-व्यवस्था परमावश्यक है। उस समय धर्मात्मा ब्राह्मण एवं भिक्षुक को भी दण्ड के संबंध में कोई छूट न थी।

इस दण्डव्यवस्था की कठोरता इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि किंचित सन्देह होने पर किसी भी व्यक्ति को अँधेरी खाई में डाल दिया जाता था। षड्यन्त्र का भेद खुलने पर तत्काल मृत्युदण्ड दे दिया जाता था। प्राणदण्ड देने वाले चाण्डाल सहृदय होने पर भी अपने कर्तव्य का पालन करने में कठोर होते थे। चाण्डालों ने इस सम्बन्ध में चारुदत्त से कहा है —

तक्खिण ण कम्म णाअम्भ णववहबन्धणम्मि णिउणा।
अचिरेण सीसच्छेअसूलारोवेसु कुसला[1]॥ मृ० अ० १०,१

हम दोनों हत्या और बन्धन के कामकाज में दक्ष हैं तथा सहसा मारने एवं शूली पर चढ़ाने में निपुण हैं अर्थात् हम लोग मनुष्यों का वध करने के लिए कहीं नहीं जाते हैं। ऐसा कहकर चाण्डालों ने बलपूर्वक यह दिखाया है कि कर्तव्य के साथ हमें झुकना ही पड़ता है।

---

१. त्वरिते न खलु कार्ये नववधबन्धने निपुणौ।
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः॥

निष्कर्ष

मृच्छकटिक राजनीति-प्रधान प्रकरण है। मृच्छकटिक की सारी कथावस्तु राजनीति पर आधारित है। राजनीति के स्तर पर लाने के लिए इसमें चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कहानी का आश्रय लिया गया है। राजा पालक की राजनीति, न्याय एवं दण्ड व्यवस्था वास्तव में बड़ी सराहनीय थी पर उस समय की शासन व्यवस्था में एक कमी थी वह यह कि समुचित गुप्तचर विभाग न था। इसी कारण पालक की योजनाएँ सफल न हो सकीं और वह अपने कुकृत्यों से मारा गया।

दण्ड व्यवस्था की कठोरता का सम्भवतः एक मात्र कारण यह था कि राजा पालक यह चाहता था कि मेरे शासक से कोई मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र न रच पाये।

उस समय की दण्ड व्यवस्था यद्यपि मनु के अनुसार थी फिर भी राजा पालक सर्वाधिकार सुरक्षित रखने हेतु उसे और कठोर बनाये हुए था। तभी तो उसने अधिकरणिक द्वारा चारुदत्त की मुक्ति के सम्बन्ध में मनु के उद्धरण की उपेक्षा करके उसे प्राणदण्ड का आदेश दे दिया।

द्यूत का प्रचार उस समय प्रचुर था। नारी-हत्या का अभियोग चारुदत्त पर लगा ही हुआ था। राजनीतिक विरोध राजा पालक और राजा आर्यक के बीच चल ही रहा था। अतः शासन वेदनापूर्ण दण्डव्यवस्थाएँ इन्हीं से सम्बन्धित थीं। अपराध के लिए नियत दण्ड की दृष्टि से न तो ब्राह्मण के लिए और न भिक्षुक आदि किसी धार्मिक के लिए कोई छूट थी। चाण्डालों का कर्तव्य बड़ा जघन्य था फिर भी वे लोग सहृदय होते थे, पर यथावसर कर्तव्य पालन में कठोर हो जाते थे।

पुलिस विभाग को विभूषित के लिए वास्तविक कोई भेद न था पर उनमें जातिगत हीन भावनाएँ थीं। पुलिस कर्मचारी दण्ड-व्यवस्था में क्रूर होते थे। निर्दोष अभियुक्त दिव्य परीक्षा द्वारा छूट भी जाते थे। प्राणदण्ड की व्यवस्था समुचित होती थी। यह कार्य इतने व्यापक रूप से होता था कि बालक, बूढ़े, नर, नारी सभी को उसकी जानकारी भली भाँति हो जाती थी।

आज के जनतन्त्र से यह राजतन्त्रीय दण्ड-व्यवस्था पद्धति सर्वथा भिन्न थी। राजतन्त्र में दण्ड व्यवस्था जहाँ अपराधों को रोकती है वहाँ आतंक एवं भय न होने से जनतन्त्र में प्रभावहीन प्रतीत होती है। निष्पक्ष राजतन्त्र में दण्ड-व्यवस्था में सभी बुराइयों पर काबू पाया जा सकता है। जनतन्त्र तो नैतिक जीवन बिताने वाली जनता के लिए ही उपयोगी हो सकता है।

अध्याय विश्लेषण

मृच्छकटिककाल में देश में छोटे-छोटे राज्य थे जो साधारणतः आत्मनिर्भर होते थे। उज्जयिनी का भी एक राज्य था जिसके अन्तर्गत कुशावती का छोटा राज्य था। आर्यक ने इसे सिंहासनारूढ़ होने पर चारुदत्त को प्रदान कर दिया था। राजतन्त्र होते हुए भी स्थिति अच्छी न थी। जनता की रक्षा-व्यवस्था शासन द्वारा समुचित रूप में नहीं होती थी। नगर रक्षक अधिकारी शत्रु मित्र को परखने में शिथिलता बरतते थे। कभी-कभी अपने अधिकार का दुरुपयोग भी करते थे। जब चन्दनक की जानकारी में यह आ चुका था कि आर्यक वही गाड़ी में बैठा है तब भी उसने अपने कर्तव्य की उपेक्षा की और वीरक से विरोध किया। इस कुप्रबन्ध के कारण राजा को भी अधिकारियों पर विश्वास नहीं था। उधर अधिकारी-वर्ग को राजा का विश्वास नहीं था। प्रजा अनिश्चित दशा में थी। इन परिस्थितियों में सिंहासन उलटते देर नहीं लगती थी। राजा अपने मन्त्रियों की सहायता से राज्य-शासन करता था। सर्वत्र मनु की प्रामाणिकता थी। मनुस्मृति के आधार पर उस समय अभियोगों का निर्णय होता था। ब्राह्मण तथा धनी सदस्य होते थे जो अभियोगों के निर्णय में अधिकरणिक की सहायता करते थे पर सब कुछ राजा की इच्छा से होता था। राजनीतिक परिस्थितियों की विषमता के कारण ही तो एक ओर शकार को इतना बल मिला और दूसरी ओर आर्यक ने समय से लाभ उठाया। नगर व्यवस्था और पुलिस प्रशासन पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

❋

सप्तम अध्याय

शूद्रक एवं मृच्छकटिक

संक्षिप्त समीक्षा

शूद्रक मीमांसा

मृच्छकटिक की रचना प्राप्त प्रमाणों के आधार पर अनुमानतः पञ्चम शताब्दी के अन्त एवं षष्ठ के पूर्व मानी जाती है। चतुर्भाणी में शूद्रक-रचित पद्मप्राभृतक सम्मिलित है। यह गुप्तकाल के अन्तिम चरण में और हर्ष के उत्तरकाल में लिखा गया है। अतः पद्मप्राभृतक के समकालीन ही मृच्छकटिक समझा जाता है। यह भी उल्लिखित है कि मृच्छकटिक का प्रारम्भिक अंश भास पर आधारित है। भास की चर्चा कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में की है। कालिदास-रचित ग्रन्थ भी इसके पूर्व ही लिखे गये थे।

इस भाँति मृच्छकटिक का निर्माण निश्चित हो जाने से शूद्रक का समय-ज्ञान सरल हो जाना चाहिए था पर इस नाम की संस्कृत साहित्य में इतनी यथेष्ट ख्याति एवं लोक-प्रियता है जिससे अभी तक यह विषय विवादास्पद बना हुआ है। इस नाम के अनेक छोटे-बड़े कवि अथवा नाटककार हो गए हैं। इनका समय अभी तक अनुमान पर ही निर्भर है। विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध सूत्रों के आधार पर डा० पुसलकर ने सत्ताईस शूद्रक माने हैं जिनमें से तीन ऐतिहासिक हैं। दण्डी ने तो दशकुमारचरित में शूद्रक के विभिन्न जन्मों का वर्णन किया है।

मृच्छकटिक की प्रस्तावना के उद्धरण से जिसमें 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' कहा गया है पाठक सन्देह में पड़ जाते हैं। शूद्रक को ही रचयिता माना जा रहा है और वही अपनी रचना प्रदर्शित करने से पूर्व अपने सम्बन्ध में ऐसा कहता है। अतः इस सन्देह के निराकरण के लिए यही समझा जाये कि या तो इस रचना को शूद्रक की न माना जाये और इसे किसी कल्पित व्यक्ति द्वारा रचित सम्भव लिया जाये पर फिर भी तथ्य की जिज्ञासा बनी रहती है अथवा प्रो० स्टेनकोनो एवं डा० सबिटोर के मतानुसार इसे किसी दाक्षिणी नरेश विद्वान् द्वारा रचित मान लिया जाये—जैसा कि मृच्छकटिक के कुछ प्रसङ्ग, विभिन्न प्राकृत भाषाएँ, कर्णाटक पोषाहक का विवरण एवं सहचारिणी की चर्चा इसकी

पुष्टि में सहायक है, पर इससे प्रस्तावना के अन्तर्गत केवल शूद्रक नाम चरितार्थ नहीं होता या फिर रचना किसी ब्राह्मण नरेश की मानी जाए जिसने अपना नाम पुरानी परम्परा के अनुसार मृच्छकटिक में देना ठीक नहीं समझा, पर बाद में इस तथ्य को जानने वाले किसी विद्वान् ने मृच्छकटिक के आरम्भ में तत्सम्बन्धी विशेषताएँ सम्मिलित कर उसको प्रकाशित कर दिया, ऐसा अनुमान भी स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में वास्तविक रचयिता को क्यों न प्रकाश में लाया जाय।

शूद्रक भी अनेक हुए हैं और सभी प्रतिष्ठित विद्वान् नरेश थे। अतः यह भी सम्भव है कि शूद्रक शब्द उपाधि के रूप में नाम के आगे सम्मानित समझकर प्रयुक्त किया जाने लगा हो और इस नाते रचना को महत्त्व देने के लिए उस ब्राह्मण नरेश के आगे शूद्रक जोड़ दिया गया हो। इस विचार पक्ष में शूद्रक शब्द उपाधिरूप से आविर्भूत होगा और विशिष्ट नाम ज्ञात करने की फिर भी आकांक्षा बनी रहेगी। ऐसी विषम स्थिति में किसी शूद्रक राजा को 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्ट' के आधार पर नहीं मान सकते और दक्षिणी विद्वान् को भी सहसा इस लिए स्वीकार नहीं कर सकते कि प्रस्तावनान्तर्गत शूद्रकगत विशेषताएँ और शूद्रक कथा कैसे अविश्वसनीय ठहरायी जाए। तब फिर यह देखना होगा कि मृच्छकटिक का रचयिता निश्चय ऐसा व्यक्ति है जिसका नाम शूद्रक है और यह राजा तथा विद्वान् कवि भी है, साथ में यह भी देखना है कि वह शैव है और बौद्ध दर्शन का ज्ञाता भी है। उसका द्विज-मुख्यतम होना भी आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक के जीवनोपरान्त उसके किसी आत्मीय के द्वारा प्रस्तावना में शूद्रक सम्मिलित किया गया है।

जिस भांति संस्कृत व्याकरण में आर्य से आर्यक और गोपाल से गोपालक शब्द सिद्ध होते हैं ठीक उसी प्रकार शूद्र से शूद्रक भी सम्भव है। मृच्छकटिक के अन्तर्गत आर्यक, गोपालक राजाओं की जैसे चर्चा है वैसे ही शूद्रक नाम का भी कोई और सम्भवतः रहा होगा। राजा होने के साथ-साथ वह बड़ा प्रतिभाशाली, विद्वान् एवं शिवभक्त भी था।

दक्षिण की आभीर जाति शूद्र समझी जाती थी। पितृपक्ष से यह ब्राह्मण और मातृपक्ष से शूद्र माने जाते थे। इसी परम्परा में सम्भवतः केवल शूद्रक नाम से ही कोई विशिष्ट नरेश हुए, जिन्होंने मृच्छकटिक की रचना की, जो बाद में प्रकाश में आई। प्रतिद्वन्द्वी उन्हीं के व्यक्ति रहे अतः अपना परिचय ठीक अच्छे रूप में नहीं देना, इस नाते उन्होंने अपने पितृपक्ष का आश्रय लेते हुए

शूद्रक को क्रियमुक्तम कहा है। शूद्रक तो नाम का बस, वह अपने स्थान पर वैसा ही रहा। मृच्छकटिक का कथानक भी इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि चारुदत्त ब्राह्मण द्वारा गणिका वसन्तसेना को अपनाना उच्चवर्ग का निम्न-वर्ग को अपने में मिलाना है।

मृच्छकटिक का नाटकीय स्वरूप

संस्कृत में अनेक रूपक हैं पर भिन्न होते हुए भी वे किसी एक ही दिशा की ओर तीव्र गति से मुड़ते हुए दिखाई देते हैं। यद्यपि उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस और मृच्छकटिक अपनी कथावस्तु के कारण वैशिष्ट्यपूर्ण हैं फिर भी मृच्छकटिक घटनाचक्र की दृष्टि से अद्भुत है। इसकी सफलता एवं प्रसिद्धि इसके घटनाचक्र की तीव्रता के ही कारण है। नाटक में प्रमुख वस्तु-व्यापार है। यही नाटक को गति देता है। व्यापारिक गति की सफलता भी इसी में है कि उससे कथोपकथन में शिथिलता न आने पाये। अभिनय के द्वारा कथा आगे बढ़नी चाहिए। यही बात मृच्छकटिक में चरितार्थ हुई है। इस प्रकरण में रचयिता ने स्वाभाविक कौतूहल वृत्ति को निरन्तर बढ़ावा देने का अवसर दिया है। शीर्षक भी इसका अटपटा है जो एक घटना पर आधारित है।

चारुदत्त का पुत्र पड़ोसी के लड़के को सोने की गाड़ी से खेलते हुए देखकर स्वयं मिट्टी की गाड़ी से खेलना नहीं चाहता और इसके लिए मचल जाता है और रदनिका के साथ वसन्तसेना के पास पहुँच जाता है। वह उसे सोने के आभूषणादि देती है जो बाद में न्यायालय में विदूषक के पास पकड़ जाते हैं और जिनके कारण पतित चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का आरोप सिद्ध होता है।

अन्य रूपकों की भाँति इसमें राजाओं की कहानी नहीं है वरन् मध्यमवर्ग से कथावस्तु को चुना गया है। यह संस्कृत का अकेला यथार्थवादी नाटक है जो आदर्श की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। इसमें प्रेम तथा भावना की उत्कृष्टता के साथ-साथ जीवन की कठोरता के वास्तविक दर्शन होते हैं। संसार वास्तव में चोर, जुआरी, धूर्त, राजनीतिक षड्यन्त्री, भिक्षु, राजसेवक, मायावी, पुलिस कर्मचारी, ग्रामवासियों एवं वेश्याओं आदि से परिपूर्ण है। इन्हीं का दिग्दर्शन इस प्रकरण में कराया गया है। इसमें अनेक सुन्दर प्रसंग भी हैं जो काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल की भाँति इसमें विलासपूर्ण प्रेम और भवभूति की भाँति गम्भीर आदर्श प्रेम नहीं है वरन् एक नागरिक और गणिका के प्रेम का चित्र है जो रूप में पवित्र, मनोहर और कोमल

है। वैसे तो उच्चवर्ग के नागरिक का गणिका के साथ प्रेम दिखाने में कोई उलझन नहीं थी, इसी सरलता से वह दिखाया जा सकता था पर जिन परिस्थितियों में यह हो रहा वह बड़ी पेचीदा थीं। एक ओर गणिका वसंतसेना सम्पन्न एवं समृद्ध थी फिर दूसरी ओर राजा का स्यालक शकार उसे चाहता था जिसका विरोध करना एक दुस्साहस था। उधर धनी नागरिक ब्राह्मण होते हुए भी चारुदत्त निर्धन और असहाय था। अतः इस प्रकार की स्थिति में इस प्रेम का निर्वाह सरल नहीं था। भास के चारुदत्त में कथा का यह राजनीतिक अंश नहीं है। कुछ विचारशील विद्वान्[1] नाटक की कथा इसके अन्तर्गत मानते हैं पर ऐसा है नहीं। पालक और आर्यक वाली राजनीतिपूर्ण कथावस्तु चारुदत्त और वसंतसेना की प्रेमकथा से संश्लिष्ट है। इससे उस समय की सामाजिक उथल-पुथल का भी ज्ञान होता है। मृच्छकटिक समाज के सभी वर्गों के पात्रों की चर्चा से स्वाभाविक प्रतीत होता है। इन सब बातों के साथ-साथ इसके चरित्रों की भी एक प्रमुख विशेषता है। अन्य संस्कृत नाटकों में पात्र प्रायः प्रतिनिधि पात्र होते हैं किन्तु मृच्छकटिक के पात्रों का अपना व्यक्तित्व है। सुसहृदय विट केवल शकार के लिए नीच प्रकार का नौकर बनता है और उससे अपमानित होता है। ब्राह्मणपुत्र शर्विलक चौर्यकार्य को बुरा समझते हुए भी प्रेम के कारण उसमें प्रवृत्त होता है। गणिका वसंतसेना निर्धन ब्राह्मण युवक चारुदत्त के साथ प्रेम करने को लालायित है। सच तो यह है कि मृच्छकटिक में एक अपूर्व सम्मिश्रण है प्रहसन और विषाद का, व्यंग्य और करुणा का, काव्य और प्रतिभा का, दया और मानवता का।

मृच्छकटिक के वैसे तो सभी पात्र अपने-अपने स्थान पर वैशिष्ट्यपूर्ण हैं पर इसमें युवक चारुदत्त और नायिका वसंतसेना का अद्भुत चरित्र चित्रण है। चारुदत्त जाति से ब्राह्मण और कर्म से श्रेष्ठ व्यापारी है। ब्राह्मणत्व एवं पुरुषोचित व्यक्तित्व का उसमें अनुपम आदर्श है। शृंगारपूर्ण विलासिता का उसमें अभाव है। वह नागरीभाव से मानव की भाँति प्रणयव्यवहार में स्वयं प्रवृत्त नहीं होता। उसमें चारित्रिक दृढ़ता है। प्रेम-सम्बन्धी सभी उपाय प्रायः गणिका वसन्तसेना की ओर से उसकी कुलवधू बनने हेतु दिखाये गए हैं। यदि यह कहा जाए कि दरिद्रता के कारण हीन भावना होने से वह संकुचित रहा तो भी उचित नहीं क्योंकि वसन्तसेना को अपनी ओर उन्मुख देखकर भी वह गम्भीर ही

---

1. Charpentier Journal of Royal Asiatic Society, 1925, p 604.

रहा है। उसकी कुलीनता, सभ्यता एवं सच्चरित्रता आदि महनीय गुणों ने समस्त उज्जयिनी के मन को मोह लिया था। एक समृद्ध श्रेष्ठी से दरिद्र भी वह अपने त्यागशील स्वभाव के कारण ही बना पर उसके चरित्र की विशेषता यह है कि वह अब निर्धन है। वह अपने को उस हाथी के समान समझता है जिसने मद-जल से अनेक भौंरों को तृप्त किया है किन्तु अब गण्डस्थल के शुष्क हो जाने से कोई भौंरा उसके पास नहीं फटकता।[1] कभी-कभी दरिद्रता से उसका मन विक्षुब्ध हो जाता है और वह मृत्यु को इससे अच्छा समझने लगता है, फिर भी उसका मन असंतुलित नहीं होता। वह जीवन के उत्थान-पतन को समझता है। उसका अभिनय आदर्श नायक की भाँति नहीं है। वह उत्तम श्रेणी के मध्यम वर्ग के चित्र को उपस्थित करता है, जिसकी रुचि साहित्य, संगीत और कला में रही है। विदूषक की भाँति गणिका वसन्तसेना को वह शंकित दृष्टि से नहीं देखता और न गणिका प्रेम को ठेस पहुँचाकर इसे चरित्रदोष मानता है वरन् एक युवावस्था की भूल समझता है।

> 'मम रूपमीदृशं यदयं, यथागणिका ममाभिमतमिति अथवा यौवन-मत्रापराध्यति न चारित्रम्।' मृ० क० (न० अङ्क)

नायिका वसन्तसेना का चरित्र तो विशुद्ध प्रेम, अपूर्व त्याग और सरलता से भरपूर है। गणिकावृत्ति को बुरा समझ कर वह गृहिणी जीवन बिताने को बड़ी उत्सुक है। न तो उसमें सीता की भाँति गम्भीर पत्नीत्व है और न मालती की भाँति परतन्त्रता में आबद्ध किशोरी की झलक। वह शकुन्तला की भाँति बालसुलभ मुग्ध मनोहारिता से युक्त भी नहीं है और न मालविका की भाँति ऐसे ही स्थान में फेंक दिए गए हीरे के टुकड़े के तुल्य है। विक्रमोर्वशीय की उर्वशी की भाँति होते हुए भी उसमें कुछ वैशिष्ट्य है। वह उसकी तरह अधिक विलासिनी नहीं दिखायी देती। वह त्याग और उदारता में उर्वशी से बढ़कर है। भले ही उर्वशी ने अपने पुत्र को छिपाकर प्रणय के लिए स्वार्थत्याग की झलक दिखाई थी। वसन्तसेना और उर्वशी के जीवन में साम्य होते हुए भी वसन्तसेना की बुद्धि उर्वशी से बढ़कर है। उसका प्रेम शुद्ध एवं गम्भीर है। राज-स्यालक संस्थानक द्वारा भेजी गयी स्वर्णराशि का तिरस्कार करते हुए वसंतसेना शकार की संस्तुति में लीन अपनी माँ से यही कहती है कि यदि वह उसे जीवित देखना चाहती है तो इस प्रकार का प्रस्ताव कभी न रखे।

---

१. 'पश्यतु ...' श्लोक। मृ० क० १,१२

'यह म बीएस्सी एस्उवि, ता एस्स म पुणो बहु कहाए बाण्णाविदस्सा।'[1]

अपने समृद्धिशाली पूर्व, पर पतित जीवन से ऊबकर वह चारुदत्त की पत्नी बनने में गौरव समझती है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं कि चारुदत्त निर्धन है। फिर भी उसका यह स्थान देखकर प्रसन्न है और उसके प्रकार से बचने में सहायक होता है।

राष्ट्रियश्याल संस्थानक शकार चारुदत्त और वसन्तसेना के बीच दीवार की भाँति खड़ा होने वाला पात्र है। यदि उसे मूर्खता, कायरता, हठधर्मिता, दम्भ, क्रूरता और विलासिता के समन्वय की प्रतिमूर्ति कहा जाय तो ठीक ही होगा। वह राजकर्मचारियों को यहाँ तक कि न्यायाधीश को भी राष्ट्रियश्याल होने के नाते उनके पदों से हटवाने की धमकी देने में नहीं हिचकिचाता। दिखावे की विद्वत्ता और वीरता प्रदर्शित करने को वह उत्सुक रहता है। नीच कुलोत्पन्न होने से और माता-पिता के अभाव से वह काणेलीमातृक (रखेली का पुत्र) कहलाता है। उसका अभिनय, वाग्जाल, बातचीत आदि सभी कुछ हास्यजनक है। विट और चेट भी उसे मूर्ख समझते हैं पर दुराग्रही होने के कारण डरते हैं।

यदि शकार का हास्य मूर्खतापूर्ण है तो विदूषक (मैत्रेय) का हास्य बुद्धिमत्ता से भरा है। वह भोजन भट्ट ब्राह्मण चारुदत्त की दरिद्रावस्था में भी उसका वैसा ही सच्चा साथी है जैसा कि उसकी समृद्धिपूर्ण दशा में था। चारुदत्त के शब्दों में वह उसका सर्वकालमित्र है। इसीलिए दिन में अन्यत्र खा पीकर रात्रि में वह चारुदत्त के पास ही लौट आता है। नीच पात्रों में जन्म से ब्राह्मण और कर्म से चोर शर्विलक भी अपने कार्य में प्रवीण है। बौद्ध भिक्षु के रूप में संवाहक, द्यूतकारों का सभिक माथुर, दोनों रक्षक चन्दनक और वीरक, अपने-अपने स्थान पर कार्य-व्यापार में दक्ष हैं। आर्यक का चरित्र भी प्रभावोत्पादक है।

स्त्रीपात्रों में चारुदत्त की पत्नी धूता वास्तव में पतिव्रता है। उसने चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम के प्रति कोई अरुचि एवं ईर्ष्या नहीं दिखाई।

डा॰ राइडर ने मृच्छकटिक के पात्रों को सार्वदेशिक कहा है—

"Shudraka, alone in the long time of Indian dramatists has a cosmopolitan character"[2]

---

१. यदि मां बीएस्सी मिच्छति तदेव न पुनरहं मात्रा आर्याविदग्ध्या।

२ The Little Clay Cart (Introduction—Characters are also remarkable.)

डा० कीथ मृच्छकटिक को पूर्णरूपेण भारतीय विचार और भारतीय जीवन का प्रकरण मानते हैं, जब कि वे कालिदास के पात्रों को सार्वदेशिक (Cosmopolitan) मानते हैं —

'मृच्छकटिक अपने पूर्ण रूप में ऐसा रूपक है जो भारतीय विचारधारा और जीवन से ओत-प्रोत है।'[1]

मृच्छकटिक के पात्रों में सार्वदेशिकता की झलक निश्चित है। विश्व के किसी भी भाग में इन्हें देखा जा सकता है। भारत के बड़े नगरों में तो संस्थानक, शर्विलक और समिक माथुर जैसे पात्रों की आत्माएँ आज भी विभिन्न रूपों में देखी जा सकती हैं।

संविधानक शिल्प

मृच्छकटिक की रचना पाश्चात्य नाट्यकला के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। यूनानी नाट्यकला की विविध अन्वितियाँ जैसे पाश्चात्य नाटकों में पायी जाती हैं वैसी संस्कृत नाटकों में प्रचलित नहीं हैं और न मृच्छकटिक में उनका वास्तविक पूर्णतः वर्णन होता है। इस प्रकरण के प्रणेता ने कुछ घटनात्मक वृत्तों का समावेश केवल साहित्यिक विचार से किया है, फिर भी यह निश्चित है कि इसका कथानक केवल एक विषय के प्रतिपादनार्थ नियोजित नहीं हुआ है। इसमें तो अनेक विषय एवं प्रयोजनों की पूर्ति का सफल प्रयास किया गया है। प्रस्तावना से यह स्पष्ट लक्षित है।[2]

इसमें तात्कालिक समाज, शासन और भाग्य के अनियन्त्रित चक्र की कहानी चित्रित की गयी है। इसी को ध्यान में रखते हुए इसका वस्तु विधान प्रयासपूर्ण है।

इसके विषय में यह सोचना कि एक बैठक में इसका अभिनय सम्भव नहीं

---

१ ए० बी० कीथ . संस्कृत नाटक, अनु० डा० उदयभानुसिंह, प्रथम संस्करण पृ० ११८।

२. अवन्तिपुर्यां द्विज सार्थवाहो युवा दरिद्र किल चारुदत्त ।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥
तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम् ।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥

मृ० क० १, ६-७

है अतः काट-छाँट किया जाये अथवा दो अभिनयों में इसे प्रस्तुत किया जाये विचारणीय है। श्री हेनरी डब्ल्यु वेल्स ने इसका विरोध किया है —

The whole is very much of a piece and far more than the some of its constituent parts Although part one, than many conceivably be given without part two, the latter cannot be given, without part one. Effects are to a remarkable degree accummulative The relation is not more than of a pedestal to its statue, It is that of a growing organism from the trunk spring the many branches with their surprisingly abundant foliage.[1]

डा॰ राइडर ने भी अन्त में यही कहा कि नाटक में से किसी दृश्य को छोड़ा नहीं जा सकता —

"In the Little Clay Cart, at any rate we could ill-afford to spare a single scene "[2]

इस प्रकरण की वस्तु विन्यास कला अपने ढंग की निराली है। इसकी वास्तविकता को समझने के लिए हमें भीतर से बाहर जाने की अपेक्षा बाहर से भीतर जाना पड़ता है। असम्बद्ध प्रतीत होने वाली घटनाओं अथवा व्यापारों के माध्यम से पाठक को धैर्य के साथ उस स्थल पर पहुँचना पड़ता है जहाँ से घटनाएँ मूल से सम्बद्ध दिखाई देती हैं।

वस्तु-विन्यास की परोक्ष पद्धति को वेल्स ने स्वीकार किया है :—To use an arborial metaphor, the eye of an audience is led to realise the construction of the tree not by proceeding from the stem outwards but by proceeding from the tips of the branches inwards[3]

मृच्छकटिक के कथासंयोजन और वस्तु-विन्यास का औचित्य देखिए— आधारभूत सिद्धांत नियति का निरंकुश शासन है। छोटी-मोटी घटनाओं से

१. Henry W Wells : The Classical Drama of India p 133

२. Dr A. W. Ryder : The Little Clay Cart (Introduction)

३. Henry W. Wells · The Classical Drama of India. p 131

विकास का स्वाभाविक क्रम टूटता है। आरम्भ में ऐसा लगता है कि अँधेरे में नगर की गलियों में वसन्तसेना अपने पीछे घूमने वाले शकार एवं उसके अनुचरों से बचकर भी आवेगी पर अकस्मात् वह चारुदत्त के घर पहुँच जाती है और समीप से मैत्रेय द्वारा दरवाजा खोले जाने पर चारुदत्त का साक्षात्कार कर लेती है। जुआरियों वाले दृश्य में भी संवाहक संयोग से ही वसन्तसेना के घर में प्रविष्ट हो जाता है और सभिक के अत्याचार से छुट्टी पा जाता है। प्रवहण-विपर्यय वाला समस्त कार्य नियति पर निर्भर है। आर्यक बन्दीगृह की दीवारों को तोड़कर भागते हुए चारुदत्त के घर पहुँचता है और उसी गाड़ी में चढ़कर जीर्णोद्यान पहुँच जाता है। चित्र का दूसरा पहलू भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। न्याय का सम्पूर्ण प्रकरण आकस्मिक परिस्थितियों से व्याप्त है। वीरक अचानक न्यायमण्डप में पहुँचता है और चन्दनक के विरुद्ध आरोप प्रस्तुत करता है। इतना ही नहीं, चारुदत्त की गाड़ी में उसके साथ रमण के लिए जीर्णोद्यान में जाने वाली वसन्तसेना का संवाद सुनाता है। वृक्ष के नीचे किसी स्त्री का कुचला हुआ शरीर भी विचित्र एक संयोग है। सबसे बढ़कर नियति का चमत्कार तो उस समय सामने आता है जबकि मैत्रेय दान के आभूषणों की पिटारी कुक्षि में दबाये न्यायमण्डप में पहुँच जाता है और वह पिटारी खिसक कर धरती पर गिर पड़ती है जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि चारुदत्त के पास वसन्तसेना के आभूषणों का होना निश्चय ही उसके अपराधी होने का प्रमाण है। राष्ट्रीय न्याय की कठोरता से सहृदय उस समय कराह उठते हैं जब चारुदत्त जैसे सरल, सज्जन एवं निरपराध व्यक्ति को, दोषी हुई स्त्री-हत्या के आरोप में फाँसी पर लटकाए जाने की कल्पना करते हैं। न केवल नागरिक इस अन्यायपूर्ण शासनादेश से दुःखी हैं वरन् न्यायाधीश भी अपनी सारी शुभकामनाओं तथा सहानुभूतियों के होते हुए भी परिस्थितिजन्य प्रमाणों के आधार पर चारुदत्त को मृत्युमुख से बचाने में अपने को असमर्थ अनुभव कर रहे हैं।

हिन्दू दर्शन 'सत्य विजयते नानृतम्' पर आस्था रखता है। अतः इसमें तर्क-वितर्क की आवश्यकता नहीं समझता। नियति की प्रबलता से सारा दृश्य ही बदल जाता है। संवाहक श्रमण वधस्थल पर पहुँच जाता है और पुराने उपकार का आभार प्रकट करता है। यह भी संयोग ही था कि शकार वसन्तसेना का गला घोंटने पर उसको मृत्यु निश्चित समझ लेता है और उसकी पुष्टि आवश्यक नहीं समझता।

नाटक का अन्तिम दृश्य भी भाग्य का ही खेल है। चाण्डाल के हाथ से तलवार अचानक गिर जाती है और संवाहक भिक्षु इतने में तत्काल वसन्तसेना को लेकर वध्य स्थल पर पहुँच जाता है। सहसा दृश्य ही बदल जाता है। फाँसी के पटले से चारुदत्त नीचे उतर जाता है और अपनी आशातीत मधुर भावनाओं से वसन्तसेना से कहने लगता है :—

> त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे।
> अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत॥
>
> मृ० क० १०,४२

तुम्हारे कारण मृत्युमुख में जाता हुआ यह शरीर तुम्हारे द्वारा ही जीवित कर दिया गया। अहो! प्रियजन के सम्मिलन का कैसा प्रभाव है! अन्यथा मरा हुआ भी कोई जीवित हो सकता है?

और भी प्रिय देखो :

> रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
> कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
> एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
> जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः॥ मृ० क० १०,४४

प्रियतमा की प्राप्ति के अवसर पर विवाह के समय जिस प्रकार वर की सजावट होती है उसी प्रकार यह लाल वस्त्र और माला है। वैसे ही वध के समय नगाड़ों की ध्वनियाँ भी विवाह के समय के बाजों की ध्वनियों के समान हो गयी हैं।

मृच्छकटिक की यही अद्भुत विशेषता है।

इसी से तो डा० कीथ ने कहा है —

The real Indian character of the Drama reveals itself in the demand for conventional happy ending which shows us every person in a condition of happiness with the solitary exception of the evil king[1]

शास्त्रीय विधान

मृच्छकटिक ऐसा रूपक है जिसमें नायिका कुलकन्या तथा वेश्या दोनों

---

१. Dr. A B Keith : The Sanskrit Drama, p 140.

हैं, साथ ही धूर्त, जुआरी, विट, चेट इत्यादि भी हैं। इसी से यह संकीर्ण प्रकरण है। नायक चारुदत्त धीरप्रशान्त है जो दरिद्र होने पर भी धर्म, अर्थ एवं काम-साधना में लीन है। नायिका वेश्या है, यद्यपि दूसरी नायिका धूता कुलजा है। इसमें धूर्तों, जुआरियों, विटों और चेटों का जमघट है। नाट्यवस्तु के विचार से चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रेमकथा आधिकारिक अथवा प्रधान इतिवृत्त है। गौण वस्तु के रूप में तीन छोटी बड़ी सहायक कथायें हैं। एक मदनिका और शर्विलक के प्रेम की जिसे पताका अथवा प्रासंगिक वस्तु कह सकते हैं, दूसरी राजा पालक की हत्या तथा आर्यक के राज्यारोहण की और तीसरी संवाहक श्रमण की कथा है जिसे प्रकरी कहना उचित होगा। ये तीनों कथायें पूर्णतः प्रासंगिक वस्तुएं हैं। मदनिका-शर्विलक वाला वृत्त पताका वृत्त है और मुख्य वृत्त का सर्वथा उपकारक सिद्ध हुआ है। इसका कथात्मक गुम्फन सर्वथा ठीक है। अर्थ प्रकृतियों के विचार से शकार का विट से वसन्तसेना-विषयक निम्न कथन इस प्रकरण का बीज है—

भावे। भावे। एशा गब्भदाशी कामदेवाअदणुज्जाणादो
पहुदि ताह दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि ॥[1]

मृ० क० (प्र० अं)

विद्वन्! विद्वन्! यह नीच वसन्तसेना कामदेवमन्दिर के उद्यान से ही दरिद्र चारुदत्त में अनुरक्त है, मुझे नहीं चाहती। कर्णपूरक द्वारा दुष्ट हाथी के उत्पात से श्रमण को बचाने तथा पुरस्कार रूप में चारुदत्त से प्रावारक पाने की चर्चा वसन्तसेना से करने पर मुख्यकथा निश्चित रूप से अग्रसर होती है क्योंकि इसके पश्चात् वसन्तसेना चेटी के साथ चारुदत्त के दर्शन के लिए अलिन्द पर चढ़ जाती है। अतः कर्णपूरक का प्रस्तुत प्रसंग शास्त्रीय भाषा में बिन्दु कहा जा सकता है। प्रकरण का मुख्य साध्य चारुदत्त एवं वसन्तसेना का पति-पत्नी भाव है, स्थायी सम्मिलन है। यही उसका कार्य समझा जाता है। कथावस्तु के कार्य की पांच अवस्थाएं हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलयोग अथवा फलागम।

कार्यावस्थाओं में आरम्भ की स्थिति उस समय आती है जब कि शकार का कथन सुनकर वसन्तसेना अपने मन में कहती है—

---

१. भाव। भाव। एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता न मां कामयते।

'अम्महे । वामदो तस घेईं ति अ घण्णम्, अवरज्झन्तेण वि दुज्जणेण उअकिरम्, जेण पिअसमागमप्पविअम् ।'[1] मृ० क० (प्र० अंक)

यदि बायमुख वामों ओर उसका घर है तो अपराध करते हुए भी दुष्ट ने उपकार कर दिया। जिससे प्रिय समागम तो प्राप्त हो गया।

इससे वसन्तसेना की प्रिय मिलन की उत्सुकता व्यक्ति होती है। यह उत्सुकता उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब चारुदत्त का उत्तरीय हाथ में लेकर वह कहती है —

'अम्महे, जादीकुसुमवासिदो पावारओ। अणुदासीणं से जोवणं पडिभा-सेदि' । मृ० क० (प्र० अंक)[2]

अहा! चमेली के फूलों की सुगन्धि से सुवासित यह उत्तरीय। इसका यौवन अभी अप्रमुक्त ही प्रतिभासित होता है।

चारुदत्त का औत्सुक्य भी इसी अवसर पर प्रतिभासित होता है। विदूषक के मुख से शकार की धमकी सुनकर वह अपने ही आप कहता है।—

'अज्ञोऽसौ (स्वगतम्) अये कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम् ।'

मृ० क० (प्र० अंक)

राजस्याल मूर्ख है। अहो! देवता के समान कैसी उपासनायोग्य यह युवती है।

चारुदत्त और वसन्तसेना का औत्सुक्य परस्पर व्यक्ति होने से कारण कार्य के आरम्भ की अवस्था का द्योतक है।

यत्न की प्रक्रिया उस समय देखने में आती है जबकि चारुदत्त के यह कहने पर कि यह कोष घर धरोहर रखने योग्य नहीं है वसन्तसेना कहती है :—

'अज्ज अलीअम। पुरुसेसु णासा णिक्खिविअन्ति, ण उण गेहुं ।'[3]

मृ० क० (प्र० अंक)

---

१. आश्चर्यम् । वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यताऽपि दुर्जनेनोपकृतम्, येन प्रियसङ्गमः प्रापितः ।

२. आश्चर्यम् । जातीकुसुमवासितः प्रावारकः । अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते ।

३. आर्य, अलीकम् । पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु ।

कार्य ! यह असत्य है। क्योंकि, योग्य पुरुष के यहाँ रखी जाती है, वरन योग्य घर में। यह कहकर वह चारुदत्त के घर आभूषण छोड़ देती है। यह फलप्राप्ति के लिए निश्चित प्रयत्न का आरम्भ है क्योंकि इन्हीं आभूषणों के बहाने वह भविष्य में चारुदत्त के घर पुनः आ सकेगी। यत्न की स्थिति आगे भी वसन्त-सेना की ओर से निरन्तर चलती रही है, पर छठे अंक में प्रयत्न वसन्तसेना की ओर से नहीं चारुदत्त की ओर से किया गया है और लगभग पूरा कार्य यत्नावस्था का है।

सातवें अंक से प्राप्त्याशा का प्रारम्भ होता है और दसवें अंक तक चारुदत्त के लिए चिन्ता का विषय रहता है। वर्धमानक की अपनी गाड़ी से पैदलकर चारुदत्त वसन्तसेना के लिए चिन्तित होकर कहता है—

(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) सखे मैत्रेय वसन्तसेना दर्शनोत्सुकोऽस्मि मन।
(बाँयी आँख फड़कने का अनुभव करके) सखे मैत्रेय। मैं वसन्तसेना को देखने के लिए उत्सुक हो रहा हूँ। यह प्राप्त्याशा है। इसके आगे अन्तिम अंक में चाण्डालों के यह कहने पर कि मारे जाने से पूर्व वह मनचाही बातें कर ले, चारुदत्त कहता है:—

प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य,
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात्कथञ्चित्।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव॥ मृ० क० १०,१४

राजपुरुषों के वचनों से कदाचित् आज मेरे धर्म में यदि कुछ भी प्रभाव हो तो इन्द्र के भवन में स्थित या कहीं भी वसन्तसेना हो मेरे कलंक को दूर करे।

इस उक्ति में भी चारुदत्त के मन में आत्म-विश्वास की झलक है। फिर वसन्तसेना जब भिक्षु के साथ वध्यस्थल पर पहुँचती है तो आर्त स्वर में पुकारती है—

'अज्जा ! मा दाव मा दाव। अज्जा। एषा अहं मन्दभाइणी, जाए कारणादो ऐसो वावादीअदि'।[1] मृ० क० (द० अंक)

ऐसा न कीजिए न कीजिए। सज्जनो ! यह मैं अभागिनी हूँ जिसके कारण ये मारे जा रहे हैं।

---

१. आर्याः मा तावन्मा तावत्। आर्याः। एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते।

प्राप्त्याशा के प्रारम्भ से यहाँ तक चारुदत्त और वसन्तसेना दोनों, प्रेक्षकों के लिए कुतूहल बने हुए हैं। यही तो इस प्राप्त्याशा का वास्तविक रूप है। इसके पश्चात् नियताप्ति देखिए। वसन्तसेना के यह कहने पर—

अरे! चारुदत्त जीवित है। मैं पुनर्जीवित हो गयी। यहीं प्राप्त्याशा का समस्त विघ्न दूर हो जाता है। शकार भी वसन्तसेना को देखकर यह कहते हुए भाग जाता है—

'हीमादिके, केण गब्भदासी जीवाविदा? उक्कन्ता मे पाणाइ भोदु पलाइश्शम्'।[1] मृ० क० (१० अङ्क)

हाय! यह अधम दासी कैसे जीवित हो गयी? मेरे प्राण निकलना चाहते हैं। इधर नायक नायिका का स्थायी मिलन निश्चित होने पर और उधर शर्विलक के प्रकट होकर यह समाचार सुनाने पर कि आर्यक ने राजा पालक का वध कर दिया है जिसने चारुदत्त के प्राणदण्ड का आदेश दिया था, नियताप्ति की अवस्था और प्रशस्त हो गयी।

दसवें अङ्क की समाप्ति फलागम का महोत्सव है। यहाँ मृच्छकटिक का मनोरथ पूर्ण हो चुका है। वसन्तसेना चारुदत्त की वधू घोषित हो गयी। दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्रों को भी पुरस्कृत किया गया। इस भाँति आधिकारिक कथा का प्रस्तुत फलागम सुन्दर और सुखद रूप में सामने आता है।

अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के संयोग से पाँच सन्धियों का आविर्भाव होता है।

धनञ्जय ने कहा है—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः॥ द० रूपक, १, २२-२३

पाँच प्रकार की अर्थप्रकृतियों का क्रमशः पाँच प्रकार की अवस्थाओं से समन्वय होने पर मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहृति नाम की पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं। इनका विवेचन द्वितीय अध्याय में है।

---

1. आश्चर्यम्। केन गर्भदासी जीवम् ग्राहिता?
   उत्क्रान्ता मे प्राणाः। भवतु पलायिष्ये।

प्रथम अंक में आरम्भ से लेकर चारुदत्त के यह कहने तक कि देवता के समान कैसी उपासनायोग्य यह युवती है और उत्सुक्य व्यक्त होने पर मुखसंधि की समाप्ति समझी जाती है। इसी अंक में जहाँ वसन्तसेना अपना आभूषण चारुदत्त के घर छोड़ने का प्रस्ताव करती है, प्रकरण के आरम्भ से छठे अंक तक अर्थात् चारुदत्त द्वारा जीर्णोद्यान में विहार की योजना तक प्रतिमुखसंधि रहती है। इसी बीच में दूसरे अंक में जुआरियों और कर्णपूरक के प्रसंग से बिन्दु है। सप्तम अंक तथा प्राप्त्याशा की अवस्था से दसवें अंक के मध्यस्थल तक जहाँ चाण्डाल के हाथ से तलवार गिरती है और चमत्कार के साथ वसन्तसेना का साक्षात्कार होता है गर्भसंधि का प्रकरण है। इसी में पताकास्थानिका ने मुख्य पताका के प्रधानपात्र आर्यक के अपहरण का दृश्य सामने लाया है। दसवें अंक में चाण्डालों के इस कथन से कि कन्धे पर केश छितराये यह कौन आ रही है, शकार की भयाकुल स्थिति में चारुदत्त की शरण में आ जाने तक अवमर्श संधि है। इसी बीच संवाहक वाली प्रकरी का भी प्रधान कथा के साथ विस्मय-पूर्ण संयोग हुआ है। शकार के आत्मसमर्पण से लेकर अन्त तक निर्वहण उपसंहृति नाम की संधि समझी जावेगी क्योंकि इस स्थल पर नाटक का मुख्य साध्य फलागम दशा को प्राप्त करता है।

नाट्यवस्तु से पूर्व नाट्यशाला के विघ्नों को दूर करने के लिए कुशीलवों द्वारा सम्पन्न उपचार पूर्वरंग कहा जाता है। नान्दी उस उपचार का अन्तिम महत्वपूर्ण अंग है, जिसे विघ्नशांति के हेतु आवश्यक समझा गया है। प्रस्तुत नान्दी के नीलकण्ठ शंकर और गौरी, प्रकरण के नायक नायिका के विशेषक समझे गए हैं, उनका मिलन नान्दी के दूसरे श्लोक[1] से संकेतित किया गया है। नायक चारुदत्त और नायिका वसन्तसेना के सम्बन्ध में अमेरिकी आलोचक हेनरी वेल्स का मत है कि पुरुष बादल और नारी बिजली है। नारी वसन्तसेना की बिजली को पुरुष चारुदत्त बादल ने उभार के लिया है। वसन्तसेना की शक्ति की भाप से उसके भीतर की आग जल उठी है।[2]

नान्दी के बाद आमुख अथवा प्रस्तावना आती है। इसमें नटी का सूत्रधार के साथ सम्भाषण है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना सार्थक है। इसमें लेखक का

---

१. पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥

२. Henry W. Wells The Classical Drama of India, p138-40.

परिचय देने के साथ ही मुख्य कथानक तथा उससे सम्बन्धित अन्य कथाओं की सुन्दर विज्ञप्ति है। प्रस्तावना के पाँच प्रकार उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक तथा अवगलित में से मृच्छकटिक में प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है। इसमें एक ही प्रयोग में दूसरा प्रयोग भी प्रारम्भ हो जाता है और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश होता है। मृच्छकटिक में सूत्रधार के निम्न कथन से—

'एष चारुदत्तस्य मित्र मैत्रेय इत एवागच्छति' मैत्रेय रङ्गमञ्च पर उपस्थित किया गया है। अतः यहाँ प्रयोगातिशय जाति की प्रस्तावना मानना समीचीन है।

अन्य रूपकत्वों की चर्चा में यह कहना आवश्यक है, कि मृच्छकटिक का शास्त्रीय विधान के अनुरूप अंगी (प्रधान) रस शृंगार है, जिसके सहायक अप्रधान में दसवें अंक में करुण, शकार की एवं विदूषक की उक्तियों में हास्य तथा वसन्तसेना मोटन वाले प्रसंग में बीभत्स है। आचार्यों के इस नियम का मृच्छकटिक में पालन हुआ है फिर इसमें प्रवेशक अथवा विष्कम्भक का उपयोग नहीं है। यही इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। अन्य नाटकों की भाँति भरत-वाक्य के साथ इसकी भी समाप्ति है।

शास्त्रीय विधान मृच्छकटिक में जहाँ सुन्दर बन पड़ा है वहाँ कुछ बातों की उपेक्षा भी दिखायी देती है। कुलकन्या तथा गणिका का एक साथ रङ्गमञ्च पर मिलन निषिद्ध है—

अधिकमेपि ब्राह्मण-नृपेहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
गृहवार्ता यत्र भवेत् न तत्र वेश्यांगना कार्या ॥
यदि वेशयुवतियुक्तं न कुलस्त्रीसंगमो भवेत्तत्र ।
अथ कुलजनप्रयुक्तं न वेशयुवतिर्भवेत्तत्र ॥

ना० शास्त्र २०,५५-५६

धूता और वसन्तसेना न केवल रङ्गमञ्च पर साथ आती हैं वरन् दुःख-प्रसंग के पश्चात् उन्होंने आलिंगन भी किया है। इस अंश को प्रस्तावना के श्लोकों की भाँति प्रक्षिप्त भी कहा जाता है। अतः मृच्छकटिककार इसके लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। वैसे दोनों का परस्पर मिलन एक प्रकार से सौहार्दभाव का प्रतीक है और प्रकरण की विशेषता का द्योतक है।

रूपक का नाम सामान्यतः नायक नायिका पर होता है पर मृच्छकटिक का नाम एक ऐसे केन्द्र बिन्दु पर आधारित है जहाँ बालक के बालस्वभाव का मनोवैज्ञानिक चित्रण है और साथ ही वसन्तसेना की उदारता का परिचायक भी

जिसने चोरी के आभूषण उसे दिए और जिन आभूषणों द्वारा चारुदत्त न्यायालय में अभियुक्त सिद्ध हुआ। अतः इस अभिधान की सार्थकता प्रत्यक्ष है।

मृच्छकटिक के अनुशीलन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें भारतीय मान-मर्यादा का अधिकांश में अनुपालन है। यहाँ एक तो राज्यविप्लव तथा नायक का वध प्रत्यक्ष नहीं दिखाया गया। दूसरे अनेक विषम परिस्थितियों में नायक-नायिका का अन्तिम सुखद मिलन चित्रित किया गया है :

नाटकीय अन्वितियाँ

अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट संकलनत्रय के सिद्धान्त पर आधारित पश्चिमीय साहित्यिक विद्वानों ने नाटक की रचनाओं में तीन प्रकार की अन्वितियों को प्रस्तुत किया है जिन्हें संकलनत्रय कहा जाता है। इस भाँति स्थान की अन्विति, समय की अन्विति और कार्य की अन्विति नाट्यरचना में उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि भारतीय नाट्य विधान में अन्वितियों की चर्चा नहीं है फिर भी इस विचार से देखा जाये तो मृच्छकटिक में स्थान की अन्विति का पालन समुचित है। मृच्छकटिक के समस्त कार्य व्यापारों का स्थान उज्जयिनी है। पात्र सन्निहित स्थानों से आते हैं। न्यायालय वाले दृश्य में वीरक शोघ्र जीर्णोद्यान में पहुँच जाता है और वहाँ से शव के विषय में अपेक्षित सूचना लेकर लौट आता है। घोड़े की पीठ पर वीरक का उद्यान में भेजा जाना भी प्रकरण की दूरदर्शिता है।

समय की अन्विति का जहाँ तक सम्बन्ध है भारतीय विधान के अनुसार तो इसका पालन हुआ है पर नाट्यशास्त्र के पाश्चात्य पण्डितों के अनुसार द्वितीय तथा तृतीय अंक में समय तारतम्य के व्यवधान हो जाने के कारण नहीं हो पाया है। मृच्छकटिक में यह बात खटकती भी नहीं क्योंकि वस्तुसंघटन इतना समीचीन है कि इसका बोध नहीं होता। प्रसिद्ध नाटककारों में इसके अपवाद भी मिलते हैं जैसे शेक्सपीयर के नाटकों में ही इसका पालन नहीं हुआ है। अतः प्रकरण द्वारा समय अन्विति की रक्षा मान्य है।

कार्य अथवा व्यापार की अन्विति का पालन इसमें पूर्णतया हुआ है। चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रणय परिपाक का विषम परिस्थितियों में भी निर्वाह सराहनीय है। एक ओर तो पुरुषोचित संयम एवं धैर्य के प्रतीक चारुदत्त का चरित्र भारतीय गौरव के अनुकूल है दूसरी ओर वेश्या होते हुए भी वसन्तसेना निर्धन चारुदत्त से प्रेम के लिए स्त्रियोचित वैशिष्ट्य में रत है। दोनों का प्रेम-

व्यापार शकार की करतूतों के कारण अनुत्साहित हुआ पर चारुदत्त की पत्नी धूता ने तो सहयोगपूर्ण परिचय दिया।

एक साथ ही इसमें कई जटिल समस्याएँ आ आकर कठिनाइयाँ भी पैदा करती हैं। चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रणय के साथ नीति का प्रचार, दुराचरण, दुर्जन-स्वभाव, भाग्य का उलट-फेर आदि कभी-कभी व्यापारों की पूर्ति में शिथिलता से लगते हैं पर अन्त में सभी अपने अपने क्रम से समन्वित हो जाते हैं और मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं। चारुदत्त के व्यक्तित्व का विकास और अंतिम सफलता जिस रूप से प्रकरण में प्रदर्शित की गयी है उसको देखते हुए यह कहना निश्चित रूप से उचित है कि इसमें अवस्थितियों का पालन समुचित रूप से हुआ है।

जनजीवन की झाँकी

संस्कृत के अन्य नाटकों में तात्कालिक जीवन का तथा सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रण का इतना विशद रूप देखने को नहीं मिलता जितना कि मृच्छ-कटिक में उपलब्ध होता है। प्रस्तुत प्रकरण में लोक जीवन, सभ्यता, संस्कृति तथा शासकीय व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

धार्मिक अवस्था का जहाँ तक सम्बन्ध है इसमें हिन्दू धर्म का प्राचीन रूप देखने को मिलता है। चारुदत्त ने वैदिक मंत्रों के उच्चारण एवं यज्ञादि से अपने परिवार के पवित्र होने की चर्चा की है—

> मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे
> सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
> मम मरणदशायां वर्तमानस्य पापै-
> स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥ मृ० क० १०.१२

चन्दनक ने आर्यक की रक्षा के लिए देवताओं की आराधना की है।

> 'भअवं सुज्ज देउ हरो विण्हू बम्हा रवी अ चन्दो, अ
> हत्तूण सत्तुवक्खं सुम्भणिसुम्भे जधा देवी'[1] मृ० क० ६, २९

शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्र शत्रुपक्ष को मारकर तुम्हें उसी भाँति अभय दान दें जिस भाँति शुम्भ और निशुम्भ को मारकर दुर्गा देवी ने दिया।

---

१. भवतु तव रक्षां हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च ।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी ॥

षडानन कार्तिकेय सेंध लगाने वाले चोरों के देवता हैं तथा कनक शक्ति का सेवन करने वाले बताये गये हैं। यहाँ देवमूर्तियों की पूजा का भी उल्लेख है। पुजारियों वाले दृश्य में एक मन्दिर की चर्चा भी है। मूर्तियाँ सम्भवतः काठ अथवा पत्थर की बनायी जाती थी। नगर में कामदेव का मंदिर था जहाँ वसन्त-सेना, शकार तथा चारुदत्त की पहली भेंट हुई थी। घर की देहली अथवा नगर के चौराहे पर मातृदेवियों तथा अन्य देवी-देवताओं को बलि तथा उपहार चढ़ाने की प्रथा थी।

ग्राम तथा ब्राह्मण को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। मनोरथों की सिद्धि के लिए ब्राह्मण की सबसे पहले पूजा आवश्यक मानी जाती थी। अधि-करणिक ने मनु का सहारा लेते हुए कहा है कि हत्यारा भी अपराधी ब्राह्मण मारा नहीं जा सकता वरन् उसका देश से निष्कासन ही किया जा सकता है। वेदों के अध्ययन का अधिकार ब्राह्मणों को ही था। शूद्रादि के लिए वे निषिद्ध थे। ब्राह्मणों के लिए सन्ध्योपासन का विशेष महत्व था। पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त में उनका सामान्य विश्वास था। चारुदत्त जैसा धर्मात्मा ही नहीं वरन् विट तथा स्थावरक जैसे भी इस जन्म में बुरा कार्य करने से डरते थे। परलोक में स्थित पितरों के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित किया जाता था और उनकी तुष्टि के लिए पुत्र-जन्म का विशेष महत्व था। भाग्य में लोगों की आस्था थी। इसके अनियन्त्रित खेल का निरूपण सम्पूर्ण नाटक में प्रतिध्वनित है। यह विश्वास भी सर्वमान्य था कि उत्तम कार्यों का परिणाम अन्त में अच्छा ही होता है और पाप का दण्ड भी भोगना पड़ता है। बौद्धधर्म भी उस समय उन्नत अवस्था में था। जाति, आयु अथवा सामाजिक स्तर का ध्यान न रखते हुए भी व्यक्ति भिक्षु अथवा श्रमण बन सकता था। तभी तो संवाहक श्रमण बन गया। स्त्रियाँ भी भिक्षुणी बन जाती थी। ये भिक्षु जीवन के सभी लौकिक सम्बन्धों तथा आनन्दों का परित्याग कर देते थे एव मन्त्रों का पाठ करते हुए स्वर्ग प्राप्ति की कामना में लीन रहते थे। एक भिक्षु के उत्तम विचारों की परिचायिका निम्न पंक्तियाँ हैं।

'संजमध णिअपोट्ट णिच्च जग्गेध झाणपडहेण।
विसमा इन्दिअचोरा हरन्ति चिरसंचिदं धम्मम्॥
पञ्च जण जेण मारिदा इत्थिअ मारिअ गाम रक्खिदे।
अबले अ चण्डाल मारिदे अवश णि से णल सग्ग गाहदि॥

सिर मुण्डिदे तुण्ड मुण्डिदे चित्त न मुण्डिदे कीस मुण्डिदे ।
जाह उण अ चित्त मुण्डिदे साहु सुट्ठु सिर ताह मुण्डिदे ॥"[1]

मृ० क० ८०,१-२

नगर के समीप मठ अथवा विहार होते थे। इन विहारों पर राजा का नियन्त्रण रहता था और उन्हें सम्भवत राज्य से प्रोत्साहन एव आर्थिक सहायता मिलती थी। सवाहक पमप आर्यक के राज्यारोहण पर देश के सम्पूर्ण विहारों का कुलपति बना दिया गया था। इतना सब कुछ होते हुए भी धर्मानुयायी परम्परागत विचार रूप से बौद्ध श्रमणों का दर्शन अपशकुन समझता था। सम्भवत उनकी दृष्टि में वे आदरणीय नहीं थे।

जनता में अनेक धारणाएँ प्रचलित थी। सिद्धों की भविष्यवाणी पर राजा पालक ने आर्यक को बन्दीगृह मे डाल दिया था। आँख का फड़कना, कौवे का बोलना, साँप का देखना इत्यादि अपशकुन समझे जाते थे।[2]

इन्द्रध्वज का पतन, गाय का प्रसव, नक्षत्रों का पतन तथा सज्जन मनुष्य की मृत्यु का दर्शन शास्त्रकार के द्वारा निषिद्ध बतलाया गया है।[3]

ज्योतिषशास्त्र में जनता का विश्वास था। शर्विलक ने कहा है कि प्रात काल का सूर्यग्रहण किसी महान् पुरुष की विपत्ति का प्रतीक है।[4] विभिन्न व्रत भी प्रचलित थे। सूत्रधार की पत्नी ने अभिरूपपति नाम का व्रत किया था।

सामाजिक स्थिति

जातियों म ब्राह्मणों की विशेष मान्यता थी। पर्व के अवसरों पर उन्हें भोजन एव दक्षिणा से सम्मानित किया जाता था। समृद्ध ब्राह्मण दक्षिणा स्वीकार नहीं करते थ। धर्मशास्त्रों की मान्यता से वे जनता में सम्मान के पात्र

---

१ उदरच्छद निर्मोदर नित्य जागृत ध्यानपटहेन ।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम् ॥
पञ्चजना येन मारिता ग्राम मारयित्वा स्थापी रक्षित ।
अबल च चाण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नर स्वर्गं याति ॥
शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम् ।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

२ तब्य मे • दैवत । मृ० क० ९,१९

३ इन्द्र" – दृष्टव्या । मृ० क० १०,७

४ सूर्योदये उपरागो महापुरुष निनिपातमेव कथयामि । मृ० क० (प्र० अङ्क)

थे। धार्मिक दृष्टि के विचार से ब्राह्मण भिन्न-भिन्न धन्धों को भी अपनाने में उत्साहित रहते थे। चारुदत्त एवं उसके पूर्वज सार्थवाह (व्यापारी) थे। शर्विलक चतुर्वेदों का ज्ञाता और दक्षिणा न लेने वाले ब्राह्मणों का पुत्र था पर चोरी करने में भी प्रवीण था। इससे निश्चित है कि विचार एवं कार्य के अनुसार वर्णव्यवस्था उस समय शिथिल हो चुकी थी। फिर भी चारुदत्त और शर्विलक दोनों ने वाक्षिन विवाह कर लिया। राजकीय उत्तरदायी पदों पर जाति के विचार से नियुक्तियाँ नहीं होती थी। वीरक और चन्दनक, नापित तथा चर्मकार होते हुए सम्माननीय पदों पर आसीन थे। शासकीय दृष्टि में अस्पृश्यता की भावना नहीं थी। वैश्य विदेशों से व्यापार करते थे। जहाजों से माल लाया जाता था। स्वर्णकार और कायस्थ जनसामान्य की दृष्टि में अच्छे नहीं समझे जाते थे। सामाजिक चाण्डाल उस समय शूद्रवर्ण के प्रतिनिधि माने जाते थे।

तत्कालीन नारियाँ तीन रूपों में थी। एक प्रकाशनारी अथवा गणिका और वेश्या, दूसरी अप्रकाशनारी अथवा वधू और तीसरी भुजिष्या। गणिका एवं वेश्याएँ समृद्ध थी। वे भव्य प्रासादों में रहती थी। अपने प्रेमियों से इन्हें पर्याप्त धन प्राप्त होता था। गणिकाएँ नृत्य, संगीत इत्यादि कलाओं से अपने प्रेमियों का मनोरंजन करने वाली कही जाती थी। वसन्तसेना इसी वर्ग में थी। वे दूसरी वेश्याएँ थी जो अपने प्रेमियों की उपभोग्या थी। वेश्यालय सभी के लिए खुले हुए थे। इस वृत्ति से घृणा करनेवाली युवतियाँ अपनी सुशीलता और सद्व्यवहार से कुलवधू भी हो जाती थी। गणिका वसन्तसेना का सम्बन्ध चारुदत्त से इसी रूप में हुआ था। वधू एवं कुलवधू का समाज में सम्मान था। वे पतिव्रता होती थी और पति की मृत्यु होने पर सती होना पसन्द करती थी। तीसरी निम्नश्रेणी की नारियाँ भुजिष्या थी जो दासियाँ होती थी और अपने स्वामी अथवा स्वामिनी की सेवा करती थी पर ऐसा जीवन उन्हें रुचिकर नहीं था। मदनिका ऐसी ही थी जिसे शर्विलक ने अपनी वधू बना लिया। कहीं कहीं वैवाहिक सम्बन्धों में जाति का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। विवाह संस्कार धार्मिक रीति से होते थे। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। प्रेम-विवाह भी होते थे। चारुदत्त और शर्विलक के उदाहरण इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। गणिकाओं से उत्पन्न सन्तति अस्पृश्य कही जाती थी। मृत्यु से सम्बन्धित रीतियों का संकेत पुत्र के चिता प्रवेश की योजना से मिलता है। संस्कार में डिण्डिम का प्रयोग होता था। जिसका उल्लेख इसी अवसर पर है।

द्यूतक्रीडा समाज में प्रचलित थी। उस समय यह एक मनोरंजन का साधन थी और त्याज्य नहीं मानी जाती थी। योजनाबद्ध यह खेल चलता था और प्रत्येक जुआरी पर पूर्ण नियन्त्रण रहता था। समाज के बड़े-छोटे सभी लोग जुआ खेलते थे। इसका अध्यक्ष सभिक कहलाता था और उसी के निरीक्षण में यह होता था। उसके आदेश की अवहेलना पर जुआरी कठोर दण्ड के भागी होते थे। यह सत्ता, पासर, गर्दित तथा कर नामक जुए के दावों से खेला जाता था। निम्न उक्ति से ज्ञात होता है कि जुए की कुछ रीतियाँ भी प्रचलित थी जैसे गर्दभी और शक्ति। गर्दभी में जुआरी गधे के समान कोड़ी से मारा जाता था और शक्ति में वह मन्त्र अथवा किसी विधि से छोड़े गये बाण के समान मारा जाता था।

> णवबन्धणमुक्काए विअ
> गद्दहीए हा ताडिदो म्हि गद्दहीए।
> अंगराअमुक्काए विअ सत्तीए
> घडुक्को विअ घादिदो म्हि सत्तीए॥[1] मृ० क० २.१

द्यूतधर्म की भाँति चौर्यकर्म भी अत्यन्त विकसित था। इसने एक व्यवस्थित वैज्ञानिक रूप ग्रहण कर लिया था। कार्तिकेय, कनकशक्ति तथा भास्करनन्दी चोरों के देवता एवं आराध्य थे। सेंध लगाने की भी विशेष विधियाँ थीं। शर्विलक द्वारा सन्धिच्छेद उसकी कुशलता का द्योतक है। चोरों की भी अपनी एक आचरणसंहिता थी। जिस घर में नारियाँ सोती थीं उसमें सेंध नहीं लगाई जाती थी। अबला एवं दासी की गोद में पड़े बालक का अपहरण नहीं किया जाता था। यज्ञ के लिए आयोजित सामग्री की चोरी नहीं की जाती थी। शर्विलक ने मदनिका का विश्वास दिलाया है कि चोरी करने में उसकी कर्तव्य-अकर्तव्य बुद्धि विवेकपूर्ण रहती है।

व्यापार भी उस समय उन्नत दशा में था। दुकानें सामानों से सजी रहती थीं। विदेश वस्तुओं का आयात निर्यात होता रहता था। वणिक् व्यापार हेतु विदेशों में जाते थे। नवयुवक भी विदेश भ्रमण के लिए, धन कमाने के लिए एवं प्रशासनीय सेवा में कोई पद प्राप्त करने के लिए अपना घर छोड़ कर बाहर चले जाते थे। भारत में उज्जयिनी की बड़ी ख्याति थी। एशिया के विभिन्न

---

१. नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या।
अङ्गराजमुक्तयेव शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या॥

भागों से जा-जाकर जातियाँ यहाँ जीविकोपार्जन करती थी जिसका प्रभाव यह होता था कि कभी-कभी एक व्यक्ति अनेक भाषाओं का जानकार हो जाता था। चन्दनक यद्यपि दाक्षिणात्य था फिर भी खस, खत्ती, कर्णाट, बर्बर इत्यादि अनेक जातियों की भाषाएँ बोल सकता था जैसा कि उसने वीरक से स्वयं कहा है।

अरे को मन्तअन्तो तुह? अम्हे दक्खिणत्ता अव्वत्तभासिणो। खस-खत्ति-खड-खड्डोविल-कण्णाट-कण्णप्पावरण-दविड-चोल-चीण-बब्बर-खेर-खान-मुख-मधुघाद-पहुदीणं मिलिच्छजादीणं अणेअदेसभासाभिण्णा जहेट्ठं मन्तआम-दिट्ठो दिट्ठो वा, आअदो आअदो वा।[1] मृ० क० (ष० अङ्क)

दिन की भाँति रात को भी उज्जयिनी में चहल-पहल रहती थी। वहाँ बड़ी-बड़ी दुकानें, बड़े-बड़े पार्क तथा सार्वजनिक स्थान थे। सड़कें चौड़ी तथा पतली थी। उन पर आने जाने के लिए बैलगाड़ियों की भीड़ लगी रहती थी। सम्भवतः रात को रोशनी के लिए प्रदीपिकाएँ काम में लायी जाती थी। कहीं कहीं मार्गों पर प्रकाश का प्रबन्ध नहीं था अतः चोरों का भय रहता था।[2]

शिष्टसम्पन्न व्यक्ति रात में नृत्य संगीत आदि का अभ्यास करते थे। नाटकों का अभिनय होता था। धनी मानी व्यक्ति पक्षियों को पालने में अभिरुचि रखते थे।

आर्थिक दशा

भारत कृषिप्रधान देश है। इसी पर भारत की समृद्धि निर्भर है। प्रतीत है उस समय कृषकों की दशा अच्छी न थी। एक ओर तो ऊसर भूमि में बीजों के व्यर्थ जाने से और दूसरी ओर समय पर वृष्टि न होने से कहीं-कहीं अन्न के अभाव में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। चारुदत्त ने पुष्पकरण्डक उद्यान में उगने वाले वृक्षों को व्यापारी तथा उनमें शोभित फूलों को विक्रेय से उपमित

---

१. अरे। कः मन्त्रयसे? वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः। खस-खत्ति-खड-खड्डोविल-कर्णाट-कर्णप्रावरण-द्रविड-चोल-चीन-बर्बर-खेर-खान-मुख-मधुघात-प्रभृतीनां म्लेच्छजातीनाम् अनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्टं मन्त्रयाम — दृष्टो दृष्टो वा, आर्य आर्यो वा।

२. राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः सञ्चरन्ति च।
वञ्चना परिहर्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी॥ मृ० क० १.५८

किया है जिससे वाणिज्य की समृद्धि का ज्ञान होता है।[1]

उज्जयिनी का एक मुहल्ला श्रेष्ठिचत्वर था जहाँ चारुदत्त जैसे सम्भ्रान्त व्यक्ति निवास करते थे। उनका अपना एक समुदाय था और उन्हीं में से एक व्यक्ति प्रतिनिधि रूप में न्यायाधीश की सहायता के लिए न्यायमण्डप में बैठता था और न्यायकार्य में भाग लेता था। सेवक भी दो प्रकार के थे। एक समृद्धि परिचारक जो अपनी सेवाओं का वेतन पाते थे। दूसरे गर्भदास या क्रमदासी जो आजन्म अपने स्वामी की सेवा में उस समय तक तत्पर रहते थे जब तक कि उन्हें निःशुल्क अथवा शुल्क लेकर मुक्त न कर दिया जाए। सरकारी नौकरों तथा अधिकारियों में अधिकरणिक, लिपिक, सेनापति, पुलिस इत्यादि के साथ नाई, चमार, राजगीर, बढ़ई, वास्तुकार इत्यादि अपनी अपनी सेवावृत्ति से धनोपार्जन करते थे। शिल्पिवर्ग की दशा भी अच्छी थी। आभूषणों की विश्वसनीय गढ़न में वे दक्ष थे।

राजनीतिक अवस्था

मृच्छकटिक काल में देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। ये राज्य सामान्यतः आत्मनिर्भर होते थे। उज्जयिनी एक ऐसा ही राज्य था जिसके अन्तर्गत कुशावती को आर्यक ने राज्यारोहण के पश्चात् चारुदत्त को प्रदान कर दी थी। राज्यों को हड़पने में राजाओं में परस्पर स्पर्धा थी। दुर्बल, मूर्ख एवं अयोग्य राजाओं के विरुद्ध क्रान्ति एवं विप्लव की योजनाएँ सफल होना सरल था।

राज्यारोहण के समय राज्याभिषेक की प्रथा प्रचलित थी। आर्यक का शीघ्र ही विधिवत् अभिषेक किया गया।[2] शासन राजतन्त्र था। राजा पूर्णरूप से अपने राज्य का स्वामी था। समस्त विभागाधिकारियों के निर्णय की पुष्टि राजा द्वारा होती थी। अधिकरणिक ने इसी से चारुदत्त के अभियोग में निर्णय सुना देने के बाद में कहा था—

---

१ वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति॥ मृ० क० ७,१

२ शर्विलक—हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भोस्तद्राज्ये कुलमभिषिच्य चार्यकं तम्।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां मोक्षेऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम्॥
मृ० क० १०,४७

'निर्णये वयं प्रमाणम् शेषे तु राजा ।'[1] अपनी अनियंत्रित शक्ति का राजा दुरुपयोग भी कर सकते थे ।

नगर की सुरक्षा के लिए सेना थी । गुप्तचरों का भी एक गोपनीय आस्थाएँ देता था । राजा इन्हीं के माध्यम से सुरक्षा एवं व्यवस्था करता था पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो गुप्तचर विभाग उस समय सुदृढ़ नहीं था या राजा मनमानी करते थे, अन्यथा सुव्यवस्था हेतु निर्दोष चारुदत्त के वध में मृत्युदंड का निर्णय क्यों किया जाता ? नगर के चारों ओर प्राकार और चार बड़े बड़े दरवाजे प्रतोलिद्वार होते थे । गुल्मस्थानों पर पहरेदार तैनात रहते थे । विदेशपथाधिकारी, प्रधानदण्डाधिकारी, कृष्णोदम्भपालक, नगररक्षाधिकारी, बलपति तथा राष्ट्रीय (पुलिस अधीक्षक) थे । राष्ट्रीय प्रायः राजा का साला होता था ।

नगर परिषदों जैसी नगर व्यवस्थासमिति द्वारा नागरिकों की समुचित व्यवस्था का प्रयास किया जाता था । सड़कें, गलियाँ, राजमार्ग एवं चतुष्पथों (चौराहों) की स्वच्छता की देखभाल विधिवत् होती थी । बरसाती मौसम में सड़कें कच्ची होने के कारण कीचड़ से भर जाती थीं । जनता से कर वसूल करने के लिए विशेष अधिकारी होते थे । इसका मजबूत चित्रण मृच्छकटिक के सप्तम अध्याय के आरम्भ में है ।

उस समय के न्यायालय "अधिकरण मण्डप" कहे जाते थे । इससे सम्बन्धित एक नौकर था जो वहाँ की सफाई आदि के साथ अपराधियों को आवाज देकर न्यायाधीश के समक्ष बुलाता था । मृच्छकटिक में यह कार्य शोधनक ने किया है । न्यायालय में जाने से पूर्व लोग दूर्वास्तरण (घास के मैदानों) में बैठते थे । न्यायालय के अधिकारियों की सामूहिक संज्ञा "अधिकरण भोजक" कहलाती थी । न्यायाधीश अधिकरणिक कहलाते थे । कायस्थ लेखन का कार्य करते थे और श्रेष्ठिन के साथ अधिकरणिक की अपराध निर्णय में सहायता करते थे । ये लोग न्यायमुख अधिकारी (Assessors) कहलाते थे । अधिकरणिक के विशेष गुण होते थे । वे निष्कपट सभी को समान समझने वाले और गंभीर प्रकृति के व्यक्ति होते थे एवं अभियोग की वास्तविकता को समझकर निर्णय देते थे । जहाँ एक ओर उन्हें यह सब देखना था वहाँ दूसरी ओर राजा का प्रिय होना भी उनके लिए आवश्यक था । न्यायकार्य का व्यवहार तथा कानूनी तथ्यों को

---

१. दर्शक — चारुदत्तम् पृ० क० ७,८

व्यवहारपट कहा जाता था। लिखित रूप से अभियोग को न्यायाधीश के पास सीधे प्रस्तुत किया जाता समव था। वादी को कार्यार्थी अथवा व्यवहारार्थी तथा प्रतिवादी को प्रत्यर्थी कहा जाता था। वादी, प्रतिवादी एवं गवाहों के वक्तव्यों की सत्यता पर जोर दिया जाता था।[1] न्यायाधीशों के आदेश से अपराध के अनुसार दण्ड दिये जाते थे। शारीरिक यातना से लेकर मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। विशेष परिस्थितियों में अपराधी मुक्त भी किये जा सकते थे। मृत्युदण्ड प्राप्त अधिकारी के शरीर पर चाण्डालो द्वारा आरा चलाया जाता था। वैकल्पिक रूप में विष खिलाना, पानी में डुबो देना, यन्त्र पर चढ़ाना और अग्नि में झोंक देना प्रचलित था।[2]

वध्य पुरुष को मृत्युदण्ड से पूर्व एक विशेष ढग से सजाया जाता था। चारुदत्त की भी यही दशा की गई। गले में करवीर (कनेर पुष्प) पुष्प की माला पहनाकर सारे शरीर में लाल चदन लगाया गया और तिल, तण्डुल, कुंकुम आदि के लेप से विचित्र आकृति बना दी गयी। इससे भी अधिक अपमानित वध्य व्यक्ति उस समय होता था जब कि सड़को पर उसे घुमाया जाता था और अपने अपराध की घोषणा करने के लिए बाध्य किया जाता था। नगर में चौक घोषणा स्थल थे जहाँ उनके दुष्कृत्यो एवं मृत्युदण्ड की घोषणा की जाती थी। इस भाँति एकमात्र कष्ट देना ही कारण था जिससे जनता में आतंक बना रहे।

संस्कृत नाट्यग्रन्थो मे मृच्छकटिक का स्थान

संस्कृत मे अनेक रूपक हैं। मृच्छकटिक की गणना उत्तम रूपक के अन्तर्गत प्रकरण में की जाती है। इसका एक मात्र कारण इसकी कथावस्तु है। रूपक का नायक अधिक आशावादी है। ससार में कदाचित् कोई ऐसा व्यक्ति हो जो चोर को अपने घर से खाली हाथ चले जाने के कारण दु खी हो फिर जब उसे यह मालूम हो जाए कि वह कुछ लेकर गया है तब प्रसन्नता मनाये। नायक के रूप में वसन्तसेना की प्राप्ति के लिए चारुदत्त में कुछ तीव्र रूप से आतुरता प्रकट नही होती। वसन्तसेना एक सम्पन्न गणिका है फिर भी वह

---

१ अभिज्ञानवित्—

व्यवहार मतिम्नेऽप्य त्यज सत्यं बुद्धि स्थिताम्।
बुद्धि सत्यवतं धैर्यं सम्यग न भूपते॥ मृ० क० ९,१८

२. विषमसलिल तुलेत 1 मृ० क० ९,४१

उस जीवन को अच्छा नहीं समझती। अतः उसका अनुराग आर्य चारुदत्त के प्रति एक स्वाभाविक प्रेम का उदाहरण है।

संस्कृत के अन्य प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस आदि यद्यपि अपनी विशेषताओं से भरपूर हैं पर मृच्छकटिक किन्हीं बातों में उनसे भी बढ़ गया है। इसकी कथावस्तु फड़कते हुए घटनाचक्रों से ओत-प्रोत है। यही कारण है कि यह नाटक अपने भारत देश में ही नहीं वरन् पश्चिमीय देशों में भी बहुत लोकप्रिय हुआ है।

इसमें अन्य नाटकों की भाँति सब तत्त्व तो हैं ही साथ ही यथार्थवादिता को लेते हुए सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रण इसकी एक अपनी विशेषता है। यदि अभिज्ञानशाकुन्तल एवं उत्तररामचरित में केवल प्रणयकथा है, मुद्राराक्षस तथा रत्नावली में कोरी राजनीति है तो मृच्छकटिक में यथार्थवादिता के आधार पर प्रेम कथा, राजनीति और सामाजिक चित्रण सभी कुछ है। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज का उभरता हुआ चित्र प्रस्तुत किया गया है। वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का उचित सम्मान था। शूद्र सेवाकार्य में तत्पर थे। चाण्डाल की गणना पञ्चम वर्ण में थी। कुछ बौद्ध ब्राह्मण राज्याश्रय में रहते थे धनवान् थे। चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए भी सार्थवाह (व्यापारी) बन गया था।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मनु की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण मृत्युदण्ड से मुक्त था उसे सबसे अधिक चमत्कार दण्ड समस्त वैभव के साथ राष्ट्र से बहिष्कृत करना था। जाति व्यवस्था का उस समय कड़ाई से पालन नहीं होता था। चमार तथा नाई राज्य में उच्च पदासीन थे। गोपालक आर्यक के राजा पद पर सम्मानित होने का कारण भी यही था। अस्पृश्यता नहीं थी। कहीं कुओं पर ब्राह्मणों के साथ निम्न वर्ण के लोग भी पानी भर सकते थे। स्त्रियों का समाज में पर्याप्त सम्मान था। यह कुलवधू और गणिका के रूप में होती थी। कुलवधू का पद सम्माननीय था। गणिकायें भी सम्पन्न होती थी। जुए का प्रचार खुले रूप में था। चोरियाँ भी वैज्ञानिक ढंग से की जाती थीं। उनके भी कुछ नियम थे जिनके अनुसार स्त्री को मारना, सोते हुए एवं भयभीत व्यक्तियों पर चोट करना ब्राह्मण या पूजा का धन चुराना एवं बच्चों का अपहरण निषिद्ध था। चोरी दिन में नहीं वरन् अर्धरात्रि के समय की जाती थी। दास प्रथा प्रचलित थी पर उन्हें पैसा देकर छुड़ाया जा सकता था। बौद्ध धर्म व्यापक रूप से प्रचलित था पर बौद्ध भिक्षुक का दर्शन अपशकुन

माना जाता था। वैदिक धर्म के अनुयायी भी कम न थे। राजतन्त्र के आधार पर शासन होता था। राजा सर्वशक्तिमान् शासक एवं प्रधान न्यायाधीश होता था। उसके सम्बन्धी शकार जैसे व्यक्ति अनुचित लाभ उठाने के लिए तत्पर रहते थे। राज्य कर्मचारियों के परस्पर विरोध से परिस्थितियाँ कभी इतनी विषम हो जाती थी कि षड्यन्त्र द्वारा राजा को मारकर विद्रोही नेता राजपद सँभाल लेता था।

संस्कृत में कदाचित् कोई ऐसा नाटक नहीं जिसमें समाज के उच्च और निम्न वर्ग को एक साथ संयुक्त किया गया हो और समाजनीति, धर्मनीति, एवं राजनीति को एक स्थान पर प्रस्तुत किया गया हो फिर यहाँ नायक चारुदत्त इतना स्वाभिमानी हो कि वह कहने लगे—

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥

मृ० क० १, ११

यहाँ दारिद्र्य की अपेक्षा मृत्यु को अच्छा कहकर अप्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न जीवन को अवश्य अच्छा बताया है पर चारुदत्त के विचार से सत्य-प्रेम और त्यागपूर्ण जीवन श्रेष्ठ है।

मृच्छकटिक का अनुपम वैशिष्ट्य एवं दृष्टिकोण

संस्कृत के प्रचुर साहित्य में नाटकों का भी अपना एक विशेष स्थान है। संस्कृत नाट्यसाहित्य में वैसे तो एक से एक सुन्दर रूपक हैं पर मृच्छकटिक निराली कृति है। यह अपनी शैली का अकेला प्रकरण है। इसमें एक साथ प्रणय कथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुलयाम तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखायी देता है। यह एक ऐसी अकेली रचना है जो अपने समय की मध्यम वर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करती है। कुछ विद्वानों के विचार से मृच्छकटिक ही संस्कृत का सर्वप्रथम प्रकरण है और इसकी रचना कालिदास से पूर्व की है पर यह मत प्रामाणिक न होने से सर्वसम्मत नहीं है। मृच्छकटिक के नाटकीय सविधान, शैली, भाषा और विशेषतः उसकी प्राकृत के आधार पर यह निश्चय हो चुका है कि यह कालिदास के बाद की रचना है।

कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस और शूद्रक के मृच्छकटिक के अतिरिक्त संस्कृत के सभी नाटकों में कथानक सामान्य है पर मृच्छकटिक की सफलता और प्रसिद्धि का यह भी कारण है कि इसमें

घटना की प्रगति तीव्र होती हुई दिखायी गयी है। नाटक में प्रमुख वस्तु व्यापार (Action) है जिससे नाटक की गति को बल मिलता है। यही व्यापार रंगमें अभिनय के द्वारा आगे बढ़ता हुआ दिखाया गया है। प्रकरण की दूसरी विशेषता है कौतूहलवृत्ति अथवा जिज्ञासा में रुचि। पाठकों अथवा दर्शकों के मन में आगे जानकारी के लिए आकांक्षा बनी रहे, यह भी सफल नाटक के लिए बड़ा आवश्यक है। मृच्छकटिक की यह विशेषता है कि इसमें आकांक्षा निरन्तर तीव्र होती जाती है।

यह संस्कृत का अकेला यथार्थवादी नाटक है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल और भवभूति के उत्तररामचरित में काव्य और भावना का सुन्दर वातावरण मिलता है। कठोर जीवन की वास्तविकता देखने को नहीं मिलती। इसके विपरीत मृच्छकटिक में जीवन की पग-पग की कठिनाइयों के साथ काव्य और भावना का उदात्त वातावरण भी देखने को मिलता है। सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु इसमें विषय-बाहुल्य के साथ पात्रों की भी अधिकता है। शास्त्रीय एवं काव्य सौंदर्य की दृष्टि से यह उच्चकोटि का है। इसका प्रणय विषय भी कुछ अपूर्व है। यह अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रदर्शित दुष्यन्त तथा तपोवन सुन्दरी शकुन्तला के विवादपूर्ण प्रेम जैसा नहीं है और न उत्तर-रामचरित में वर्णित राम एवं सीता के गम्भीर आदर्श प्रेम की भाँति है। यह तो एक नागरिक और गणिका के प्रेम की ऐसी कथा है जो प्रकरण के रूप में सयोजित शैली से चित्रित की गयी है। इसमें पवित्रता, गम्भीरता और कोमलता का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें प्रेम-कथा के साथ राजनीतिक षड्यन्त्र भी सम्मिलित है। इसके रचयिता की यह एक बड़ी कुशलता है। भास के चारुदत्त में देखा गया है उसके साथ राजनीतिक भाग नहीं है। इसमें पालक और आर्यक से सम्बन्धित राजनीतिक कथावस्तु का यह अंश चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रेमगाथा से इतना संश्लिष्ट है कि उपकथा के रूप में होते हुए भी यह कथा का अंग प्रतीत होता है। इसमें समाज के सभी वर्गों से चुने हुए पात्रों का समावेश है। यदि एक ओर धर्म-परायण ब्राह्मण और पतिपरायणा साध्वी महिला और पवित्र भिक्षु के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर पतित, चोर, ब्राह्मण, गणिका और पापी प्रकार भी है जो दल में अवधि के पात्र हैं। चरित्रों का ऐसा वैविध्य अन्य नाटकों में देखने को नहीं मिलता। संस्कृत नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें प्रति-निधि पात्र (Type) हैं पर मृच्छकटिक के पात्र व्यक्तिगत रूप से पृथक्-पृथक्

अपना अस्तित्व रखते हैं। मृच्छकटिक में प्रहसन और विषाद एवं सरलता और कुटिलता का अद्भुत संयोग है।

मृच्छकटिक के पात्रों में प्रमुख नायक चारुदत्त और शकार हैं। यह जन्म से ब्राह्मण है पर कर्म से श्रेष्ठी है। मालतीमाधव के माधव से चारुदत्त में बड़ा भेद है। चारुदत्त माधव की भाँति स्वयं प्रेम प्रदर्शित नहीं करता वरन् वसन्तसेना उसको प्राप्त करने के लिए लालायित है। अतः अन्य संस्कृत नाटकों के नायकों की भाँति चारुदत्त नहीं है। वह तो कुलीन, सभ्य एवं सच्चरित्र है। त्याग की सजीव मूर्ति है। इसी से वह निर्धन भी हो गया है पर फिर भी उसे चिन्ता नहीं। हाँ, चिन्ता तो इस बात की है कि उसे निर्धन समझकर उसके सुहृद् भी सौहार्द में शिथिलता दिखाते हैं।[1]

दूसरे संस्कृत नाटकों के नायक कोरे आदर्श हैं पर मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त ऐसा नहीं है। वह उच्च मध्यम वर्ग के चित्र को उपस्थित करता है। साहित्य और संगीतकला में उसकी स्वाभाविक रुचि है। द्यूत क्रीडा को वह बुरा नहीं समझता। वसन्तसेना को अपनाकर उसने न केवल निम्न वर्ग को ऊँचे उठाया वरन् अपने व्यक्तित्व से समाज का मार्ग दर्शन किया। शर्विलक ने भी मदनिका को अपनाकर दूसरा एक और उदाहरण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है। यदि यह परम्परा और पनपती रहती तो सम्भव है आज के उच्च व्यापारियों एवं शासन के समक्ष वेश्याओं की समस्या ही उत्पन्न नहीं होती। दूसरी ओर नायिका वसन्तसेना भी अपने स्थान पर अनुपम महिला है। उसके चरित्र में दृढ़ता, सरलता, विशुद्ध प्रेम, अपूर्व त्याग एवं गुणों का अपूर्व सामञ्जस्य है। इन्हीं बातों से वह गणिका होते हुए भी गणिका के नाते चन्द्रमा के कलंक की भाँति कलुषित है। उत्तररामचरित की सीता की भाँति वह गम्भीर न होते हुए भी चपल नहीं है। मालती-माधव की मालती की तरह पिता की पराधीनता में आबद्ध न होते हुए भी उच्छृङ्खल नहीं है। अभिज्ञानशाकुन्तल की भाँति शकुन्तला गुण-मनोहारिता से युक्त न होते हुए भी वह मर्यादित नहीं है। मालविकाग्नि-मित्र की मालविका की भाँति वह परित्यक्त हीरे के टुकड़े के समान नहीं है, अपितु बहुमूल्य से सम्मानित है। यद्यपि वह विक्रमोर्वशीय की उर्वशी की भाँति अप्सरा है फिर भी उसमें उस जैसी विलासिता नहीं है, न वह वैसा प्रलोभन। प्रतिभा और गम्भीरता में वसन्तसेना कहीं उससे बढ़कर सिद्ध हुई

---

१. सत्यं न मे ———— शिथिलीभवन्ति । मृ० क० १.१२

है। यदि धन की ही बसन्तसेना सर्वोपरि समझती तो गणिकावृत्ति से वह पर्याप्त धन प्राप्त कर सकती थी। वैसे भी मध्यप्रासाद में रहती हुई क्या वह समृद्धि में किसी से कम थी और चारुदत्त तो वैसे ही उस समय निर्धनता का जीवन बिता रहा था पर सच तो यह है कि पहिले गणिका-वृत्ति से उसे घृणा थी। अन्य पात्र भी अपने चरित्र चित्रण में बहुत खरे उतरे हैं। निःसंदेह मृच्छकटिक के चरित्रों में एक ऐसी विशेषता है जो अन्य संस्कृत नाटकों में अप्राप्य है। इसका श्रेय शूद्रक शूद्रक को है जिसने विषम स्थिति में भी वसन्तसेना और चारुदत्त को मिलाकर अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त की।

कथावस्तु के संयोजन की दृष्टि से विचार करने पर भवभूति के मालती-माधव एवं उत्तररामचरित नाटकों में दोषपूर्ण विस्तृत वर्णनों की उपस्थिति होती है पर मृच्छकटिक इस विचार से निर्दोष है क्योंकि उसमें वर्णनों की विस्तृत का अभाव नाटकीय प्रवाह में बाधक नहीं होता। काव्यसौन्दर्य के विचार से भी मृच्छकटिक उत्तम कृति है। संस्कृत नाटकों में प्रायः परिस्थितियों एवं सुख-पर्यवसायी (Commedy) नाटकों के उपयुक्त वातावरण का अभाव है पर मृच्छकटिक में ऐसा नहीं है।

संस्कृत के सभी नाटकों में प्राकृत भाषाओं का प्रयोग यत्रतत्र होता है पर ऐसा कोई नाटक नहीं जिसमें सभी प्रकार की प्राकृत भाषाएँ हों। इस विचार से मृच्छकटिक एक ऐसी रचना है जिसमें प्रायः सभी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग उपलब्ध है।

मृच्छकटिक प्रकरण ने अपनी कथावस्तु से एक नई परम्परा प्रचलित की पर आगे वह स्थिर न रह सकी।

संस्कृत के विशाल नाटक साहित्य में मृच्छकटिक अपने ढंग का एक अनूठा प्रकरण है। इसमें पुरातन नाटकीय परम्परा का परित्याग है। यथा जिस गणिका को अनादर की दृष्टि से देखता है यहाँ उसे वधू का रूप देते हुए सम्मान प्रदान किया गया है। प्रकरण का मृच्छकटिक नामकरण भी लेखक की सूझ-बूझ का परिचायक है। सामान्य से विशेष की ओर बढ़ने वाली यह प्रवृत्ति समस्त नाटक में ओतप्रोत है। इसकी अभ्यर्थैली सुन्दर एवं स्वाभाविक है। भाषा शैली भी सरल है।

अन्य रूपों में भी परम्पराओं का त्याग स्पष्ट है। अन्य संस्कृत नाटकों की भाँति चारुदत्त प्रत्येक अंक में उपस्थित नहीं होता। शास्त्रीय प्रतिबन्ध का पालन भी इसमें अधिकतर नहीं हुआ है। इसमें रंगमंच पर निषिद्ध निद्रा

और हिंसा के प्रदर्शन के साथ कुलिन की चर्चा में चारुदत्त तथा वसन्तसेना परस्पर आलिंगन करते दिखाये गये हैं। सूत्रधार अन्य नाटकों में संस्कृत बोलता है पर मृच्छकटिक में संस्कृत में आरम्भ करके प्रयोजनवशात् वहीं से प्राकृत में बोलने लगता है। मृच्छकटिककार को भास से यद्यपि इस प्रकार का साहस मिला फिर भी परम्पराओं के अतिक्रमण का विचार उसकी अपनी एक विशेषता है।

मृच्छकटिक में यद्यपि कालिदास जैसा सुकुमार सौरभ, भवभूति जैसा भावों का वैभव, बाण जैसी कल्पना का लालित्य एव शिल्पसमृद्धि का अभाव कुछ अवश्य है पर यथार्थ में समाज की स्वच्छताली हुई नींव की ओर जहाँ कलाकारों का ध्यान न जा सका वहीं मृच्छकटिककार की प्रतिभा ने अपूर्व चमत्कार दिखाया है। कालिदास और भवभूति इत्यादि इसकी कल्पना भी नहीं कर सके। फिर विशाखदत्त के मुद्राराक्षस एव भट्टनारायण के वेणीसंहार जैसी रचनाओं से तो यह श्रेष्ठतर है।

"शूद्रक अपने ससार का एकमात्र स्वामी है और वहाँ कालिदास अथवा भवभूति द्वितीय श्रेणी के नागरिक (Second Class Citizens) समझे जायँगे।"[1]

शूद्रक के समीप अपना नाट्य एव काव्य सौंदर्य दिखाने का अवकाश नहीं था वह सौंदर्य तथा प्रेम के मादक चित्रों को ही प्रस्तुत करना चाहता था। उसने तो जो कुछ भी लिखा सामाजिक सुधार के विचार से लिखा।

संस्कृत के अन्य नाटककार समाज के जिस चित्र को प्रतिबिंबित न कर सके और दूसरी बातों में ही उलझे रहे वहाँ शूद्रक ने [यह सिद्ध कर दिखाया कि कला कला के लिए नहीं वरन् कला जीवन के लिए है। इसी से वह संस्कृत के सभी नाटककारों में अद्भुत है।

मृच्छकटिक में वास्तविक जगत् की झलक

वैसे तो संस्कृत में एक से एक बढ़कर नाटक हैं पर मृच्छकटिक के अतिरिक्त ऐसा कोई नाटक नहीं जिसमें यथार्थ जगत् का चित्रण प्रस्तुत किया गया हो और सामाजिक समस्याओं को सुलझाया गया हो। प्रेम की कहानियाँ तो नाटकों में बिखरी पर वह प्रेम केवल वहाँ इच्छा पूर्ति की कहानी बन कर रह गया

१. डा० रमाशंकर तिवारी . महाकवि शूद्रक, पृ० ४०२

है। यदि कहीं कुछ सामाजिक चर्चा इनमें है तो वह मुख्य नहीं केवल गौण रूप में है।

मृच्छकटिक एक ऐसी रचना है जो शताब्दियों बाद भी ऐसी लगती है मानो आज के जगत् का वास्तविक चित्र है। इसमें भारतीय समाज की बुराइयों का दिग्दर्शन कराते हुए मृच्छकटिककार ने सुधारात्मक दृष्टिकोण से समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि इसमें समाज का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं, इसमें कुशलता से प्रेम के कथानक को राजनीतिक घटनाओं से सम्बद्ध किया गया है। इस रचना में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि द्वारा तत्कालीन समाज के सभी श्रेणियों के पात्रों का यथार्थ निरूपण है। प्राय. संस्कृत के अन्य नाटकों में समाज के उच्च एवं सम्भ्रान्त वर्ग का ही चित्रण देखने को मिलता पर इसमें राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चोर, जुआरी, धूर्त, क्रान्तिकारी, कुट्टिनी, वेश्या एवं पुलिस के अधिकारी आदि सभी वर्गों के पात्रों के कार्य-कलापों का चित्र तथा सभ्य एवं असभ्य समाज का चित्र आज जैसा यथार्थ रूप में प्रस्तुत है।

आधुनिक छायाचित्रों की दृष्टि से मृच्छकटिक की उपादेयता

मृच्छकटिक कथावस्तु के नाते अत्यन्त लोकप्रिय है और विश्वसाहित्य में इसका अनुपम सुन्दर स्थान है। छायाचित्र के दृष्टिकोण से वही रचनाएँ सर्वोत्तम मानी जाती हैं जिनमें समाज की समस्याओं का समाधान दिखाया गया हो फिर इसमें तो वह अनेक रूपों में दृष्टिगोचर हो रही है।

इसके सम्वाद भी सुरुचिपूर्ण हैं। सम्पूर्ण नाटक में प्रत्युत्पन्नमति एवं स्फूर्ति पूर्ण सम्वादों की झड़ी है। विशेषतः वसन्तसेना, मदनिका, विट, मैत्रेय और संस्थानक के सम्वाद अत्यन्त सजीव एवं फड़कते हुए हैं। ये सम्वाद लोकभाषा की मधुरता एवं सूक्तिपूर्ण होने से अत्यन्त प्रभावशाली हैं। इससे पात्रों की मानसिक स्थिति एवं चारित्रिक विशेषताएँ व्यक्त हुई हैं। ये विषयसंगत एवं व्यावहारिक हैं। इनके द्वारा शिष्टहास्य मृच्छकटिक को अत्यन्त सजीव, सरस और कौतूहलपूर्ण बना रहा है। पात्रों की भाषा भी उनके अनुकूल है और अनेक रूपों में प्रयुक्त हुई है।

हास्य विनोद की योजनाएँ भी इसमें सुन्दर हैं। इससे नाटक में सजीवता आ गई है। एक ओर हास्य जहाँ विनोदप्रिय विदूषक आदि प्रिय पात्रों द्वारा सामने आया है वहाँ दूसरी ओर हास्यास्पद परिस्थितियों से पूर्ण कुछ पात्रों के कार्य

व्यापार है जो आनन्द प्रदान करते हैं। हास्य विनोद का तीसरा रूप पात्रों का मधुर व्यंग्यपूर्ण सलाप है। शकार और विदूषक अपनी वेशभूषा, वार्तालाप, तर्क-वितर्क एवं आंगिक अभिनय के द्वारा दर्शकों के हृदय में हास्य-विनोद उत्पन्न कर आनन्द प्रदान करते हैं। शकार के हास्ययुक्त प्रश्नोत्तर, वाणी की विकृति एवं पुराणों से उल्टे सीधे उदाहरण प्रथम अंक में यदि हमारे मनोरंजन के कारण हैं तो अष्टम अंक में तर्क वितर्क एवं अरुचि को उत्पन्न करते हैं। विदूषक का हास्य आरम्भ से अन्त तक हास्य विनोद का मधुर आस्वादन कराता है। उसके हास्य में शिष्टता है, आकर्षण है एवं स्वाभाविकता है। तृतीय अंक में रदनिका से चोरी का समाचार सुनकर वह कहता है। आः दासीए धीए, किं भणासि चोर कप्पिअ सन्धी णिक्कन्तो।[1]

मृ० क० (तृतीय अंक)

हूं ! दासी की पुत्री क्या कहती है चोर सेंध कर सेंध निकल गई। विदूषक की विशेषता यह है कि वह गम्भीर वातावरण को भी अपने सरल हास्य से सरस बना देता है। वह अपने भोलेपन से परिस्थिति को पूर्णतया न समझकर जो बातें कहता है उनसे भी वैसा विनोद होता है। शकार की भाँति उसका हास्य घृणा एवं अरुचि उत्पन्न नहीं करता वरन् शिष्टता का घोतक है। इस रूपक की लोकप्रियता का कारण हास्यविनोद की योजना भी है।

मृच्छकटिक रूपक का अभिनय विश्व के अनेक राष्ट्रों में हुआ है। पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों ने इसकी सराहना की है। साम्यवादी देशों में तो मृच्छकटिक को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इसमें यथार्थवादी मनोवृत्ति तथा समाज के पिछड़े हुए शोषित वर्ग का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण निरूपण है।[2] अपने गुणों के कारण इसे सार्वभौम होने का गौरव प्राप्त है।

आधुनिक छायाचित्रों का कथानक जिन विशेषताओं के कारण सर्वप्रिय समझा जाता है वे सभी इसमें विद्यमान हैं। घटनाओं के घात प्रतिघात से इसमें रोचकता, प्रवाह एवं गति है। इसका कथावस्तु विस्तार न होकर स्वाभाविकता है। यद्यपि वसन्तसेना के भवनों का वर्णन कुछ विस्तृत सा प्रतीत होता है पर काम्यदृष्टि से उसका अपना वैशिष्ट्य है। आर्यक

---

१ आः दास्या पुत्रिके किं भणसि चोर कर्तयित्वा संधिनिष्क्रान्तः।

२ विन्यास निपुण नवप्राप्ते। मृ० क० ९,१४

का उपकथानक चारुदत्त और वसन्तसेना के मुख्य कथानक से भलीभाँति सपृक्त है। इसके अभाव में चारुदत्त के चरित्र की महत्ता सम्भव नहीं। इसीलिए यह कहना समीचीन लगता है कि नाट्यकला की दृष्टि से मृच्छकटिक सर्वथा उपयुक्त है। इसमें स्थान, समय और कार्य की अन्विति‌याँ हैं। उज्जयिनी का सीमित स्थान है। इसका शिल्प विधान रंगमंच की विशेषता से ओत-प्रोत है।

यद्यपि संस्कृत के अनेक नाटकों को छायाचित्र में दिखाया गया है पर मृच्छकटिक का कथानक जिस दिन इस रूप में प्रस्तुत किया जायेगा उस दिन एक स्वर से सब यही कहेंगे कि इस का अभिनय आज तक प्रस्तुत संस्कृत के सभी नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक सफल है। कथावस्तु की दृष्टि से नाटक को सम्भाई के कारण छायाचित्र के लिए इसे उपयुक्त रूप देना होगा और वसन्तसेना के कथ्य प्रासक्त कथों का एवं दर्वित इत्यादि वर्णनों का संक्षेप करना होगा।

मृच्छकटिक की अमूल्य देन

मृच्छकटिक नाम अपने स्थान पर पूर्णतया सार्थक है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं है। सच में हमारा शरीर जिसका निर्माण पंचभूत से हुआ है, मिट्टी है। अन्त में मर जाने या दफनाये जाने पर सब कुछ मिट्टी में ही परिवर्तित हो जाता है। जीवात्मा की स्थिति शरीर रूपी मिट्टी के कलेवर में है।

मिट्टी की गाड़ी का नाम वैसे यथाक्रम छठे अंक में कलाकार ने प्रकट किया है पर भूमिका पहले अंक से आरम्भ हो जाती है। इसी से प्रथम अंक का नाम भी अलंकारन्यास रखा गया है। यहीं से वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति अनुराग भी आरम्भ होता है। यह मायामोह की झलक यहीं से मिलने लगती है।

बौद्धभिक्षुरूपी ज्ञान के द्वारा अन्त में अज्ञान के परदे को हटाकर वास्तविकता का बोध होता है अतः द्वितीय अंक द्यूतकर संवाहक के नाम से प्रसिद्ध है। यह संवाहक चारुदत्त का पुराना सेवक है जो अपना बहुत सा धन जुए में हारकर वसन्तसेना की शरण में पहुँचता है। वसन्तसेना उसका ऋण चुका देती है और यह फिर बौद्ध भिक्षु बन जाता है। सांसारिक अज्ञान से जुए आदि में उसका प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

तृतीय अंक के कथानक का नाम सन्धिच्छेद है जो व्यक्ति जुए की ओर जाता है, वह चोरी की ओर क्यों न ले जायगा। स्वार्थ सिद्धि के लिए बुरे से

बुरा काम भी किया जा सकता है। इसीकी झलक शर्विलक द्वारा आभूषण प्राप्ति हेतु, मदनिका को प्राप्त करने के निमित्त चारुदत्त के यहाँ सेंध लगाकर दिखाई गयी है।

प्रकरण का पूर्वार्ध चतुर्थ अंक में प्रायः समाप्त हो जाता है। इस अंक का नाम मदनिका शर्विलक है। शर्विलक की इच्छा वसन्तसेना को चोरी किये आभूषण देकर और दासी पद से मदनिका को छुड़ाकर प्रेयसी के रूप में उसे अपनाकर पूरी हो जाती है। शर्विलक की यह इच्छापूर्ति एक ओर मायावी ढंग से होती है, दूसरी ओर यह चुराये गए आभूषण चारुदत्त को संकट में डाल देते हैं। जहाँ वास्तविक ज्ञान से ही छुटकारा हो पाता है। इधर चारुदत्त की पत्नी धूता आभूषणों के बदले रत्नावली विदूषक द्वारा वसन्तसेना के यहाँ भिजवाती है। इस भाँति संसार के मायाजाल में पड़कर जीव अज्ञान की ओर ही प्रवृत्त होता है और वास्तविक ज्ञान से दूर हटता जाता है।

पंचम अंक का नाम दुर्दिन है जो इस बात का प्रतीक है कि अब चारुदत्त और वसन्तसेना के लिए दुर्दिन का प्रारम्भ है। वर्षा के दुर्दिन में वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेमसमागम भविष्य में वियोग के रूप में दुर्दिन बनेगा यह कौन जानता था? आज जिस सांसारिक सुख में हम अपने को भूले हुए हैं कल वही दुःख का सोपान बनेगा, यह भूल जाना ही हमारा सबसे बड़ा अज्ञान है। इसकी झलक यहाँ मिलती है और इन आधारों का अब वास्तविक कथानक आरम्भ होता है। यही ज्ञानमार्ग आगे चलकर ज्ञानदीपक की ज्योति से आलोकित होता है।

षष्ठ अंक से कथानक कुछ गम्भीर होता गया है और इसी अंक में मृच्छकटिक की चर्चा है। इस अंक का नाम प्रवहणविपर्यय है। ठीक भी है मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर शकार की गाड़ी में बैठ जाना ज्ञान के स्थान पर अज्ञान की प्रवृत्ति का सूचक है।

सप्तम अंक का नाम आर्यकापहरण है। राजा पालक सिद्ध की वाणी पर विश्वास करके गोपाल के पुत्र आर्यक को जेल में बंद कर देता है। आर्यक का अपहरण सारी स्थिति को बदल देता है क्योंकि आर्यक बन्दीगृह से भागकर संयोग से चारुदत्त की गाड़ी में बैठ जाता है जहाँ चारुदत्त से उसकी मित्रता हो जाती है। अब यहीं से गुणकथन आरम्भ हो जाते हैं। मायामोह ने ज्ञान का एक ओर अपहरण तो किया, पर दूसरी ओर उसी ज्ञान ने अपने प्रखर आलोक से अज्ञान को समूल नष्ट कर दिया।

अष्टम अंक का नाम वसन्तसेनामोटन है। इसमें शकार के प्रणयनिवेदन को जब वसन्तसेना ठुकरा देती है तब वह उसका गला घोंट देता है, पर भिक्षु वेषधारी संवाहक यथोचित उपचार से उसे पुनः जीवित कर देता है। यहाँ शकार रूपी दुर्बुद्धि से वसन्तसेना रूपी ज्ञान को बचाया जाता है।

नवम अंक का नाम व्यवहार है। यद्यपि वसन्तसेना जीवित है फिर भी जब तक व्यवहार से सिद्ध नहीं होता तबतक कौन इसका विश्वास करेगा? न्यायालय द्वारा शकार के अभियोग से चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का आरोप लगा दिया जाता है। संयोग से विदूषक की कोख से गिरे हुए वसन्तसेना के आभूषण इसकी पुष्टि कर देते हैं। अब किसी को आशा नहीं रही थी कि अब चारुदत्त जीवित रह सकेगा पर अज्ञान के प्रपंच में फँसा हुआ व्यक्ति परिपक्व धैर्य से आत्मसंतोष अनुभव करता है।

दशम अंक का नाम संहार है जिसका अर्थ एक ओर दुष्ट-संहार है तो दूसरी ओर प्रकरण का उपसंहार अर्थात् समाप्ति है। इसमें राज्यपरिवर्तन की घटना में पालक मारा जाता है और चारुदत्त का मित्र आर्यक राजा बन जाता है। शकार के कुकृत्यों से उसे आर्यक द्वारा आदिष्ट मृत्युदण्ड, उदार एवं उपकारी चारुदत्त द्वारा निरस्त कर दिया जाता है। वसन्तसेना और चारुदत्त के मिलन की कहानी यहाँ भरत वाक्य के साथ समाप्त होती है।

इन सब विशेषताओं के साथ यह एक ऐसी प्रेमगाथा है जिसमें दुर्भाग्य के साथ उद्यम का संघर्ष है। वसन्तसेना का दूसरी गाड़ी में बैठ जाना निश्चय ही दुर्भाग्य का प्रतीक है। पर संघर्ष करते हुए जूझते रहना और अन्त में सफलता पाना उसके अदम्य साहस का परिचायक है। जहाँ एक ओर यह स्थिति है वहाँ दूसरी ओर भाग्य से आर्यक का चारुदत्त की गाड़ी में बैठ जाना भी एक अद्भुत घटना है।

भास, दण्डी, कालिदास तथा भवभूति ने जिसकी उपेक्षा की, मृच्छकटिक-कार की दृष्टि में वही अपेक्षित रहा। औरों की भाँति वह काव्यरूपी कलेवर के प्रसाधन में नहीं जुटा रहा। उसके अन्तःकरण में तो एक चाह थी और वह थी काव्यरूपी शरीर के अन्तर्गत उसकी जीवात्मा को ठीक से पहचानना। अन्त में यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि मृच्छकटिक के अनुपम कथानक में मानव जीवन का वास्तविक चित्र, वर्ग की परिधि को छिन्न-भिन्न करके, प्रस्तुत है। इसमें मानव को नहीं वरन् मानवता को महत्व दिया गया है। यदि संस्कृत

में नाटकों का वैशिष्ट्य है तो मृच्छकटिक में संस्कृत का वैशिष्ट्य है। प्राकृत भाषाओं की विभिन्नता यदि एक ओर भावात्मक एकता व्यक्त कर रही है तो दूसरी ओर समासगुणपूर्ण संस्कृत की भावमयी सूक्तियाँ इसके माधुर्यपूर्ण सौंदर्य की सहगामिनी हैं।

परिशिष्ट १

मृच्छकटिक की भाषा

नाटकीय भाषा का औचित्य

जगत् के विस्तार के अनुसार भाषा के रूप भी विभिन्न हैं। संसार बहुत बड़ा है। इसमें अनेक देश हैं। इन देशों में भी अनेक प्रदेश, बड़े और छोटे नगर एवं ग्राम हैं। भाषा के विचार से भारत के एक प्रदेश को ही लीजिए। पूरे प्रदेश की एक विशेष भाषा होते हुए भी विभिन्न नगरों एवं ग्रामों की भाषाओं में अन्तर पाया जाता है। रूपकों में विभिन्न पात्र होते हैं। अतः उनकी भाषाओं में भी भेद होता है।

प्राचीन काल में जबकि वैदिक भाषा के पश्चात् लौकिक भाषा का विस्तार हो चुका था तभी संस्कृत के अनेक नाटक लौकिक संस्कृत में लिखे गये। संस्कृत के प्रत्येक नाटक में ऐसे पात्र जिन्हें वो शुद्ध संस्कृत बोलते हैं पर वे संख्या में कम होते हैं क्योंकि रूपकों में शिक्षित और अशिक्षित अनेक प्रकार के पात्र होते हैं। शिक्षित पात्र संस्कृत बोलते हैं। अशिक्षित पात्र प्राकृत बोलते हैं। संस्कृत और प्राकृत भाषा का अन्तर ऐसे ही समझना चाहिए जैसे कि नागरिक और ग्राम्य भाषा का अन्तर। बहुधा रूपकों में नायक आदि शिक्षित पात्रों की संख्या कम होती है अतः अशिक्षित पात्र उनमें अधिक दिखाई देते हैं। ये अशिक्षित पात्र प्राकृत भाषा के अन्तर्गत अनेक भाषाएँ बोलते हुए दिखाये गये हैं। यदि एक ही भाषा बोलने वालों का समुदाय नहीं हो तो सम्भवतः उनकी भाषा को सुनने में उतना आनन्द नहीं प्राप्त होता जितना कि बहुभाषाभाषी जनसमुदाय की बातचीत में प्राप्त होता। यही कारण है कि नाटकों में संस्कृत और प्राकृत के भेद से विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से मृच्छकटिक एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। जितनी भाषाओं का प्रयोग इस नाटक में किया गया है उतनी भाषाओं का प्रयोग अन्य नाटकों में उपलब्ध नहीं होता।

मृच्छकटिक की भाषा

भाषा की दृष्टि से मृच्छकटिक महाकवि कालिदास की अपेक्षा सरल है। मृच्छकटिककार ने एतत्सम्बन्धी जिस शैली का अपनाया है वह सरल और

कालिदास के समान ही शैली है। मृच्छकटिककार ने भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया है। संस्कृत की विशिष्ट योग्यता तो उसके शार्दूल-विक्रीडित और स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों से कहीं-कहीं व्यक्त हो रही है। यदि वह चाहता तो संस्कृत साहित्य की शैली से अपने प्रकरण को अलंकृत कर सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। भाषा में समास-प्रधान न होने से इसमें स्वाभाविक सरलता है। प्रसाद और माधुर्य गुण इसमें बिखरा पड़ा है। केवल कुछ ऐसे स्थल मिलेंगे जहाँ भाषा की कृत्रिमता और अलंकृत शैली दिखाई देती है। भाषा के प्रयोग में बड़ी कुशलता से काम लिया गया है। पात्रों के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग है साथ में परिस्थितियों का भी ध्यान रखा गया है। जैसे वसन्तसेना ने प्राकृत के अन्तर्गत शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया है पर वह संस्कृत भी जानती थी। चतुर्थ अंक में उसका विदूषक से संस्कृत में सम्भाषण और चारुदत्त विषयक संस्कृत छन्दों का प्रयोग उसके पाण्डित्य के प्रतीक हैं। सम्भवतः विदूषक से संस्कृत में बात-चीत करके उसने अपनी विद्वत्ता का सिक्का उसके हृदय पर जमा दिया जिससे कि वह यह न सोच सके कि वैदुष्य के नाते वसन्तसेना चारुदत्त के योग्य नहीं है। सूत्रधार और चारुदत्त भी कहीं परिस्थितिवश प्राकृत का प्रयोग करते हैं। शब्द योजना की दृष्टि से और वाक्य विन्यास के विचार से भी भाषा प्रकरण के लिए सर्वथा उपयुक्त है। मृच्छकटिक में संस्कृत प्राकृत की पद-पद की अनेक सूक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि मृच्छकटिककार का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। निम्न सूक्तियाँ सचमुच बड़ी रोचक हैं—

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते। १,१०
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्। १,११
अहो निर्धनता सर्वापदामास्पदम्। १,१४
वसन्तसेना—पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते न पुनर्गेहेषु। १, गद्य
वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। (३ गद्य)
बाहमे यो प्रविशति। (४ गद्य)
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति। ९, २१
सर्वत्रार्जवं शोभते। (१० गद्य)

सूक्तियों का प्रयोग भाषा को सजीव बनाने की पूर्ण क्षमता रखता है। कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण श्लोक ही सूक्ति के रूप में है। कवि का शब्द भण्डार इतना अगाध है मानो उसके आगे शब्द-सूची प्रस्तुत है, जहाँ चाहता है

उसका प्रयोग करता है। वास्तव तो यह है कि संस्कृत और प्राकृत के अन्तर्गत अनेक भाषाओं के प्रयोग में उसे आशातीत सफलता मिली है। कहीं-कहीं व्याकरण की दृष्टि से भाषा में दोष हैं पर वे नगण्य हैं। कहीं समास कुछ असंगत से लगते हैं और कहीं अव्यय शब्दों 'हि', 'तु', 'खलु', इत्यादि का प्रयोग शैथिल्य व्यक्त करता है, कुछ भी हो भाषा की विविधता से मृच्छकटिक आन्तरिक रूप के साथ बाह्य रूप में भी प्रशस्त प्रकरण है।

संस्कृतभाषी पात्र

प्रस्तुत प्रकरण में संस्कृत भाषा बोलने वाले पात्रों की संख्या बहुत कम है। रूपक की दृष्टि से साहित्यिक संस्कृत के स्थान पर बोलचाल की व्यवहार में आने वाली भाषा का प्रयोग समुचित एवं सुन्दर ही नहीं वरन् सरल है। सामान्य संस्कृत के ज्ञाताओं के लिए भी यह बोधगम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के सम्बन्ध में प्रकरणकार का विशेष ध्यान रहा है।

सूत्रधार, चारुदत्त, आर्यक, अधिकरणिक, शर्विलक, वर्धमानक, विट, दूसरा विट और धन्धुल ने समस्त प्रकरण में संस्कृत-भाषा का प्रयोग किया है। नाटक में संस्कृत-भाषा के कथोपकथन लम्बे नहीं हैं। व्याकरण की दृष्टि से भाषा में कोई दोष भी दिखायी नहीं देता। सूक्तियों के कारण भाषा सजीव और परिष्कृत हो गयी है।

सूत्रधार ने पद्य में संस्कृत का और गद्य में अधिकतर प्राकृतान्तर्गत भाषा का प्रयोग किया है, जैसा कि प्रस्तावना से ज्ञात हो रहा है। चारुदत्त ने अधिकतर संस्कृत का ही प्रयोग किया है। प्राकृत का प्रयोग बहुत कम किया है। वसन्तसेना ने चतुर्थ अंक में अवसर विशेष से सम्भाषण करते हुए गद्य और पद्य में संस्कृत का प्रयोग किया है, वैसे सर्वत्र प्राकृतान्तर्गत शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया है। अन्य पात्रों ने अपनी किसी एक निश्चित भाषा में ही कथोपकथन किये हैं।

प्राकृत भाषा और उसके बोलने वाले पात्र

रूपकों में प्राकृत और अपभ्रंश का प्रयोग देखने को मिलता है। प्राकृत के अन्तर्गत मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या सात भाषाएँ हैं। महाराष्ट्री आदि केवल काव्यों में ही प्रयुक्त होती हैं।

अपभ्रंश में शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविडी, उड्रजा और ढक्की (टीका) चक्करों की भाषा—सात भाषाएँ[1] सम्मिलित की जाती हैं। इन अपभ्रंशों को विभाषा भी कहते हैं[2]।

मृच्छकटिक में प्राकृत भाषा के अन्तर्गत शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी का प्रयोग है। अपभ्रंश भाषाओं के अन्तर्गत इसमें शकारी, चाण्डाली और ढक्की का प्रयोग किया गया है। इस भाँति मृच्छकटिक में संस्कृत के अतिरिक्त चार प्राकृत और तीन अपभ्रंश कुल सात भाषाओं का प्रयोग किया गया है। नाटककार ने पात्रों के अनुकूल समझ बूझ कर प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है। मृच्छकटिक के संस्कृत टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार मृच्छकटिक में प्राकृत भाषाओं का विवरण इस प्रकार है।

प्राकृत के अन्तर्गत शौरसेनी भाषा बोलने वाले पात्र

ग्यारह पात्र शौरसेनी बोलते हैं। इनके नाम सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, इसकी माता, चेटी, धूता, कर्णपूरक, शोधनक और श्रेष्ठी हैं। इस भाषा में श, ष, स इन तीनों के स्थान पर स ही होता है। प्रथम अंक में सूत्रधार की उक्ति में संस्कृत के प्रविशामि के स्थान पर शौरसेनी के पविसामि में तालव्य शकार के स्थान पर दन्त्य सकार का प्रयोग है। इसी प्रसंग में हृतविशेषता के स्थान पर शौरसेनी के विरिविसेसदा में तालव्य और मूर्धन्य के स्थान पर दन्त्य सकार का प्रयोग है। संस्कृत के सर्वम् के स्थान पर शौरसेनी में सव्वम् का प्रयोग है। प्रथम अंक में ही नटी के कथन में मर्षतु मर्षयत्वार्यः संस्कृत के स्थान पर मरिसेदु मरिसेदु अज्जो का प्रयोग है। इसी भाँति अन्यत्र भी ऐसे ही प्रयोग हैं।

प्राकृत के अन्तर्गत अवन्तिका बोलने वाले पात्र

इसके बोलने वाले दो ही पात्र हैं वीरक और चन्दनक। इसमें भी श, ष के स्थान पर स होता है। यह भाषा रेफवती और लोकोक्तिबहुला है। इसमें ल के स्थान पर र का प्रयोग नहीं दिखायी देता। षष्ठ अंक में वीरक और चन्दनक की भाषा में प्रयुक्त वलोलीकुमार, अवलोइदो, लम्भिदो और पच्चाहरोवदोवक इत्यादि पदों में ल के स्थान पर र का प्रयोग नहीं है। इस

---

१ पैशाची और चूलिका, विभाषाएँ अपभ्रंश के उपभेद प्रतीत होते हैं।

२. विविधा भाषा विभाषा।

भाषा में रे, अरे का प्रयोग अधिक होता है। सम्भवत इसीलिए इसको रैवतकी कहा गया है।[1] इस भाषा में लोकोक्तिया भी अधिक दिखायी देती हैं। षष्ठ अक में चीरक और चन्दनक के भाषण से यह बात स्पष्ट होती है। 'चीरक' कह दे अवरुण ण कप्पावेमि तदा ण होमि चीरओ' अर्थात यदि तेरे चारों दाँतो को न काटता हूँ तो चीरक नही रहूँगा। 'चन्दनकः किं कुपसुपमरिसेन' अर्थात् कुत्ते जैसे तुमसे क्या। इस भाषा में र के स्थान पर ल का प्रयोग भी दिखायी देता है। षष्ठ अक में लाल्लो और वाक्कूवा दोनों प्रयोग मिलते हैं। पहले में तो संस्कृत का र अपने ही रूप में है पर दूसरे में र के स्थान पर ल का प्रयोग हुआ है।

प्राकृत के अन्तर्गत प्राच्या बोलने वाला पात्र

विदूषक इस भाषा को बोलता है। इसमें भी श, ष, स के स्थान पर स होता है। इसमें स्वार्थिक ककार का प्रयोग अधिक बताया जाता है पर मृच्छकटिक के विदूषक की भाषा में ककार की अधिकता नही है। प्रथम अंक में ऐसा 'सुमुयक्खा सहिलक्खा मयवावमवतभुडिरा सुलावालिण'—इत्यादि में कहो क के दर्शन नही होते।

प्राकृत भाषा के अन्तर्गत मागधी का प्रयोग

इस भाषा को छह पात्र बोलते हैं। संवाहक (भिक्षु), शकार एव उसके तथा वसन्तसेना और चारुदत्त के दोनो चेट तथा चारुदत्त का पुत्र रोहसेन मागधी के बोलने वाले हैं। इस भाषा में श, स, ष के स्थान पर तालव्य शकार होता है। प्रथम अंक में चेट की उक्ति में 'एशेमट्टालके चिश्टदु श मट्टके अशिम्' यहाँ एष के स्थान पर एशे, अस्मि के स्थान पर अशिम् का प्रयोग है। इसी भाँति द्वितीय अंक में संवाहक की उक्ति 'अगस्स्वमुक्काए विअ शत्तीए महुक्को विअ वादितो म्हि शत्तीए' में शक्त्या के स्थान पर शत्तीए का प्रयोग है।

अष्टम अक में मुण्डितेश के स्थान पर मुश्टिदोशे का प्रयोग है। यहाँ मूर्धन्य ष के स्थान पर तालव्य श है। प्रसार्य के स्थान पर पशालिअ में दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार का प्रयोग है। द्वितीय अक में संवाहक की उक्ति 'अज्जा विशज्जिअ म दशस्त शहिस्सस्स इश्याओ वर्लोहि मुवपकेहि' में शकार का प्रयोग कई बार किया गया है।

---

१ कान्तानाथ शास्त्री तैलग, मृच्छकटिक समीक्षा, पृ० ५०।

अपभ्रंश या शाकारी भाषा

इस भाषा का प्रयोग शकार ने किया है। इसमें तालव्य शकार अधिक प्रयुक्त हुआ है। र के स्थान पर ल का प्रयोग भी इसमें किया गया है। प्रथम अंक में शकार की उक्ति—

भणो भुत्तिस्शे वशिदे म मत्तके
कम्मीम बीध एव मालएम ता।

में वसिदा का वशी और मारयामि का मालएम हो गया है। यहाँ दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार और र के स्थान पर ल का प्रयोग हुआ है।

चाण्डाली का प्रयोग

दशम अंक में दोनों चाण्डाल इसका प्रयोग करते हैं। इसमें भी ष, स, य के स्थान पर तालव्य शकार ही होता है और र के स्थान पर ल का प्रयोग होता है। दशम अंक में चाण्डालों की उक्ति 'शावशम्म यदि शव्व अवालिदं' में स के स्थान पर श और र के स्थान पर ल का प्रयोग है। यही चाण्डालों की उक्ति में शोभनम् के स्थान पर शोभणम् के प्रयोग में न के स्थान पर ण ही रह गया है। इन्हीं दोनों की उक्ति में इसी अंक में सागरदत्तस्स के स्थान पर शाअलदत्तश का प्रयोग है। यहाँ दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार का और र के स्थान पर ल का प्रयोग किया गया है। इसी प्रसंग में एष के स्थान पर एशे का प्रयोग भी है। यहाँ मूर्धन्य ष के स्थान पर तालव्य श का प्रयोग है।

ढक्की (वनेचरों की भाषा) का प्रयोग

द्यूतकर और माथुर दो व्यक्ति इस भाषा का प्रयोग करते हैं। इस भाषा के सम्बन्ध में भी पृथ्वीधर कहते हैं—

'दकारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्राये दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च' अर्थात् इस भाषा में दकार का अधिक प्रयोग होता है और यह संस्कृतप्राय होती है तभी इसमें दन्त्य सकार और तालव्य शकार दोनों का प्रयोग होता है जैसे यहाँ। द्वितीय अंक में माथुर की उक्ति 'अलिअ वपुसुदश्श पाहेहि। दिवसं' में द और दन्त्य सकार का संस्कृत के समान ही प्रयोग हुआ है। यहाँ इसकी विभाषा संस्कृतप्राय है। सामान्य स्थिति में दन्त्य सकार को तालव्य शकार हो जाता है जैसे—पूर्व प्रसंग में ही माथुर की उक्ति 'अले, भट्टोके ण मुक्कुदम्' में ट का ण हो गया है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि यहाँ संस्कृत में ट

और स आता है वहीं ढक्की में भी स और ष हो जाता है। यहाँ दोनों का प्रयोग देखा जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में चकारप्राय होने की बात नहीं ज्ञात होती वरन् उकारप्राय होना दिखायी देता है। द्वितीय अंक में नेपथ्य के कथन 'अरे भट्टा दशसुवण्णाह रुद्ध जूदकर पपलीणु' में माथुर की उक्तियों में 'पिम्पदीवु पादु. पडिमा सुण्ण देउलु, धुत्त धुत्तु, को वोसु, माथुर वह विलखु धुए जसमुवण्णु मस्सण्णु, मए एसु विहणु' में शब्दों के अन्त में उ दिखायी देता है। च की अधिकता दिखायी नहीं देती। भी कण्ठ्याभाव शास्त्री रेलंग के विचार से या तो पृथ्वीधर ने अशुद्धि की है या टीका छापने वालों ने उ को च पढ़ लिया है। उनका यह भी कहना है संस्कृतप्रायत्वे के स्थान पर संस्कृतप्रायत्वेन होना चाहिए।

डा० कीथ का विचार है कि ढक्की के स्थान पर टक्की होना चाहिए। लिपि की अशुद्धता से इसे ढक्की पढ़ा गया होगा। पिशेल ने ढक्की को पूर्वी बोली समझा है। ग्रियर्सन के मत के अनुसार यह पश्चिमी बोली मानी जाती है। नाट्यशास्त्र में ढक्की नाम की भाषा की चर्चा नहीं है। बर्बरों की चकारप्राय भाषा तो पढ़ने में आती है। गम्भीर अध्ययन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि यह विभाषा और पश्चिमी बोली है।

कुछ बातों के मिले-जुले होने से यद्यपि भाषाएँ शकारी और चाण्डाली प्राकृत के अन्तर्गत मागधी की ही विभाषाएँ प्रतीत होती हैं, अन्तर केवल यही है कि इसमें र को ल हो जाता है।

गौणपात्र

मृच्छकटिक में कुछ पात्र ऐसे हैं जिनकी चर्चा मात्र है। इनके कथोपकथन इसमें उपलब्ध नहीं हैं अतः ये किस भाषा के ज्ञाता होंगे इसकी जानकारी सम्भव नहीं है। इनमें पालक अवन्ती का राजा है। रेभिल उज्जयिनी का एक व्यापारी है। यह चारुदत्त का मित्र है और एक विशिष्ट गायक है। जूर्णवृद्ध चारुदत्त का मित्र है। सिद्ध आर्यक की राज्य-प्राप्ति का भविष्यवक्ता है। इसके अतिरिक्त राजपुरुष और नागरिक हैं। ये सभी गौणपात्र हैं, इनकी चर्चा प्रस्तुत प्रकरण में तो है पर इनके दर्शन मंच पर नहीं होते।

भाषाविश्लेषण

मृच्छकटिक में संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत का प्रयोग है पर यह प्राकृत अधिकांश वर्गों में और विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुई है। इसके सत्ताईस पात्रों में

केवल पाँच संस्कृत बोलते हैं और शेष सभी प्राकृत। कुछ पात्र संस्कृत बोलते-बोलते प्राकृत बोलने लगते हैं और प्राकृत बोलते-बोलते संस्कृत बोलने लगते हैं। प्राकृत गद्य के लिए ही नहीं वरन् पद्य के लिए भी प्रयुक्त हुई है। लगभग सौ पद्य विभिन्न छन्दों में प्राकृत में रखे गये हैं। प्रकरण की भाषाशैली सरल एवं स्वाभाविक है। इसकी शब्दावली विविध तथा विशद है। इसमें संस्कृत के पुराने तथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग तो नहीं है परन्तु इसके प्राकृत में अप्रचलित प्रयोग बहुत हैं, जैसे मस्तक, बरटा, मैरेय, मटाक्क, कपिश्, तलित, कुन्तरक इत्यादि। वसन्तसेना का प्रासाद वर्णन तो अवश्य ओजगुणपूर्ण होने से लम्बे समासों वाला है, वैसे सरल है। प्रवाहपूर्ण, सुन्दर एवं सजीवतामय वाक्यों तथा पदों में साधारण तथा लोकप्रिय सूक्तियाँ यथार्थ में सुन्दर हैं। पाणिनीय भाषा का माध्यम अंगीकार करते हुए भी इसकी रचना में यथेष्ट स्वतन्त्रता बरती गयी है। इसमें प्रकृष्ट न लिखकर प्रकष्ट एवं देव के बदले देवता लिखा गया है। इन प्रयोगों से देववाणी भी एक ऐसी धारा में प्रवाहित हो गयी है जिसमें शास्त्रीय नियमों की कठोरता को शिथिल कर दिया गया है और उसमें जनसाधारण के भाव स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्ति पाते रहे हैं। इसके संवादों में जैसा जीवन है वैसा संस्कृत के अन्य नाटकों में उपलब्ध नहीं होता।

अतः नाटकीय भाषा के औचित्य की दृष्टि से मृच्छकटिक में कालिदास जैसी भाषा भले ही न हो पर संस्कृत के साथ भाषा के विविध लौकिक रूप हमें इसमें अवश्य देखने को मिलते हैं।

*

मृच्छकटिक की प्रमुख सूक्तियाँ

प्रथम अंक

१ शून्यमपुत्रस्य गृहं, चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् । (पद्य)
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥ (१,८)

२. सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते, घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रताम्, धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥ (१,१०)

३. अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् । (१,११)

४. अहो ! निर्धनता सर्वापदामास्पदम् ॥ (१,१४)

५. गुणः खल्वनुरागस्य कारणं, न पुनर्बलात्कारः । (गद्य)

६. चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥ (१,४३)

७. यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशाम् नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते ।
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रताम्, चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ॥ (१,५३)

८. न युक्तं परकलत्रदर्शनम् । (गद्य)

९. पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु । (गद्य)

द्वितीय अंक

१०. दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमना खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति । (गद्य)

११. द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् । (गद्य)

१२. य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः । (गद्य)

१३. दुर्लभा गुणा विभवाश्च अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति । (गद्य)

तृतीय अंक

१४. सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते ।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः ॥ (३,२)

१५. शोभा हि नामापरिगृहीतं रत्नम् । (गद्य)

१६. यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् । (गद्य)

१७ अनतिक्रमणीया भगवती लोकाम्या ब्राह्मणजाम्या च । (गद्य)

१८ धनक्षीणा हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता (१,२४)

१९. आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सार्थतः पुमान् ॥ (१,२७)

चतुर्थ अंक

२०. सखीजनचित्तानुवर्त्यबलाजनो भवति । (गद्य)

२१ स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः (४,९)

२२. साहसे श्रीः प्रतिवसति । (गद्य)

२३. इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः ।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥ (४,१०)

२४. अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः ।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥ (४,११)

२५. अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे, ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो, भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि ॥ (४,१२)

२६. स्त्रीषु न रागः कार्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति ।
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या ॥ (४,१३)

२७ एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
र्विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन,
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ (४,१४)

२८ समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः ।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ (४,१५)

२९ न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति ।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः ॥ (४,१७)

३० स्त्रियो हि नाम खल्वेताः निसर्गादेव पण्डिताः ।
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ (४,१९)

३१ न चन्द्रादातपो भवति ॥ (गद्य)

३२. मित्रार्थं कस्य च दारा दुर्लभो मार्दवदर्शक । (४,२१)

३३ गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा ।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥ (४,२२)

३४ गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो, न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम् । (४,२१)

३५. प्रथमविभवशीव लोके प्रिय नराणा सुहृच्च वनिता च । (४,२९)
३६. कथम् हीनकुसुमादपि सहकारपादपान्मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति ? (गद्य)

पंचम अंक

३७. अकमलसम्भूतिका पद्मिनी, अवंचको वणिक् अचौरः सुवर्णकार, अकलहो ग्रामसमागम , अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते । (गद्य)
३८. सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावा ।
भिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥ (५,८)
३९ कामो वाम । (गद्य)
४०. मेघा वर्षन्तु, गर्जन्तु, मुंचन्त्वशनिमेव वा ।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥ (५,१६)
४१. न तस्मा हि स्त्रियो रोष प्रस्थिता दयितं प्रति । (५,३१)
४२ धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके, किं जीवितेनादित एव तावत् ।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात्, कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ॥ (५,४०)
४३. पक्षविकलश्च पक्षी, शुष्कश्च तरु, सरश्च जलहीनम् ।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च ॥ (५,४१)
४४. शून्यैर्गृहैः खलु समा पुरुषा दरिद्रा।
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः ।
यद्दृष्ट-पूर्वजनसंगम-विस्मृताना-
मेवं भवन्ति विफला परितोषकाला ॥ (५,४२)

षष्ठ अंक

४५. परं भाग्यक्षयो मृत्युर्न पुरुषस्य बध्यते । (६-१७)
४६ त्यजति च किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ।
भवति च सदोपहास्यो य खलु शरणागतं त्यजति ॥ (६,१८)
४७. भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ॥ (६,१९)

सप्तम अंक

४८. न मामपेक्षते स्नेहः । (गद्य)
४९. स्थाणोरपि विसर्पते ? (७,७)

८९. कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिम्
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलाम् ।
अन्योन्यप्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेव क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥ (१०,६०)

परिशिष्ट ३

मृच्छकटिक के विषय में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के विचार

मृच्छकटिक अपनी दृष्टि से अनुपम है इस सम्बन्ध में पहले पाश्चात्य मनीषियों के विचार और तत्पश्चात् भारतीय विद्वानों के विचारों का यहां उल्लेख समीचीन होगा।

Dr. Arthur William Ryder (American Writer) अपनी पुस्तक *The Little Clay cart* के Introduction में लिखते हैं।

1 Kalidas, Shudraka, Bhavbhuti—assuredly these are the greatest names in the history of Indian Drama. So different are these men, and so great, that it is not possible to assert for anyone of them such supremacy as Shakespeare in the English Drama.

2. Kalidas and Bhavbhuti are Hindus of the Hindus the Shakuntla and the latter acts of Rama could have been written no where save in India; but Shudraka alone in the long line of Indian dramatists has a *cosmopolitan character* Shakuntala is a Hindu maid, Madhava is a Hindu hero; but Sansthanaka and Maitreya and Madnika are citizens of the world. In some of the more striking characteristics of Sanskrit literature in its fondness for system, its elaboration of *style, its love of epigram*—Kalidas and Bhavbhuti are far truer to their native land than is Shudraka.

3. Shudraka's limitations in regard to stylistic power are not without their compensation For love of style slowly strangled originality and enter-

prise in Indian poets and ultimately proved the death of Sanskrit Literature Now just at this point, where other Hindu writers are weak Shudraka stands forth prominent No where else in the hundreds of Sanskrit dramas do we find such variety and such drawing character, as in the Little Clay Cart, and no where else in the drama at least, is there such humour.

4 In the very little of the drama he has disregarded the rule that the name of a drama of invention should be formed by compounding the names of heroine and hero Again the books prescribe that the hero shall appear in every act; yet Charudatta does not appear in acts II, IV, VI and VIII And further various characters Vasantsena Maitraya the courtier and others have vastly gained because they do not conform too closely to the technical definitions

5 Shudraka's men are better individualized than his women, this fact alone differentiates him sharply from other Indian dramatists He draws on every class of society, from the high souled Brahman to the executioner and the house maid

6 The breadth of treatment which is observable in this play is found in many other specimens of the Sanskrit drama, which has set itself and ideal different from that of our own drama. The lack of dramatic unity and consistency is often compensated indeed by lyrical beauty and charms of style, but it suggests the question whether we might not more justly speak of the

Sanskrit plays as dramatic poems that as dramas. In 'The Little Clay Cart' at any rate, we could ill-afford to spare a single scene, even through the very richness and variety of the play remove it from the class of world's greatest dramas

७. शूद्रक के हास-परिहास को अमरीकी सोरम से पूर्ण बताना—

(It) runs the whole gamut, from grim to farcical, from satirical to quaint Its variety and keenness are such that king Shudraka need not fear a comparison with the greatest of Occidental writers of comedies

From farce to tragedy from satire to pathos, runs the story, with a breadth truly Shakespearean

Dr. A. Berriedale Kieth अपनी पुस्तक The Sanskrit Drama में लिखते हैं।

1. Though composite in origin and in no sense a transcript from life, the merits of the Mrichhakatika are great and most amply justify what else would have been an inexcusable plagiarism (p 134)

चारुदत्त एवं वसन्तसेना की प्रेमकथा और आर्यक की राज्यविप्लव-पर्वी अन्विति की पोषक है।

२. वस्तुतः शूद्रक सम्भवतया पौराणिक व्यक्ति थे। यह बात इस स्वीकृति से स्पष्ट है कि उन्होंने अग्नि में प्रवेश किया। कोई इन बातों में विश्वास नहीं कर सकता कि उन्हें अपनी मृत्यु का निश्चित समय पहले से ही ज्ञात था, अथवा यह संस्कार उनके संन्यास ग्रहण पर ही किया गया अथवा प्रस्तावना का यह अंश उनकी मृत्यु के बाद जोड़ा गया है। यदि ऐसा हुआ हो तो उसका रूप बिल्कुल भिन्न होता। यह बात और भी कम सम्भाव्य है कि उन्होंने इस रूप की रचना रैभिल तथा सोमिल की सहायता से की। (हिन्दी अनुवाद, पृ० १२७)

३. कविता कामिनी के विलास कालिदास और वश्यवाक् भवभूति में चाहे जितना अन्तर हो किन्तु मृच्छकटिक के लेखक की तुलना में इन दोनों का परस्पर भावसाम्य कहीं अधिक है, शकुन्तला और उत्तररामचरित को

रचना भारत के अतिरिक्त किसी देश में सम्भव नहीं थी। शकुन्तला एक हिन्दू नायिका है, माधव एक हिन्दू नायक है बल्कि संस्थानक, मैत्रेय और रदनिका विश्व नागरिक हैं परन्तु यह दावा स्वीकार्य नहीं है। मृच्छकटिक अपने पूर्ण रूप में एक ऐसा रूपक है जो भारतीय विचारधारा और जीवन से ओत प्रोत है। उपर्युक्त तीनों पात्रों में से कोई ऐसा नहीं है जो कालिदास द्वारा उद्भावित कतिपय पात्रों की अपेक्षा अधिक विश्वनागरिक होने का दावा कर सके। इस रूपक के पात्रों की विविधता निर्विवाद रूप से प्रशंसनीय है परन्तु उसका वास्तविक श्रेय भास को है, उनके उत्तरवर्ती (शूद्रक) को नहीं। रूपक की सापेक्ष सरलता का श्रेय भी उन्हीं को मिलना चाहिए। इस शैली के विरुद्ध कालिदास में कुछ जटिलता पायी जाती है और भवभूति में उसकी मात्रा और भी अधिक है। कथावस्तु की विविधता भास में पूर्ण भासित है किन्तु रूपक के विकास का श्रेय शूद्रक को है। (हिन्दी अनुवाद, पृ० १२८)

अमेरिकी लेखक Henry W. Wells द्वारा अपनी पुस्तक The Classical Drama of India में वर्णित विचार

1. Historically speaking, it comes extremely close to being two plays (p 132)

2 It is the sophisticated manner of indirection. (p 151)

3 The plot of the Little Clay Cart rejoices in bringing indirection to a goal criss-crossing the incidents with the utmost caprice (p 154.)

4. In the broader outlook, the 'Little Clay Cart' belongs to the same category-their highest category as 'Shakuntala', 'Vikramorvaci', 'Rama's later history, the vision of Vasavadatta and all the most serious and poetic of Indian dramas, the relatively naturalistic setting and ample humour in Sudrak's work notwithstanding the simplest and truest statement his that a rough road leads to human felicity.

(p. 151.)

5. The 'Little Clay Cart' is a long play singularly lacking in longeurs. (p 150)

१. मृच्छकटिक के नान्दी के मर्म का रहस्योद्घाटन—

प्रकार के कंठ के उल्लेख से कवि नाटककार ने सिद्ध है नारी के सरसाम की भावना की है और बादल तथा बिजली की उपमा से इस व्याख्या की पुष्टि की है कि पुरुष बादल है और नारी बिजली है। पंचम अंक में चारुदत्त ने स्वयं वसन्तसेना का ध्यान मेघ तथा विद्युत के मिलन दृश्य की ओर आकर्षित किया है जिससे संकेत ग्रहण कर वसन्तसेना उसके भुजपाश में लिपट गई है।[१]

(अनुवाद) पृ. १३९-४०

M. Winternitz द्वारा अपनी पुस्तक A History of Indian Literature, Vo III, Part I में वर्णित विचार :

1. 'The Drama of the Clay-cart' attributed to *king Shudraka, is a genial, elaborate and late adaptation* (perhaps a continuation of Bhasa's *Daridracharudatta*). In any case, the four acts of the Daridracharudatta and the first four acts of the Mrichhakatika are related together in a way, that is as close as that existing between two different recensions of one and the same work (p 224.)

2. It is not improbable that there was a raja, who *bore the epithet Shudraka,* on account of being of lowly origin, and had adapted the drama of Bhasa afresh (p. 225)

3. On the contrary in Europe, the drama has enjoyed high grade of popularity and has been always held in esteem. The work fully merits this honour. It deviates from the model more than any

---

१. एतास्मौवदयामभ्रगमिनो स्वच्छन्दमभ्यागता।
एताकान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्करालिङ्गति॥

other Indian drama and it has been fashioned wholly on actual life. The characters are presented in a lively manner (p 226)

4 The drama Mrichhakatika is of extraordinary value in respect of cultural history, above all for our knowledge of the ways of harlots and that of their social status in ancient India. (p 231)

5. The end of the drama leaves the impression that Charudatta was leading an honourable and family life with his two wives, both of whom, he loved equally and both of whom loved him equally. (p 231-32)

6. The drama is very much instructive also for a knowledge of relationship existing between the different castes and for that of religious practices. (p. 232)

7 The poet Shudraka appears to be a liberal Hindu with strong Buddhist inclinations (p 232)

Dr. Arthur A Macdonell द्वारा A History of Sanskrit Literature में वर्णित विचार पृ० ३४६, ३५०

1. It is probably the work of perhaps Dandin's as Prof Pischel thinks.

2 To the European mind the history of Indian drama can not but be a source of abundant interest; for here we have an important branch of Literature which has had a full and varied national development, quite independent of Western influence, and which throws much light on Hindu social customs during the five or six centuries preceding the Muhammadan conquest.

3. The earliest forms of dramatic literature in India are represented by those hymns of the Rig-veda which contain dialogues such as those af Sarma and the Panis, Yama and Yami, Pururavas and Urvaci, the latter, indeed being the foundation of a regular play composed much more than a thousand years later by the greatest dramatist of India The origin of the acted drama is however, wrapt in obscurity. Nevertheless, the evidence of tradition and of language suffice to direct us with considerable probability to its source

4 The words for actor (nata) and play (nataka) are derived from the verb nat, the Prakrit or vernacular form of the Sanskrit nri 'to dance'. The name is familiar to English ears in the form of nautch, the Indian dancing of the present day. The latter, indeed probably represents the beginnings of the Indian drama. It must at first have consisted only of rude pantomime in which the dancing movements of the body were accompanied by mute mimicking gestures of hands and face. Songs, doubtless, also early formed an ingredient in such performances. Thus Bharata, the name of the mythical inventor of the drama which in sanskrit also means "actor" in several of the vernaculars signifies 'singer' as in the Gujarati Bharot. The addition of dialogue was the last step in the development which was thus much the same in India and in Greece. This primitive stage is represented by the Bengal Yatras and the Gita Govinda. These form the transition to the fully developed Sanskrit play in which lyrics and dialouge are blended.

5. The earliest references to the acted drama are to be found in the Mahabhashya, which mentions representations of the Kamsavadha, the 'slaying of Kamsa' and the Balibandha or 'Binding of Bali' episodes in the history of Krishna Indian tradition describes Bharat as having caused to be acted before the gods a play representing the Svavamvara of Lakshmi wife of Vishnu Tradition further makes Krishna and his cowherdesses starting point of the Sangita a representation consisting of a mixture of song, music and dancing The Gita Govinda is concerned with Krishna and the modern yatras generally represent scenes from the life of that deity. From all this it seems likely that the Indian drama was developed in connection with the cult of Vishnu, Krishna and that the earliest acted representations were therefore, like the mysteries of the Christian Middle Ages a kind of religious plays, in which scenes from the legend of the god were enacted mainly with the aid of song and dance, supplemented with prose dialogue improvised by the performers.

6 The drama has had a rich and varied development in India as is shown not only by the numerous plays that have been preserved but by the native treatises on poetics which contain elaborate rules for the construction and style of plays Thus the 'Sahitya Darpana' or 'Mirror of Rhetoric' divides the Sanskrit dramas into two main classes, a higher (rupaka) and a lower (uparupaka) and distinguishes no fewer than ten species of the former and eighteen of the latter

7. The characteristic features of the Indian drama which strike the western student are the entire absence of tragedy, the interchange of lyrical stanzas with prose dialogue and the use of Sanskrit for some characters and of Prakrit for others.

8. The Sanskrit drama is a mixed composition in which joy is mingled with sorrow in which the Jester usually plays a prominent part, while the hero and heroine are often in the depths of despair. But it never has a sad ending The emotion of terror, grief or pity with which the audience are inspired, are therefore always tranquillised by the happy termination of the story. Nor may any deeply tragic incident take place in the course of the play; for death is never allowed to be represented on the stage. Indeed nothing considered indecorous whether or a serious or comic character is allowed to be enacted in the sight or hearing of the spectators such as the utterance of a course, degradation, banishment, national calamity, biting, scratching, kissing, eating or sleeping.

9. Sanskrit plays are full of lyrical passages describing scenes or persons presented to view or containing reflections suggested by the incidents that occur. They usually consist of four line stanzas. Shakuntla contains nearly two hundred such representing something like one half of the whole play. These lyrical passages are composed in a great many different metres. Thus the first thirty-four stanzas of shakuntala exhibit no fewer than eleven varieties of verse. It is not possible as in the case of the

simple vedic metres, to imitate in English the almost infinite resources of the complicated and entirely quantitative classical Sanskrit measures. The spirit of the lyrical passages is therefore probably best reproduced by using blank verse as the familiar metre of our drama The prose of the dialogue in the plays is often very common place serving only as an introduction to the lofty sentiment of the poetry that follows.

10 In accordance with their social position the various characters in a Sanskrit play speak different dialects Sanskrit is employed only by heroes, kings, Brahmans and men of high rank; Prakrit by all women and by men of the lower orders. Distinctions are further made in the use of Prakrit itself Thus women of high position employ Maharashtri in lyrical passages, but otherwise they, as well as children and the better class of servants, speak Shuraseni. Magdhi is used for instance, by attendants in the royal palace; Avanti by rogues or gamblers; Abhiri by cowherds, Paishachi by charcoal burners and Apabhramsha by the lowest and most despised people as well as barbarians.

11 The Sanskrit dramatists show considerable skill in weaving the incidents of the plot and in the portrayal of individual character, but do not show much fertility of invention, commonly borrowing the story of their plays from history or epic legend. Love is the subject of most Indian dramas The hero usually a king already the husband of one or more wives, is smitten at first

sight with the charms of some fair maiden. The heroine equally susceptible, at once reciprocates his affection, but concealing her passion keeps her lover in agonies of suspense Harassed by doubts obstacles, and delays both are reduced to a melancholy and emaciated condition The some-what doleful effect produced by their plight is relieved by the animated doings of the heroine's confidantes, but especially by the proceedings of the court jester (Vidushaka) the constant companion of the hero. He excites ridicule by his bodily defects no less than his clumsy interference with the course of the hero's affairs His attempts at wit are, however, not of a high order It is somewhat strange that a character occupying the position of a universal truth should always be a Brahman.

एच० एच० विल्सन द्वारा दि थियेटर आव् दि हिन्दूज मे वर्णित विचार
(पृ० ५३-५७)

निष्कर्ष रूप में एक समय मृच्छकटिक संस्कृत का सबसे पहला नाटक माना गया था। (अनु०)

तथापि नाटक की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि राजा का साला शकार है। इतना पूर्णतया घृणास्पद चरित्र शायद साहित्य में कभी अंकित नहीं किया गया है। उसके दुर्गुण भयंकर हैं। वह नितांत निर्दय एवं दुश्चेष्ट है—और तो भी वह इतना हास्यास्पद है कि हमारा क्रोध उत्तेजित नहीं करता, ऐसे घृणित व्यक्ति पर किया गया क्रोध व्यर्थ जाता है। और जब उसके अपराधों के उचित दण्ड की घड़ी आती है तब चारुदत्त के साथ हम भी यह कहने के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं, इसे मुक्त करो और छोड़ दो। यह एशिया के प्रत्येक युग में पायी जाने वाली प्रकृति का उत्तम उदाहरण है जहाँ कि राजा-महाराजा आलस्य तथा लालच में लिप्त हुए हैं तथा स्वार्थपूर्ण आत्मतुष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त में प्रेम करना जिन्हें सिखाया नहीं गया है। (अनु०)

Dr B A Saletore

1 We might unequivocally assert that king Sivamara II was himself the author, who completed that drama which had been left either incomplete by king Shudraka, Sivamara I, or which the latter had deliberately written in brief.[1]

२ मृच्छकटिक का लेखक उत्तर भारत का निवासी न होकर दक्षिण का है। जिसकी पुष्टि उसके दक्षिण की दो छोटी-छोटी नदियों के ज्ञान से होती है।

नवमें अंक में 'वेणातटे कुशावत्यां पण्यपतिगृहम्' का उल्लेख है।

इसका विवेचन—

कुशावती दक्षिण का विशिष्ट नाम है और यह पश्चिमी समुद्रतट पर बहने-वाली एक छोटी नदी का नाम है और इस प्रकार प्रस्तुत वाक्यांश का अर्थ होगा 'वेणा तथा कुशावती नदियों के बीच में स्थित दाम्य'।[2] (अनुवाद)

3. That Shudraka, the alleged author, was a real person, who wrote the drama, seems most impossible The obvious conclusion is that the rewriter and reviver of the Charudatta preferred to remain nameless, and to ascribe his work to the legendary Shudraka[3]

Dr G K. Bhat द्वारा अपनी पुस्तक Preface to Mrichhakatika में वर्णित विचार :

1. *Thus it is not possible to hold that the two plays are only two versions of the same dramatic material. They are different works and their*

---

1. Journal of the University of Bombay, Vol. XVI Part IV, No 32, 9 (Jan 1948)
2. Journal of the University of Bombay Vol. XVI. (New Series) Part I No 31 10-20 (July 1941).
3. Bulletin of the School of Oriental Studies, Vol. III, Part II (1924)

relationship has to be explained on a different hypothesis (p. 24)

2 Karmarkar too assumes with Keith that Shudraka is mythical; but there are reasons to believe that Shudraka must have been a historical figure Above all it is difficult to imagine Dandin' s motive in passing his own composition in the name of some mythical king. An author who wrote Dasakumaracharita and Kavyadarsa and acknowledged their authorship should certainly not hesitate to own a great play like Mrichhakatika. (p. 177)

3 He (Shakara) is a Caliban, without the master He has not drunk the liquor of civilization, But he has its vain boast and its lust. Or perhaps, out of the pages of Panchatantra a wily fox has come alive in the shape of Shakara (p 101)

4. It is not, therefore, surprising that Mrichha katika as a whole is a drama redolent of Indian thought and life. It cannot but be so But Shudraka, unlike most of the Sanskrit dramatists has chosen as the background for his play a cosmopolitan city like Ujjayini and has created an unconventional world where a rogue and a monk, a pious Brahmin, a virtuous maid and a wicked villain jostle with one another (p 166-67)

R. V. Jagirdar द्वारा अपनी पुस्तक Drama in Sanskrit Literature में व्यक्त विचार :

1. Those who hold the opinion that Bhasa's Charudatta is an abridged version of Mrichhakatika maintain that Bhasa deliberately omitted the politi-

cal episode As the play does not suffer by this omission, it is implied that it must be loosely connected with the main story of among others.

2. वसन्तसेना, जीवन के आनन्द (joy of life) का प्रतीक है जो शालीनता (nobility) के प्रतीक (चारुदत्त) के साथ चिर मिलित हो गई है।

M. R. Kale द्वारा सम्पादित 'मृच्छकटिकम्' के Introduction में वर्णित विचार :

1 *We are then left with the task of finding out who this Shudraka was to whom this play is ascribed, and what may be the age in which he should be held to have flourished* (p. 18)

2. *In his anxiety to show off* Charudatta as a gallant lover, attentive to his mistress our poet has exhibited on the stage a rather improvable journey between the residences of the two lovers; this can not be said to a happy improvement. (p 38)

Dr Devasthali द्वारा अपनी पुस्तक Introduction to the Study of Mrichhakatika में वर्णित विचार :

Nilakantha and Gauri of our nandi are said to be suggestive of the hero and the heroine of our play; their union is suggested by the second half of that verse, the cloud and lightning convey the idea of the storm, and the dark and the bright complexions remind us of the similar modes of life adopted by the wicked and the good respectively. We may go a bit further and suggest that the author, *by referring to God Shiva by the names* Nilakantha and Shambhu, is perhaps suggesting that the God will ultimately suppress all evil and make all happy just as he did it for the gods by swallowing the deadly poison. (p. 45)

Dr. I. Shekhar द्वारा अपनी पुस्तक Sanskrit Drama : Its Origin and Decline में वर्णित विचार :

1 It is strange that despite being a king Shudraka shows some kind of anti-aristocratic feelings by elevating the character of all the minor actors (p 117)

2. Whatever be the date and the achievements of the play the fact remains that Shudraka could never have been a Kshatriya or a Brahman a king as depicted in the prologue of the play Instead of showing any bearings towards the Brahmanical priesthood, he supported the plebians in their upheaval and introduce a large number of characters drawn from the lower order of society, which otherwise were ignored by more famous Dramatists.

(p. 120)

3. It is intriguing that Kalidas takes no notice of him but then the Shakespeare of India is equally reticent about Asvaghosa who certainly flourished before him. Strange through it may appear, it is a hard fact that the first dramatist of Sanskrit Literature was a Buddhist and a close second hails, as far as can be seen from a non Aryan stock of which so little is known. (p. 121)

S.K. De द्वारा अपनी पुस्तक History of Sanskrit Literature में वर्णित विचार :

१. प्रस्तावना में प्रक्षिप्त कवि परिचय, परम्परा पर आधारित न होकर कपोल कल्पित है या 'विश्वसनीय' नहीं है। ऐसा मानने का कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दिखाई पड़ता। (अनुवाद) (पृ. २४० पाद टिप्पणी)

2. What is more important is that the episode is necessury to create the general atmosphere of the

lezarre society in which the whole host of rascals are capable at any moment of all kinds of acts ranging from stealing a gem casket to starting a revolution (p. 245)

एस० एम० दासगुप्त और एस० के० डे० द्वारा अपनी पुस्तक A History of Sanskrit Literature, Classical Period Volume I में वर्णित विचार .

1 Shudraka who flourished centuries before Kalidas did not feel any compunction in making the love of a courtesan the chief theme of his drama. (Introduction)

2. Indian drama as a rule does not end tragically; and to complete the effect we have often a benedictory verse to start with or a verse of adoration and a general benedictions for all in the end so that the present effect of the drama may leave a lasting impression on the mind. (Introduction)

3. The Sanskrit drama is essentially of the romantic rather than of the classical type and affords points of resemblance to the Elizabethan rather than to the Greek drama The unities of time and place are entirely disregarded between the acts as well as within the acts (Introduction)

4. *Whatever may have been the date and whoever* may have been the author, there can be no doubt that the Mrichhkatika is one of the few Sanskrit dramas in which the dramatist departs from the beaten track and attempts to envisage directly a wider fuller and deeper life (Chap Sanskrit Drama)

5 The drama is also singular in conceiving a

large number of interesting characters, drawn from all grades of society from the high souled Brahman to the sneaking thief they are presented not as types but as individuals of diversified interest and it includes, in its broad scope, farce and tragedy, satire and pathos, poetry and wisdom, kindliness and humanity (Chap. Sanskrit Drama)

R. D Karmarkar द्वारा अपनी पुस्तक Mrichhakatika : Introduction में वर्णित विचार.

All the characters, even the low ones are of the same Hindu stuff, creating the same atmosphere, though their acts are rather out of the way.

भारतीय विद्वानों के विचार

डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा अपनी पुस्तक 'संस्कृत कविदर्शन' में वर्णित विचार :

१ संस्कृत रूपकों में पात्र प्रायः प्रतिनिधि होते हैं किन्तु मृच्छकटिक के पात्र व्यक्ति (Individuals) हैं। प्रत्येक पात्र अपना निजी व्यक्तित्व लेकर सामने आता है। (पृ. २८९-९०)

१ मृच्छकटिक अपने ढंग का अकेला नाटक है, जिसमें एक साथ प्रणय-कथात्मक प्रकरण, धूर्त प्रहसन भाण तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखाई देता है। यही अकेला ऐसा नाटक है जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करता है। (पृ २७८)

श्री चन्द्रबली पाण्डेय द्वारा अपनी पुस्तक 'शूद्रक' में वर्णित विचार :

१. कवि ने सुवर्ण को उपमा और मृत्तिका को परखा तो उसका नाम चला मृच्छकटिक। सचमुच मृच्छकटिक की मिट्टी की पहचान किसको की है? है न अद्भुत यह अभिमान। मृच्छकटिक और कुछ नहीं इसी सुवर्ण की लीला है। इसी सुवर्ण को खोकर मदनिका वन्य बनती है और इसी सुवर्ण के प्रसाद में बना चारुदत्त पानी। (पृ. ९१)

२. स्मरण रहे यह वह नाटक है जो सोने पर नहीं कीच पर चलता है और इसी से अपना अलग चरित्र भी बना जाता है। (पृ ६७)

डा० रांगेय राघव द्वारा अपनी पुस्तक मृच्छकटिक अथवा मिट्टी की गाड़ी में वर्णित विचार :

१. इस नाटक का नाम मृच्छकटिक अर्थात् मिट्टी की गाड़ी है। नायक है चारुदत्त, नायिका है वसन्तसेना फिर नाम मिट्टी की गाड़ी क्यों रखा गया? पूरी कथा में मिट्टी की गाड़ी का नाम छठे अंक में आता है और गाड़ी की ही बात चलती है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। मिट्टी की गाड़ी ही कथा को बदलती है। न मिट्टी की गाड़ी की बात आती, न वसन्तसेना सुवर्णशकटिका बनवाने के लिए अपने आभूषण देती, न मौके पर न्यायालय में विदूषक की कांख में दबे गहने नीचे गिरते और न चारुदत्त का अपराध प्रमाणित होता। परन्तु यह मिट्टी की गाड़ी तो केवल चारुदत्त कथा का अंग बन सकती है फिर आर्यक कथा का इससे क्या सम्बन्ध हो सकता है?

२. देखा जाये तो सारा प्रकरण ही गाड़ियों की कहानी है। आर्यक भी गाड़ी से ही बच पाता है। मानों लेखक कहता है कि जीवन में कोई गाड़ी ठीक जगह पहुँचती है, कोई गलत जगह, सब कुछ भाग्य का खेल है। इसीलिए लेखक कहता है कि वास्तव में जीवन मिट्टी की गाड़ी में ही चलता है। इसका और कोई वाहन नहीं। आदमी सोने की गाड़ी के लिए ललचता है परन्तु खेल खिलाती है मिट्टी की गाड़ी ही। नाटक में भाग्य का हाथ रहता है और विशेष बात यह है कि पाप पुण्य का आधार मनुष्य का लोक परलोक का दृढ़ विश्वास है। उस समय वर्गों की विषमता समझने का यह भारतीय प्रयत्न था कि क्यों कोई धनी और क्यों कोई दरिद्र होता है। स्थावरक कहता है कि वह भाग्य के कारण दास है और दास वह पूर्व जन्म के पापों के कारण बना है। अच्छे कर्म करने से इस जन्म में राजा का साला संस्थानक इतनी ऊँची जगह जन्म लेता है पर वह अविचारी है। चारुदत्त परलोक से डरता है क्योंकि वह अच्छा आदमी है। वास्तव में परलोक का भय उस युग में उच्च वर्गों की निरंकुशता को रोकने के लिये था।' ' '' 'दैव ही यहाँ खेल रहा है। यह खेल गाड़ियों के बदल जाने से है। कवि स्पष्ट कहता है जब वृद्ध विट यह कहता है कि राजा के साले की जगह स्थावरक को होना चाहिये था। लेखक ने अपने युग के समाज पर तीखा प्रहार किया है। गणिका

में गुणग्राहकता के गुण हैं, न केवल वसन्तसेना में बल्कि मदनिका में भी। इसलिये नाटक का नाम बहुत उचित रखा गया है।

३.(क) यह नाटक संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। गणिका का प्रेम है। विशुद्ध प्रेम धन के लिये नहीं क्योंकि वसन्तसेना दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करती है। गणिका कलायें जानने वाली थी। ऊँचे वर्ग की वेश्यायें होती थी जिनका समाज में आदर होता था। ग्रीक लोगों में ऐसी ही 'हितायरा' हुआ करती थी।

(ख) गणिका गृहस्थी और प्रेम की अधिकारिणी बनती है, वधू बनती है और कवि उसका समाज के सामान्य पुरुष ब्राह्मण चारुदत्त से विवाह कराता है। स्वाँग नहीं रचाता। स्त्री विद्रोह के प्रति कवि की सहानुभूति है। पाँचवे अंक में ही चारुदत्त और वसन्तसेना मिल जाते हैं परन्तु लेखक का उद्देश्य पूरा नहीं होता। वह दसवें अंक तक कथा बढ़ाकर राजा की सम्मति दिलवाकर प्रेममात्र नहीं विवाह कराता है। वसन्तसेना अन्तःपुर में पहुँचना चाहती है। लेखक ने इसलिए यह तरीका अपने सामने रखा है।

(ग) इस नाटक में कचहरी में होने वाले पाप और राजकाज की पोल का बड़ा यथार्थवादी चित्रण है, जनता के विद्रोह की कथा है।

४ इस नाटक का नायक राजा नहीं है व्यापारी है जो व्यापारी वर्ग के उत्थान का प्रतीक है।

ये इसकी विशेषताएँ हैं। राजनीतिक विशेषता यह है कि इसमें शासक राजा बुरा बताया गया है। गोपपुत्र आर्यक एक ग्वाला है जिसे कवि राजा बनाता है। यद्यपि कवि वर्णाश्रम को मानता है, पर वह गोप को ही राजा बनाता है। (भूमिका)

आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में वर्णित विचार :

१. शूद्रक नाम का राजा संस्कृत साहित्य में बहुत लोकप्रिय है उन्होंने मृच्छकटिक की रचना की। 'शूद्रकोऽग्निमविष्टः' स्वयं लेखक की लेखनी इस भूतकाल का प्रयोग कैसे कर सकती है। (पृ० ५४०)

२. जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रख्यात हैं उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी है। (पृ० ५४०)

३. विक्रमादित्य के समान ही शूद्रक भी ऐतिहासिकता से हटकर कल्पना जगत् के पात्र माने जाने लगे और जिस प्रकार ऐतिहासिक शोध प्रथम शतक में विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में संदेहशील थे उसी प्रकार शूद्रक की भी दशा थी। आधुनिक शोध से दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध होते हैं। ऐसी दशा में शूद्रक को मृच्छकटिक का रचयिता न मानने वाले डा० विण्टरनित्स तथा कीथ का मत स्वयं ध्वस्त हो जाता है। (पृ० ५४१)

४ इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक, दण्डी (सप्तम शतक) तथा मिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पंचमशतक में मानना उचित है। (पृ० ५४१)

५ नगर की रक्षा करने वाले पुरुष वहाँ अवश्य विद्यमान थे परन्तु शत्रु मित्र की परख करने में बड़ी ढिलाई की जाती थी। राजा इस कुप्रबन्ध के कारण ही बड़ों में सिंहासन उलट जाता था और दूसरा राजा बन बैठता था। नाटक में प्रदर्शित राज्य परिवर्तन का रहस्य इसी दुर्बल राज्य शक्ति के बाहर छिपा हुआ है। (पृ० ५४८)

६ इनके पात्र दिन प्रतिदिन हमारे घरों और गलियों में चलने फिरने वाले एकमात्र से निर्मित पात्र हैं जिनके काम को आँकने के लिए न तो कल्पना को दौड़ाना पड़ता है और न इनके भावों को समझने के लिए मन की दौड़ की जरूरत होती है" " वातावरण तथा वातावरण की इस यथार्थवादिता और वैज्ञानिकता के कारण ही मृच्छकटिक पाश्चात्य आलोचकों की विपुलप्रशंसा का भाजन बना। (पृ० ५५१)

७ डा० कीथ भले ही इन्हें पूरे भारतीय होने की राय दें परन्तु पात्रों के चरित्र में कुछ ऐसा जादू है कि यह दर्शकों के सिर पर चढ़कर बोलता है। तात्पर्य यह है कि शूद्रक के मध्यम तथा अधम श्रेणी के रोचक पात्र हैं जिनका इतना सुन्दर चित्रण संस्कृत के रूपकों में फिर नहीं हो सका। शूद्रक की नाट्य-कला वस्तुतः सराहनीय तथा स्पृहणीय है। (पृ० ५५२)

सन्दर्भ ग्रन्थ

संस्कृत

मृच्छकटिक	अनु० श्री महाप्रभुलाल गोस्वामी एवं श्री रमाकान्त त्रिवेदी, चौखम्बा, वाराणसी।
मृच्छकटिक	अनु० डा० श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ
मृच्छकटिक	अनु० श्री प० ब्रह्मानन्द शुक्ल, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, वाराणसी
चतुर्भाणी	सम्पादित, मद्रास १९२२, बम्बई १९४९
कथासरित्सागर	सोमदेव भट्ट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
अभिज्ञानशाकुन्तल	महाकवि कालिदास
मनुस्मृति	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई १९१३
याज्ञवल्क्य स्मृति	श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
नाट्यशास्त्र	श्री भरत मुनि, चौखम्बा, वाराणसी
नाट्यदर्पण	श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र
साहित्यदर्पण	श्री विश्वनाथ (व्याख्याकार, डा० सत्यव्रत)
अग्निपुराण	श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास, चौखम्बा वाराणसी
काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट
दशरूपक	श्री धनञ्जय (व्याख्याकार डा० गोविन्द त्रिगुणायत)
दशरूपक	श्री धनञ्जय (व्याख्याकार डा० भोलाशंकर व्यास)
दशरूपक	श्री धनञ्जय (व्याख्याकार हजारीप्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ)
ध्वन्यालोक	श्री आनन्दवर्धनाचार्य : व्याख्याकार डा० रामसागर त्रिपाठी

अंग्रेजी

Mrichhakatika	Nirnaya Sagar edition with the commentry of Prathvi-dhara.
Mrichhakatika	Dr V. G Paranjpe
Mrichhakatika	R. D. Karmarkar

Preface to Mrichhakatika Dr. G. K. Bhat

शुद्धिपत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	११	समीर	अमीर
११	२	रामिक	रैखिक
१४	२१	प्रकार— भरवाया है	वाक्य निरस्त समझें
१७	२५	पुषा	धूता
२१	९	सवत्तम्	सभृतम्
"	पादटिप्पणी	रिक्त	१. C.R. Devadhar, Charudatta, Introduction, p. 61
३१	पादटिप्पणी	१. C.R. Devadhar Charudatta, Introduction, p 61	१. डा० सुशील कुमार दे हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर, पृ० २१९
"	"	२. मनुस्मृति	२. मनुस्मृति १, ११
२४	७	मुपुर	नूपुर
२५	पादटिप्पणी	१. लिटरेचर पृ० ४८	१. हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर पृ० २४८
२९	२१	पाणव कृत्य	—गई है। चौथे अङ्क के कार्य के लिये दो तीन घटे का समय आवश्यक अपेक्षित है और थोड़ा—
६१	२१	इत्यादि	इत्यादि
७०	पादटिप्पणी	वशिष्ठ	लिखित
७८	८	गस्कृत	संस्कृत
१११	२१	वस्तुपूर्वक— अभिव्यक्ति है। मनोवैचित्र	वाक्य निरस्त समझें

१२८	९	पादटिप्पणी बन्द छूटा	Preface to Mrichhakatika
१२९	१.	पादटिप्पणी नारम्भ	तम
११६	५	समहित	समीहित
„	८	स्वामाभिमान	स्वाभिमान
११८	९	पुत्रपीत्रे.	पुत्रपौत्रै.
१४४	४	मुचिमेति	मुचमेति
„	२५	कृपण	रङ्क
१५६	२१	हो पयी	हो गया
२०८	१०	सञ्चारित	सञ्चरिता
२२६	२१	पत्रच्छेद्यम	पत्रच्छेद्य
२३५	१२	नयम्	नयम्
२६६	२४	मैत्र्यतम्	मैत्र्यतम्
३०२	२६	मृच्छकटिक रचना है	नाम्न निरस्त करने